भारत के महान साधक

प्रमथनाथ



भारत के
महान साधक

भारत के महान साधक

नवम खंड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य

नव भारत प्रकाशन

द्वितीय प्रकाशन

चैत्र १९८९

अनुवादक : श्री विश्वमोहन प्रसाद सिन्हा
डॉ० रमाकान्त पाठक
श्री जगदीश्वर प्रसाद सिंह
डॉ० भारती श्रीवास्तव

प्रकाशक : निर्भय राघव मिश्र
नव भारत प्रकाशन
लहेरियासराय
दरभंगा (बिहार)

मुद्रक : सत्या प्रिन्टर्स
नया टोला, पटना-४

प्रच्छदपट : श्री सुप्रकाश सेन

मूल्य : पैंतीस रुपये

जिनकी महती कृपा से
'भारत के महान साधक'
का प्रकाशन
संभव हो
सका
उन्हीं महापुरुष
श्री कालीपद गुहराय के कर-कमलों में
प्रकाशक द्वारा समर्पित

भूमिका

भारत के महान साधक नामक ग्रन्थ का यह नवाँ खंड है। मूल बंगला पुस्तक के प्रमुख संकलन कर्त्ता तो स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य थे परन्तु श्री रामनन्दन मिश्र और उनके आध्यात्मिक साथी इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद कर देश में इसे प्रचारित कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ में छह प्रख्यात साधकों के जीवन वृत्त केवल घटनाओं की शृंखला तथा उनके विचारों की छाया में ही नहीं प्रस्तुत किए गए हैं, वल्कि इस वृत्त लेखन में कथात्मकता के साथ कथाकारिता का भी यथेष्ट निर्वाह हुआ है और इसी कारण यह पुस्तक केवल इतिवृतात्मक न रहकर एक साहित्यिक कृति बन गई है। लेखक ने जिस आध्यात्मिक संवेदना से प्रेरित होकर विशेष रूप से संत ज्ञानेश्वर, गुरु नानक देव और स्वामी विवेकानन्द के पटल चित्र रेखांकित किए हैं और इन महान् साधकों अथवा संतों के प्रति जिस श्रद्धास्पदता का समावेश इनमें उपलब्ध है वह आधुनिक बुद्धिपरक तार्किक लेखकों की दृष्टि और उनके चिंतन-क्षेत्र के बाहर की बात है। लेखक ने देश भर के महान संतों के जीवन वृत्त अलौकिक आध्यात्मिक प्रकाश में प्रस्तुत करके अपना ही उद्धार करना नहीं चाहा वल्कि इसके द्वारा सभी जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं का उसी रूप में प्रत्यक्षतः भला करना चाहा है। भगवान् के लिए कहा हुआ है कि वह भक्त के वश में होता है अर्थात् जैसा भक्त चाहता है भगवान् वेसा ही करता है। भक्तों अथवा संतों के साथ समागम अथवा सत्संग का इसीलिए बड़ा महत्व कहा गया है। "संत समागम हरिकथा तुलसी दुर्लभ दोय" और 'सात स्वर्ग

अपवर्ग सुख मिलकर भी सत्संग के सुख के बराबर नहीं बैठते', जैसे आप्त वचनों में संतों के साथ सत्संग का जो माहात्म्य वर्णित है वह संतों के साथ समागम अथवा उनके चरित श्रवण एवं मनन के द्वारा ही साध्य है। इसी दृष्टि से भक्तिरसपूर्ण इन वृत्तांतों में तुलसी सम्मत दुर्लभ सत्संग का सुख निहित है तथा श्रद्धालु पाठक के लिए सुलभ है।

संत अथवा साधक स्थितप्रज्ञ होते हैं, उनके विचार स्थिर होते और वे आनन्द की चरमावस्था को प्राप्त होते हैं। संत के रूप में भगवान् की करुणा ही अवतरित होती है। इसी के माध्यम से वे भ्रमित और दिग्भ्रष्ट मनुष्यों का मार्गदर्शन करते और उनको ऊर्ध्वमुख करके देवत्व की ओर ले जाते हैं। साधक हठ और राग-द्वेष से परे, मानवता के बीच की खाई को पाटने के लिए सेतु का काम करते हैं। साधक में दैवी चेतना जाग्रत होती है। शांति, संघर्ष, प्रयत्न, नियम, संयम और सत्कर्म इस स्थिति तक पहुँचने में सहायक होते हैं। संत को इस मोह पर विजय प्राप्त करनी होती है कि उसका अपना मार्ग ही सर्वोत्तम है और उसकी उपलब्धियाँ ही प्रामाणिक और सत्य हैं, अथवा उसकी जाति ही परमात्मा की विशेष कृपा की पात्र है, बाकी सभी अंधकार में हैं। इस पुस्तक में दी गयी गुरु नानक और स्वामी विवेकानंद तथा अन्य महापुरुषों की चरितकथायें इसके प्रमाण हैं। यह निर्विवाद है कि धार्मिक शिक्षण साधकों की वाणियों पर कम वल्कि उनके चरित्र पर अधिक आधारित होते हैं।

और किसी देश के विषय में चाहे सही न हो परन्तु भारत के विषय में यह अक्षरशः सही है कि इसकी अस्मिता मूलतः ऋषि मुनियों और संतों द्वारा निर्मित एवं प्रेरित है। जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं वह एक मात्र धर्म है जो कदाचित् सृष्टि के आदि से अब तक अक्षुण्ण चला आ रहा है जबकि इस बीच विश्व की न जाने कितनी संस्कृतियाँ और न जाने कितने धार्मिक सम्प्रदाय काल के गर्त विलीन में हो गए।

चिरन्तन सत्य के महान पथिक

कहते हैं, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, मानव का निर्माण कर प्रमुदित हुए। उन्होंने कहा सृष्टि, रचना का महान लक्ष्य पूरा हुआ, अब हमने जिसे बनाया है वह सृष्टिकर्ता की भी खोज कर सकेगा। तबसे मानव सृष्टि-कर्ता का स्पर्श पाने के लिए प्रेम विह्वल हो अपना सब कुछ दाव पर लगा उसे बार-बार पाता और खोता रहा है। कभी भी उसने उसे पूर्णत: पाया नहीं और कभी भी उसमें आत्मसात हो जाने की आकांक्षा छोड़ी नहीं। 'मिलन' की यादगार वह कभी भूल नहीं पाया इसलिए विरह और मिलन का वह चिरन्तन यात्री बना रहा। ऐसे महान यात्री अपने पीछे ज्योति स्तम्भ छोड़ गए हैं जिनके प्रकाश में अध्यात्म के महान पथिकों के पदचिह्न उसे चलने की प्रेरणा और पथ निर्देश करते रहते हैं।

इस मिलन की चिरन्तन प्यास ने मानव को रेगिस्तान और पहाड़ की कन्दराओं में भटकाया है। परन्तु महान से भी महान कष्ट या व्यथा इन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकी। एक बार चल पड़ने वाले अनन्त के यात्री पीछे मुड़कर देखा नहीं। अपने प्रियतम की खोज की यात्रा का रस ही उसके जीवन का सम्बल रहा। मंजिल जितना दूर रहा उसे उतना ही ज्यादा रस मिलता रहा।

अध्यात्म-पथ के इन महान विभूतियों के जीवन हमें उस पथ पर चलने की बराबर प्रेरणा देते रहें यही महान साधकों की जीवनियों का लक्ष्य है। छिछले भोग में डूबा, यश और शक्ति पाने के लोभ में पड़ कर मानव इन महान सत्यान्वेषियों के दिखाए पथ को अनदेखा कर अपने और समाज को दुःख के सागर में डुबोता रहा है।

ओ शक्ति पिपासु मानव,
शक्ति-शिखर-अवरोहण की
मृगतृष्णा में
तू भूल न जाना,
पथ पर, मेरे
प्रेम-सने मधु चिह्न
अभी भी जड़े हुए हैं।
लुप्त नहीं वे
चिर-दिन होंगे।
मात्र ढके वे
काल-पत्र से,
झटिति अनावृत होंगे
जिस क्षण,
स्नेह-विकल ढूँढ़ोगे,
पाथेय प्रेम का जीवन में।

जीवन जीने की कला का आधार है, एक हाथ से भगवान को और दूसरे हाथ से संसार और परिवार को पकड़े हुए, जीवन की मिठास और कड़वेपन को समान भाव से देखते हुए आगे बढ़ते रहना। जो कुछ एक व्यक्ति ने संसार से पाया है उससे ज्यादा समाज को दे जाना सज्जनता है और अपना सब कुछ विश्वात्मन् के चरणों पर अर्पण करते जाना महानता का शिखर है।

अध्यात्म को छोड़ कर समाज रचना के सभी महान प्रयत्न विफल होते रहे हैं। आज सर्वनाश के कगार पर खड़े हो अध्यात्म और आध्यात्मिक महापुरुषों की जीवनियाँ हमें नई प्रेरणा दे जिसके आधार पर मानव कलियुग की सड़ाँध से सतयुग के शिखर पर छलांग मार कर जगन्नियन्ता के सहारे नवयुग का निर्माण कर सके।

इसी आशा से यह ग्रन्थ पाठकों को समर्पित है।

होलिकोत्सव
१९८७

विनीत
रामनन्दन

इसका प्रमुख कारण है कि सनातन धर्म किसी एक व्यक्ति अथवा ग्रन्थ का मुखापेक्षी नहीं है जिसके साथ सदा ही यह खतरा जुड़ा रहता है कि समय द्वारा करवटें बदलते रहने के साथ वह ग्रन्थ अथवा व्यक्ति किसी न किसी अवस्था में आकर स्थिर, जड़ तथा जीवतंता विहीन हो जाता है और तब वह परिवर्तनशील प्रकृति वाले प्राणी मानव का मार्ग-दर्शन करने की बजाय उसके पावों में एक अवहनीय पत्थर बनकर बंध जाता तथा बौद्धिक चेतना में दीवार बनकर खड़ा हो जाता है। यास्क के "सनातनो नित्य नूतनः" के महान् आधार को काल के प्रवाह में भारतीयों ने कभी छोड़ा नहीं। भारत की आध्यात्मिक मनीषा इस रूप में समाज की करवटों के साथ स्वयं करवटें बदलते हुए जीवंत, गतिशील तथा सप्राण बनी रही और जनसमूह का मार्गदर्शन करती तथा उसे अनुप्राणित करती रही। हमारी नैतिकता तथा हमारे मूल्य समय के साथ पुनरूपायित एवं पुनर्व्याख्यायित होते रहे और इसी कारण हर परिस्थिति तथा हर मोड़ पर सामान्य जीवन के लिए प्रासंगिक बने रहे।

इस रूप में हमारी धर्मप्राणता कालातीत एवं शाश्वत है। यह सब हमारे इन्हीं महान् साधकों के पुण्य सृजन तथा विचार दोहन की शिवपरिणति है। कौन नहीं मानेगा कि आधुनिक भारत की चिंताधारा अथवा धर्मप्राणता महर्षि दयानंद, अरविन्द, गाँधी तथा विवेकानन्द का समवेत समायोजन है ? क्यों रवीन्द्रनाथ ठाकुर को कहना पड़ा कि यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो विवेकानन्द को पढ़िए, उनमें सब कुछ सकारात्मक है नकारात्मक कुछ भी नहीं है। क्यों न ठाकुर ने उपनिषद, भगवद् गीता अथवा ब्रह्मसूत्र का नाम लिया ! कारण तो यही है कि हमारे साधक इन आर्ष ग्रन्थों में दिए तत्वों को समय-समय पर परिस्थितियों के अनुरूप ढालते आये हैं। विवेकानन्द के पूर्व हर युग में ऐसे संत अथवा साधक होते रहे जिनको उस समय यह दर्जा प्राप्त था।

आज इस युग में जब महाभारत-काल जैसी ही दुर्नीति और अनाचारिता व्याप्त है और हमारे मूल्य विकृत हो रहे हैं और हम फिर एक महान् पुनर्जागरण की प्रतीक्षा कर रहे हैं जिसके लिए न केवल पृष्ठभूमि बन चुकी है बल्कि जिसका प्रारम्भ तथा मार्गसंकेत हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के साथ ही हो चुका है, हमारे लिए आवश्यक है कि अरविंद, गाँधी, दयानन्द तथा विवेकानन्द वाली डोर पकड़े रहें और उसी मार्ग पर आगे बढ़ते रहें। यह अवश्य है कि पाश्चात्य भौतिकवाद की चकाचौंध से पिछले सत्तर-अस्सी वर्षों से कुछ लोग चकित तथा भ्रमित भी हैं पर वह भ्रम ऐसा नहीं है कि हमको हमारा मार्ग न दिखता हो अथवा वह दृष्टि-ओझल हो गया हो। केवल आवश्यकता है कुछ संगठित रूप में मनुष्य में संस्कार प्रतिष्ठा की तथा शिक्षा प्रणाली में भारतीय चिंतन के समावेश की। यह कार्य एक आंदोलन के रूप में आगे बढ़ते रहना चाहिए। समय की इस अपेक्षा के लिए प्रवर्तन शक्ति इन्हीं साधकों से तथा इसी प्रकार के ग्रन्थों से प्राप्त होगी। इस रूप में ऐसे प्रकाशनों का हम स्वागत करते हैं।

मानसोवर,
३ न्याय मार्ग, चाणक्यपुरी,
नयी दिल्ली-११००२१

कर्ण सिंह

प्रकाशकीय

'भारत के महान साधक' के नवम खंड को प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

'भारत के महान साधक' के मूल लेखक स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य लेखक, साधक तथा अन्वेषक तीनों एक साथ थे। इन्होंने लगातार १५ वर्षों का बहुमूल्य समय महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगाया।

बंगला भाषा में इस ग्रन्थ का अपूर्व स्वागत हुआ है। यह पुस्तक इस काल की एक महान् कृति मानी जाने लगी है। बंगला भाषा में इस ग्रन्थ के लेखक स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य अपने उपनाम शंकरनाथ राय के नाम से विख्यात हैं।

सारे देश के सब क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी संभव नहीं होता। उनका नाम गिनाकर—दो-चार पंक्तियों में उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस अवसर पर उन महानुभावों के प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

हम इस ग्रन्थ के अनुवादकों के प्रति भी कृतज्ञ हैं।

हिन्दी के विज्ञ, सत्यान्वेषी एवं धर्मानुरागी पाठकों के समक्ष यह ग्रन्थ उपस्थित है। इसकी महत्ता और उपयोगिता का निर्णय उन्हें ही करना है।

लहेरियासराय
१९८९

निर्भय राघव मिश्र
प्रकाशक

सूची पत्र

श्री नानक देव	१
श्री चैतन्यदास बाबाजी	५७
स्वामी विवेकानन्द	६७
शैवाचार्यं अप्पर	१३९
श्री ज्ञानदेव	१५७
मातृ साधक रामप्रसाद	१८९



श्री नानकदेव

गुरु नानकदेव

नानक की अबूझ हरकतों के मारे कालू बेदी नाकों दम हो रहे हैं। पूरे खान्दान में एक मात्र पुत्र-सन्तान, सब की उम्मीदों का एक मात्र सहारा और उसका यह हाल ! न उसका मन पढ़ाई-लिखाई में लगता है, न घर के धन्धों में। जमीन-जायदाद भी तो है ही। मगर उसकी देख-भाल सदा दूसरा कौन करता रहेगा ? जमीन-जायदाद भी तो अपने-आप में एक अलग जंजाल ही हैं। उसी के चलते जमींदार, सिरिश्तेदार, हिसाबनबीश आदि अनेक लोगों की खुशामद करनी पड़ती है। मगर नानक से यह सब हो पायगा ? कालू बेदी को दिन-रात नानक की ही चिन्ता लगी रहती है।

यह इलाका एक मुसलमान जमींदार के मातहत है। जमींदार को हिंदू प्रजा 'राय बुलाड़' के नाम से जानती है। उन्हें कालू के प्रति स्नेह है। धर्म-परायण हैं जमींदार साहब। उनकी कृपादृष्टि का ही नतीजा है कि कालू की गिनती खुशहालों में है। गाँव के लोग कालू को आदर-सत्कार की दृष्टि से देखते हैं। मगर मुख्य बात तो है अपनी ही मेंहनत। कठोर परिश्रम के बिना सांसारिक अवस्था को सँभाला नहीं जा सकता। नानक सुधर जाय, तो सब कुछ ठीक ही है, अन्यथा बना-बनाया सब कुछ चौपट हो जायगा।

छोकड़े को गाँव की पाठशाला में भी तो भेजा ही था। मगर कोई फल मिला ? एक मुहूर्त्त के लिए भी पोथी के साथ टिक कर बैठ पाना उसके लिए वहाँ कभी संभव नहीं हुआ। पता नहीं, कहाँ, जंगल, वीरान में दिन भर भटकता फिरता है। हाँ, निर्जन एकान्त मिल जाय, तो खाना-पीना भूलकर, दिन-रात एक ही जगह, बैठा रह जायगा। अजीब है, उसकी सनक !

पढ़ानेवाले पंडित को ही पढ़ाने लगता है, नानक। उन्होंने पाठ दिया, तो उल्टे वही पूछ बैठा था—"यह अनाप-सनाप पढ़कर क्या होगा, पंडित जी ? इतनी देर परमेश्वर का नाम लेता, तो कहीं अच्छा था। इस दुनिया से तो एक दिन जाना ही है। फिर यह झूठ-मूठ की मगज–पच्ची सिर पर क्यों डालते जा रहे हैं ?"

पंडित जी को काटो, तो खून नहीं ! नन्हा-सा लड़का और बड़बोलेपन में

सयानों को मात करता है ! कालू की देह में आग लग जाती है, उसकी ऐसी-ऐसी हरकतों का ब्यौरा सुन-सुनकर। घर लौटने पर कालू ने बेटे से पूछा था—"क्यों रे. अभी तो तू संसार में पैदा ही हुआ है; संसार को भली तरह से जानता-पहचानता भी नहीं है, तू। मगर अभी से संसार से त्राण पाने की धुन तुझे सताने लगी है ? किससे यह बड़बोलापन सीख आया है, बेटे ? यह तो अच्छी बात नहीं है।"

उस साल अच्छी फसल आई थी। कालू बेदी ने बेटे का उपनयन खूब समारोह के साथ किया। पूरे गाँव के लोगों को निमन्त्रित किया गया था। भोज में आकण्ठ भोजन करनेवालों से कालू बेदी को प्रचुर यश भी मिला। परन्तु ऐन उपनयन-संस्कार के ही अवसर पर लड़के ने पूरोहित से कैसा बेतुका सवाल पूछ दिया था ? पूछा था—"पंडितजी, ऐसे शास्त्रीय अनुष्ठानों से लाभ क्या ? यह यज्ञ-सूत्र पहनाकर नश्वर शरीर को अमर तो नहीं बनाया जा सकता ? इस सूत की माला से प्रभु के नाम की माला कहीं ज्यादा भली है। कल्याण की शक्ति तो उसी में है।"

बेटे की इन बेतुकी बातों से कालू बेदी को बहुत कष्ट पहुँचा था और वे उपनयन–मंडप से उठकर बाहर चले आये थे।

नानक की माँ गाँव-घर में 'तृप्ता' के नाम से प्रसिद्ध हैं। अपने इकलौते बेटे के योगक्षेम के प्रति उनकी उत्कण्ठा की तो कोई सीमा हीं नहीं है। तनिक मौका मिल जाने पर भी वे नानक को अपने पास उठा ले जाती है और बड़े प्यार से मनुहार करने लगती हैं—"मन लगाकर पढ़ना-लिखना चाहिए, बेटे ! बड़े-बूढ़ों की बात काटकर बड़बोला बनना कोई अच्छी बात नहीं। जैसे सबलोग करते-बोलते हैं, उससे अलग व्यवहार लोगों को खलता है ना ? देखते हो अपने पिताजी को ? बूढ़े होने के बावजूद किस तरह दिन भर खटते रहते हैं। यदि तुम अकल की बात सीखकर अब भी, कुछ करते–धरते नहीं, तो घर गिरस्ती चौपट हो जायगी ना ?"

किन्तु बाप की डाँट की तरह माँ के प्यार का भी, नानक पर कोई वश नहीं चल पाता। विरागी बालक की धीर आँखें किसी अज्ञात लोक की याद में अधमुँदी रहा करती हैं। कही-सुनी बातों का उस पर कोई असर नहीं हो पाता। अपनी धुन में मस्त होकर वह दिन-रात वीरान प्रान्तर में, पता नहीं, क्या खोजता रहता है। हमेशा कुछ गुनगुनाते रहना उसका स्वभाव बन गया है। कोई-न-कोई भजन और गान वह जब-तब खुद भी रचना रहता है।

क्या यह लड़का जिम्मेदारी का कोई बोझ कभी उठा नहीं सकेगा ? कालू बेदी की खीझ तो अब अपनी सीमा पर करती जा रही है। अभागे की अक्ल ठिकाने

पर लगानी ही होगी। अब इसे इसकी मर्जी पर छोड़ा नहीं जा सकता। दूध-पीता बच्चा तो नहीं हैं, यह। जोर-जबर्दश्ती और डाँट–मार के बिना, यह अपनी मर्जी से कोई कामधाम नहीं करना चाहता। तो इसका इलाज भी हो ही जाना चाहिए। अन्ततः बेटे को बाप की कड़ी हिरासत में रखना निश्चित हो गया।

कालू बेदी को पता है कि इलाके के जमींदार राय बुलाड़ उसके इकलौते की बहुत चाहते हैं। किसी शुभ मुहूर्त्त में भेंट हो गई होगी। नानक की अधमुँदी आँखों की भोली निर्दोषता, उसके बड़बोलेपन पर पर्दा डाल देती है। देखने में तो वह मासूम है ही। उसे देखकर कोई थोड़े ही समझ पायगा कि वह बड़े,बूढ़ों को पहाड़-जैसी बातों से पस्त किये रहता होगा। इसी चकमे में राय बुलाड़ भी पड़ गये होंगे। एक दिन खुद कह रहे थे—"कालूजी" तुम्हारा बेटा बड़ा होनहार है। देखते हो उसकी भावाकुल आँखों को? अल्लाह की बड़ी मेहरवानी है, उस पर। वन की चिड़िया की तरह, वह अपने गीतों से पूरे आसमान को गुदगुदाने के लिए पैदा हुआ है। इस आजाद पखेरू को घर का पींजड़ा रास नहीं आ रहा है—यह तो साफ ही है।" राय बुलाड़ ने नानक के द्वारा रचित भजनों में से कुछ को कहीं देखा,सुना था। तभी से वे चकित और अभिभूत रहते हैं।

राय बुलाड़ को जिस दिन पता लगा कि नानक को बाप की हिरासत में रख कर उसके भ्रमण और भजन पर पावन्दी लगा दी गई है और उसे घर के धन्धे में जबरन जोतने की योजना जारी कर दी गई है, उसी दिन सिरिस्तेदारी के हिसाब-नवीश ने कालू बेदी को जमींदार साहब के बुलावे की बात, खुद आकर बता दी।

जमींदार साहब ने भरे गले से कहा: "कालू, यह क्या सुना है मैंने? क्या नानक,सरीखे मासूम बच्चे को डंडे से पीटना समझदारी की बात हो सकती है! अचानक कैसी सनक सवार हो गई है, तुम पर!"

"अब सहा नहीं जाता है, हुजूर! ऐसा निकम्मा लड़का आगे चलकर क्या करेगा? उस छोकड़े ने मुझे मुसीबत में डाल दिया है। न पढ़ता,लिखता है और न ही घर का कोई काम,धन्धा करता है। भर दिन जंगल वियावान में भटकता रहता है और जोड़तोड़ के गीत गुनगुनाता फिरता है। खाने पीने की भी सुध,बुध नहीं रहती। उसे छोड़ दूँ, तो आगे चलकर वह किसी काम के लायक हो नही सकेगा।"

"सुनो कालू, तुम भयंकर भूल करने का रहे हो। तुम्हारा लड़का और लड़कों की तरह, निरा लड़का नहीं है। उसके चेहरे से ही जाहिर है कि वह अल्लाह का खास बन्दा है। लगता है कि आध्यात्मिक संस्सार को लेकर ही पैंदा हुआ है। उसे लीक में जोतने की कोशिशों को कभी कामयाबी नहीं मिलेगी।"

"हुजूर, मैं यह सब तो नहीं जानता। उसकी चाल-ढाल से मेरा माथा ठनका, तो उसे रास्ते पर लाने के लिए निगरानी वैठाने की बात जँच गई। मुझे तो लगता है कि छोकड़े की दिमाग में ही कोई गड़बड़ी है। कुछ किये नहीं बनता। खुला छोड़ दूँ, तो पता नहीं, कभी गायब ही हो जाय।"

"अरे, नहीं-नहीं वह लड़का अद्‌भुत है। उसके भजनों और उसकी बातों पर मैंने वार-वार विचार किया है। मुझे तो वह होनहार जान पड़ता है। मुझे कोई शक नहीं, कि आगे चलकर वह तुम्हारे खान्दान को ही नहीं, पंजाब की धरती को भी नई शुहरत और अनूठी रोशनी से रौशन करेगा। देखो, मैं भिन्न–धर्मी मुसलमान हूँ। मगर उस हिंदू बालक के भजन मैं भी सुनता हूँ, तो मेरे दिल को रोशनी मिलती है। मेरी आँखे मुझे धोखा नहीं दे सकती। यदि तुम उसे बावला समझते हो, तो यह भी जान लो कि उसका बावलापन भगवान् के प्रति प्रेम का वावलापन है; निरा पागलपन नहीं। वैसा बावलापन बड़े भाग्य से नसीब होता है, लाखों में किसी एक खुशकिस्मत को। यही बावलापन एक दिन पूरे देश में स्मरणीय वना देगा।"

कालू बेदी को कुछ कहते नहीं बना। उन्होंने तय कर लिया कि जो होना हो, अब होता रहे पर वह नानक पर जोर जबर्दस्ती नहीं करेगा।

राय बुलाड़ की वह भविष्यवाणी आगे चलकर सत्य प्रमाणित हुई। नानक भारत के लोक गुरु महापुरुष के रूप में, कुछ वर्ष बाद विश्रुत हो उठे।

लाहौर से कोई ३० मील दूर, गुजरानवाला जिले में उस समय एक पुराना गाँव तालवंडी के नाम से प्रसिद्ध था। * हरियालियों से चारों तरफ घिरे उस गाँव की छटा, पंजाब में स्वभावतः अनूठी मानी जाती थी। हाँ वैसाख के मरु रौद्र उत्ताप की लपलपाती हवा के झोंके उस अरण्य श्यामल भूमि को भी बुरी तरह झुलसा दिया करते थे। उस अवधि में कभी–कभी बालू के बवंडर भी आ

* तालवंडी को बाद में 'ननकाना' के नाम से सिखों के द्वारा पुकार जाने लगा। सिखों के राजनीतिक अभ्युदय के युग में गुरु नानक देव की स्मृति में वहाँ एक सुरम्य मंदिर का भी निर्माण किया गया था। उस मंदिर में सिखों के धर्म-ग्रन्थ—गुरु ग्रन्थ साहब—की स्थापना के कारण, ग्रन्थ-पाठ और भजन उत्सव का वातावरण पूरे अंचल को हिल्लोलित करता रहता था। भारत-विभाजन के पश्चात् गुरु नानक देव की पवित्र जन्म भूमि का वह भूभाग पाकिस्तान में पड़ गया। फिर जब सिख तीर्थ-यात्रियों के उस तीर्थ-स्थान की महिमा पर पाकिस्तान की सरकार ने अंकुश लगा दिया, तो प्राचीन वातावरण के ऊल्लास का मंद पड़ जाना भी स्वाभाविक हो गया।

जाते और उजले धुंध के आवरण में पूरे अंचल को छिपा देते। मगर ग्रीष्म के गुजर जाने के बाद हरियाली का वही तरल नयन-मोहन माधुर्य फिर उफनाने लगता और हरिणों और खरगोशों की चौकड़ियों से तथा अनगिनत तोतों और तीतरों के डैनों की फरफराहट से जिन्दगी की मासूम खुशियाली नये उत्साह के साथ फिर इठलाने लग जाती।

प्रकृति की कठोरता और कोमलता की इसी संधि-भूमि के तालवंडी ग्राम में आविर्भूत हुए थे पंजाब के आध्यात्मिक महापुरुष गुरु नानक देव। १४६९ ई० के वैसाख मास में सिखों के आदि गुरु का वह आविर्भाव, कालान्तर में, पूरे देश के लिए एक दैवी आश्वासन सिद्ध हुआ।

वह मुसलमानी शासन का पूर्व-मध्यकाल था। दिल्ली के तख्त पर सुल्तान बहलोल लोदी आसीन थे। मध्यकाल की जड़ता ने प्रतिहत जातीय जीवन को अपमान, पीड़न और पराजय के नीचे मूर्छित कर रखा था। भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेशों की स्थिति और भी दारुण थी। धर्मान्धता के राजकीय पागलपन का नग्न नृत्य वहाँ अपने उलंग रूप में चल रहा था। जन-साधारण की स्थिति नितान्त दयनीय थी। इस दारुण नैराश्य का चित्र उपस्थित करते हुए गुरु नानक देव ने स्वयं बताया है :

"पूरा माहौल ही बन गया है पिजाया हुआ तेज छुरा,
कसाईयों की हुकूमत जो कायम हो गई है !
इन्साफ और नैतिकता का तो नाम भी मत लो !
झूठ का पर्दा कितना अनेद्य बन गया ?
मैं तो ढूँढ़-ढूँढ़ कर थक गया।
इस अँधियाली में चाँद को देख पाना संभव नहीं !
रो-रो कर मर जाये कोई, आहत स्वाभिमान के बोझ के नीचे,
है, कोई चुपानेवाला ? उद्धार का पथ बताने वाला कहाँ है ?"

आचार्य रामानंद और कबीर की वाणी उस अँधियाली में प्रकाश का संदेश घर-घर पहुँचा चुकी थी। उद्धार का नया प्रकाश फैलाने की बारी अब पंजाब की थी। गुरु नानक देव के द्वारा वही काम पूरा होनेवाला था।

गुरु नानक देव के जीवन-काल में लोदी खान्दान के मुसलमानी शासन की बुराइयाँ पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थीं। मगर तालवंडी के पास-पड़ोस के गाँवों की प्रजा को उसका दारुण अनुभव अपेक्षाकृत कम था। इसका श्रेय स्थानीय

मुसलमान जमींदार राय बुलाड़ को दिया जाना उचित ही था राय बुलाड़ के पूर्वज हिंदू थे। जिन राजपूत राजाओं ने राजपाट बचाने की गरज से मुसलमान बन जाने की चतुराई दिखाई थी, 'राय भोइ' भी उन्हीं में से एक थे। एक दिन चटपट कालमा पढ़कर वे मुसलमान बन गये। तब तक उनके पुत्र राय बुलाड़ पैदा भी न हुए थे।

जीवन के उत्तर-काल में धर्मान्तरित होने के कारण 'राय भोइ' हिन्दू-संस्कारों से कभी पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हो पाये। राजपाट बचाने की हिकमत के तौर पर उन्होंने, विवशता की स्थिति में, इस्लाम को कबूल किया था। मगर हिंदू प्रजा के प्रति अत्याचार करने का नया उत्साह वे कभी जुटा नहीं पाये। उनके घर के और आधिपत्य क्षेत्र के जो पुराने नौकर-चाकर थे, उनमें ज्यादा तायदाद हिंदुओं की ही थी। उन्हें उन्होंने अपनी पुरानी जगहों पर बरकरार रहने दिया। मुसलमान अमीर-उमरों में बहुत थोड़े से ही लोग उनसे निकट संपर्क रखते थे। मुल्ला-मौलवियों की दस्तंदाजी भी सीमित मात्रा में ही चल पाती थी। यही सिलसिला राय बुलाड़ ने भी कायम रखा। धर्मोन्माद को उन्होंने प्रजा-पीड़न का साधन नहीं बनाया। वे उदारमना और आध्यात्मिक रुझान के व्यक्ति थे।

तालवंडी के एक काफी ऊँचे और चौड़े टीले पर उनका किलाबंद पुश्तैनी महल था। उनकी जमींदारी का इलाका भी चारों तरफ से घेरकर सुरक्षित कर लिया गया था। लूटमार करनेवाले सरहदी खानाबदोश काफ़िलों से प्रजा को बचाये रखने के लिए, उस तरह की अहाताबंदी उन दिनों जरूरी मानी जाती थी। राय बुलाड़ की जमींदारी के इलाके में शान्ति और समृद्धि तो थी ही, धार्मिक सद्भाव और सौहार्द की भी कमी न थी।

जीवन के उत्तर-काल में राय बुलाड़ के दरबार में साधु-फकीरों का आना-जाना प्रायः लगा ही रहता था। उनका वे हृदय से सम्मान करते थे और उनसे सत्संग का अवसर ढूढ़ते रहते थे। तभी नानक की ओर उनका ध्यान, उनके अल्प वयस के बावजूद, आकृष्ट हुआ था। वे बड़े अपनापन के साथ उन्हें अपने पास जब-तब बुलाकर बैठाये रखते और उनकी वैसी बातों पर घंटों विचार करते रहते, जैसी बातों को बावलेपन की निशानी मानकर नानक के माता-पिता चिन्तित रहने लगे थे।

तालवंडी गांव के सीमान्त से सटा एक विशाल वन था। विरक्त साधुओं को एकान्त-साधना के मनोवांछित क्षेत्र के रूप में, वह प्राचीन काल से ही आकृष्ट करता रहा होगा। अंचल के वृद्ध किसान, वनवासी सिद्ध महापुरुषों की अहेतुकी कृपा के अनेक वृत्तान्तों का संबंध, उस वनांचल से जोड़ते रहते थे। मगर वैसे

महापुरुषों के दर्शन बड़े भाग्य से, सो भी, किसी-किसी को ही, मिल पाते होंगे। यही धारणा, उस वनांचल के गंभीर अन्तर्भाग में नानक को, बरबस बार-बार खींच ले जाती थी।

अरण्यवासी साधु-फकीरों में से इक्के-दुक्के कभी-कभी तालवंडी गाँव में भी दिखाई दे जाते थे। वैसे मौकों पर बालक नानक के उत्साह और उल्लास की कोई सीमा नहीं रह जाती। वह उनके कहे गये एक-एक शब्द को प्यासे चातक की तरह पीता, उनके पास घंटों बैठा रह जाता है।

'ओह, ये अनूठे अनुभव कितनी दीर्घ साधना और परिव्रजन के बाद प्राप्त हुए होंगे, इन्हें ! किन्तु एक अपरिचित बालक को अपने अनुभव का यह अमृत बे अकृपण भाव से प्रदान करने में किसी हिचक में नहीं पड़े। संतों की इस कृपालुता की कोई सीमा नहीं।' कुछ ऐसे ही विचार नानक को किसी अगोचर लोक में उठा ले जाते हैं। वह लोक इस लोक से सर्वथा भिन्न है। फिर भी, नानक को, जन्म-जन्म से उसका कोई अबूझ परिचय अवश्य है।

ऐसे साधुओं में कोई ज्ञान की अग्नि से उद्दीप्त रहा करते, तो कोई भक्ति के रस से आप्लावित। नानक सभी का आदर करते और उनकी सेवा के लिए असामान्य उत्साह से उत्सुक और उत्कंठित होते रहते। फिर भी भक्ति और शरणागति के प्रति उनमें अपेक्षाकृत अधिक अभिरुचि है। भगवत्कथा और नाम–माहात्म्य के प्रसंग उन्हें भाव–विभोर कर देते हैं।

उस दिन सरकारी अमीन जयराम मालगुजारी के बकाये की रकम–वसूली के काम से तालवंडी गाँव में दाखिल हुआ था। उन दिनों के रिवाज के मुताबिक, जमीन और फसल का हिसाब लगाकर, मालगुजारी तय करने का काम, हर साल, नये सिरे से, सरकारी अमीन ही करते थे। जयराम के साथ कारिन्दों की टोली थी, खेत नापने के असबाबों और जरूरी कागजात के बस्तों के साथ।

जयराम लगी फसल के खेतों का तखमीना करने में व्यस्त था। तभी अचानक उसकी नजर नानकी पर पड़ी। वह नानक की बहन थीं। उसके तारुण्य-दीप्त रूप ने जयराम को विशेष रूप से आकृष्ट कर लिया था। जब उसे पता चला कि वह उसके सजातीय खत्री-परिवार की कन्या है, तो उसने उसकी चर्चा राय बुलाड़ के निकट की। राय बुलाड़ को, जयराम के साथ नानकी के विवाह के प्रस्ताव पर कालू को राजी करने में कठिनाई नहीं हुई। कुछ ही दिन बाद शुभ-मुहूर्त्त में विवाह-समारोह पूरे उल्लास के साथ संपन्न हो गया।

बेटी ससुराल चली गई, तो तृप्ता को, घर में नई बहू ले आने की उत्कण्ठा बेचैन करने लगी। नानक बुढ़ापे का इकलौता बेटा है। मूँछ-दाढ़ी उगने तक उसके विवाह का इन्तजार करना संभव नहीं। वैसा होने तक, तृप्ता इसी

दुनियां में बैठी रहेगी ? जिन्दगी का भरोसा ही क्या ? बहू घर में आयगी, तो सास को बुढ़ापे में भी तो आराम नशीव होगा ? सारी जिन्दगी तो घर के काम काज के बोझे के नीचे पिस-पिस कर ही गुजरती रही, तृप्ता।

इसी सोच-विचार में डूबी मां के कानों में नव किशोर पुत्र नानक का कंठ स्वर सुनाई पड़ा। वह मां की इस योजना से सर्वथा अपरिचित भी तो न था। अपने विवाह की बात को अपनी सम्मति से पुष्ट करना उसके लिए संभव न था।

"तुम्हारी उम्र ही क्या है ? अभी तो चौदहवां साल भी नहीं लगा। ऐसी हालत में तुम्हारी राय जानने का सवाल ही नहीं उठता। तुम अपने भले-बुरे का विचार करने लायक अभी हो भी तो नहीं पाये। तब तुम्हारी चिंता मैं न करुंगीं, तो और कौन करेगा ? शादी की बात तो मैं तय कर चुकी हूँ। इसमें कोई दूसरा दखल नहीं दे सकता। बहू को घर में लाये बिना. यदि दुनिया से मैं विदा हो जाऊंगी, तो मुझे मरकर भी तुम्हारी चिन्ता से छुटकारा नहीं मिलेगा।

मां की इस जिद के सामने जब बाप को ही घुटने टेक देने पड़े, तब, बेटे की बिसात ही क्या थी ?

गुरुदासपुर जिले के बाताला नामक गांव से विवाह का एक खासा भला प्रस्ताव आया था। कन्या रुपवती, सुशीला और गुणवती है। नाम है, सुलक्षणी। पास-पड़ोस के जिन लोगों ने उस कन्या को कभी देखा है, वे उसकी प्रशंसा करते थमते नहीं। तृप्ता स्वयं भी सुयोग बनाकर एक दिन 'सुलखनीं को देख आई है। विवाह में किसी प्रकार का विलंब अब वह सहन नहीं कर पायगी।

सो, महज चौदह साल की छोटी उम्र में नानक को विवाह का दुल्हा बनना पड़ा। नई बहू को घर में लाकर तृप्ता ने सचमुच असीम तृप्ति का अमुभव किया।

नानक के निकम्मेपन से क्षुब्ध पिता के आक्रोश बाक्यों को मन मार कर सहती रहनेवाली माता को, भीतर-ही-भीतर यही एक विश्वास अब तक थामे रहा कि विवाह के बाद उनका पुत्र भी, अपने बाप की ही तरह घर-गृहस्थी का बोझ खुद-बा खुद उठा लेगा और वन-वन भटकते रहने की पैदाइसी आदत उसका पिंड स्वतः छोड़ देगी। अपने इसी विश्वास की सच्चाई को प्रमाणित कर दिखाना, इन दिनों, उनका एक मात्र लक्ष्य बनता जा रहा था।

लेकिन नानक के दिल-दिमाग पर विवाह का कोई वैसा अचूक असर तृप्ता के अतिरिक्त और किसी को कभी दिखाई नहीं पड़ा। नानक का पुराना रवैया पूर्ववत् जारी रहा। पहले की तरह वीहड़ जंगल और निर्जन एकान्त की खोज में और साधु-सन्तों की तलाश में, मौका पाते ही, घर से छू-मन्तर हो जाना, पहले की

ही तरह, भजन के पदों को जोड़-जोड़ कर गुनगुनाने के पीछे खाने-पीने की सुध-बुध खो बैठना ! संसार के प्रति प्रत्याशित आसक्ति की जगह पर अप्रत्याशित वैराग्य ने तृप्ता के इकलौते बेटे को अपने आधिपत्य में खींच लिया।

राय बुलाड़ नानक के दैनंदिन योग-क्षेम के समाचार की जानकारी रखते थे। उन्हें भी नानक के बावलेपन के प्रति आन्तरिक चिन्ता थी। एक दिन उन्होंने कालू बेदी को बुलाकर कहा ! "हताश मत होना, कालू ! मुझे लगता है कि नानक को फारसी पढ़ाने की कोशिश भी एकबार कर ही लेनी चाहिए। फारसी का थोड़ा-सा ज्ञान हो जाने पर, और कुछ नहीं, तो छोटी-मोटी नौकरी जरूर मिल जायगी। तुम्हारे दामाद इन दिनों सुल्तानपुर के नावब के बड़े खैरख्वाह हैं और नावाब साहब से मेरा भी संपर्क है। फारसी पढ़े-लिखे नौजवान के लिए नवाब साहब के पास काम की कमी नहीं है। तुम अपने लड़के को फारसी पढ़ने के लिए पहले राजी तो करो। मुझे उम्मीद है कि वह मान जायगा। बुद्धि तो उसकी तेज है ही।"

कालू बेदी ने अपने पुत्र नानक को मौलवी रुकन-उल-उद्दीन के चटसार में फारसी पढ़ने भेजा। थोड़े ही समय में नानक ने फारसी की बहुतेरी आयतें सीख लीं। मौलवी साहब अपने नये छात्र की प्रगती पर चकित और प्रसन्न थे। गड़बड़ी थी तो यही, कि कभी-कभी सवालों के जवाब के साथ-साथ, इम्तिहान के शादे पन्नों पर नानक स्वरचित भजनों की पंक्तियाँ भी लिख दिया करते थे।

मौलवी साहब को इस बात पर भी ऐतराज था कि प्रचलित कायदों में कोई छात्र फेरबदल करना चाहे। मगर नानक तो जैसे लीक पकड़ कर चलना जानते ही न थे। फिर एक दिन ऐसा भी आया, जब नानक ने मौलवी रुकन-उल-उद्दीन के चटसार को अचानक, सदा के लिए छोड़ दिया !

पढ़ाई छोड़ने की उस घटना से कालू बेदी बहुत क्षुब्ध हो उठे। बेटे को बुलाकर उन्होंने भर्त्सना के स्वर में कहा : "तुम्हारे लिखने-पढ़ने का तमाशा तो अब हो चुका। पता चल गया कि तुम्हें मूर्ख रहना पसन्द है। तो अब पोथी-पतरे की झंझट ही छोड़ो। खेत खोदना और चौपायों की चरवाही करना ही तुम्हारी किस्मत में लिखा है, तो मैं क्या करूँ ? अब वही काम शुरू कर दो बैठे-बैठे तो गुजारा नहीं चलेगा। घर का कोई-न-कोई काम तो करना ही पड़ेगा। खेतों और चौपायों की देखरेख करोगे, तो मुझे थोड़ी राहत तो मिलेगी। जाओं, आज से ही वही करो।"

ऊपर असीम नीलिमा का अनन्त आकाश और नीचे शस्य-श्यामला

विस्तीर्ण धरती का उन्मुक्त प्रसार ! भैंसों के झुंड के साथ, सदा-सुन्दर प्रकृति की अपरूप शोभा को निहारते रहने का ऐसा निर्वाध अवसर मिल जाय, तो नानक को आपत्ति क्यों होगी ? वे पिता के उस प्रस्ताव पर तुरंत राजी हो गये ।

उस दिन वे भैंस के साथ घर से निकले, तो काफी देर तक लौट नहीं सके। घर के लोगों को स्वभावतः चिन्ता होने लगी। असल बात यह थी कि नानक बड़े मैदान की हरी-हरी दूब पर ललचती भैंसों पर भरोसा करके, एक निभृत स्थान खोजकर, नाम स्मरण करने की खातिर आसन बाँधकर बैठ गये थे। पता नहीं ध्यान की प्रगाढ़ता ने कब और कैसे गंभीर निद्रा का रूप धारण कर लिया। उनकी आँखें तब खुलीं, जब गाँव के अन्यतम गृहस्थ भट्टी जी की वज्र–विनिदक चीख उनके कानों में पड़ीं। भट्टी का, फसल से गदराता हरा-भरा विशाल खेत, उस मैदान के सटे किनारे में ही पड़ता था। हरियाली के उस सागर में नानक के चौपाये ऊभ-चूभ करते–करते, महिषासुर की संहार-लीला के विस्मृत पाठ को कब से दुहरा रहे थे, इसका पता नानक को सचमुच नहीं चल सका था। आँखें खुली तो उन्होंने देखा कि गाँव का मासूम किसान, क्रोध के आवेश में बाघ से भी अधिक डरावना रूप धारण कर चुका है। उसके मुख से अपशब्दों की धारासार वृष्टि हो रही है। नाना प्रकार की प्रचलित-अप्रचलित गालियों की बौछार से वह भैंसवालों की तीन पीढ़ियों का उद्धार करने, बेतहासा दौड़ा आ रहा है। उसकी दहाड़ से चौकन्नी होकर मानवी के अपार वैभव से अपरिचित चौपाये भी, खेत से निकल कर मैदान में वापस लौट आ रहे थे।

नानक ने किसान को, हाथ जोड़कर, मिन्नतों से मनाना चाहा। पर उसका आक्रोस किसी प्रकार शान्त नहीं हो रहा था। तब तक गाँव के दो–चार जाने-माने लोग बिना बुलाए ही, साक्षी बनने के लोभ में आ गए। सबकी सम्मिलित राय हुई की आपसी पंचायत से मामले का निपटारा नहीं हो सकता; सीधे जमींदार की कचहरी में इस अन्याय की अर्जी भेजनीं चाहिए। भट्टी उसी समय राय बुलाड़ की कोठी की ओर रवाना हो गया। जमीदार महाशय की सहानुभूति हासिल करने के लिए, वह, कोठी पर पहुँचने से पहले ही, धाड़ मार कर रोने लगा और वहाँ पहुँचने के बाद, उनके सामने, रोते-रोते जमीन पर लोटने लगा। जमींदार को इत्मीनान हो गया कि मामला बहुत संगीन है, जिसका फैसला खेत की हालत का मुआयना किये बगैर सम्भव नहीं है। कारिन्दों की टोली के साथ, उनकी पालकी तत्क्षण खेत पर पहुँची।

खेत पर पहुँच कर उन्होंने देखा कि चौपायों की शस्य-ध्वंश-लीला का कहीं कोई चिन्ह नहीं है; फसल की एक भी कलँगी को किसी आदमी या चापाई

के द्वारा नुकसान पहुँचा हो, ऐसा नहीं लगता। अभियोगी पक्ष की हैरत का कोई अन्त नहीं। भौंचक भट्टी की तो बोलती ही उड़ गयी। गाँव के जिन लोगों ने अपनी आँखों अभी–अभी खेत की दुर्दशा देखी थी, उनके आश्चर्य की भी कोई सीमा नही। किस मुँह से अब वे गवाही दें? बात वहीं आकर रुक गयी। राय बुलाड़ ने खेत का चारों ओर से मुआयना कर लेने के बाद अभियोगी पक्ष से कहा: "तुम लोगों जो बात बताई, उसे साबित करना तुम्हारे लिए भी मुमकिन नही है। ऐसी स्थिति में अभियुक्त पक्ष को बुलाने की जरूरत ही नहीं रही। अब आगे से अपने किसी भले-पड़ोसी के खिलाफ इस तरह के निराधार अभियोग रचने की हरकत मत करना।"

उसी दिन पड़ोस के पूरे अंचल में चमत्कार की वह घटना फैल गयी। राय बुलाड़ ने भी मन-ही-मन सोचा। किसानों की इतनी हिम्मत तो नहीं होती कि बे-वजह इलाके के जमींदार के आराम में दखल पहुँचायँ। बात कुछ जरूर हुई होगी। मगर उसके सबूत को प्रकृति ने स्वयं ही मिटा दिया है। लगता है कि नानक निरा भक्त ही नहीं है; उसे परमेश्वर ने भी अपना आश्रम प्रदान कर दिया है। वह उनकी कृपा का पूर्ण संरक्षण प्राप्त कर चुका है। यह दैवी चमत्कार उसी का परिणाम है।

नानक का वैराग्य बोध दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है। आध्यात्मिक प्रेम के सहज भावोन्माद में वह निरन्तर डूबे रहते हैं। पर पिता की प्रत्येक आज्ञा का पालन भी वह जी-जान लगाकर करना चाहते हैं। यह और बात है कि कोई–न-कोई चूक, उनसे, उस प्रसंग में भी, हो ही जाती है। एक ऐसी ही चूक, उस दिन भी, अंजाने ही हो गई!

बुवाई का मौसम आ गया था। आकाश में कजरारे बादल उमड़ आये थे और तुरत के जुते खेतों से सोंधी सुगन्ध की उसाँसे उठ रही थीं। नानक के खेत में भी आज हल चल रहा था। उन्हें खेत में बीज पहुँचाने का काम सौंपकर कालू बेदी किसी जरूरी काम से जमींदार की कोठी की ओर जा चुके थे। वहाँ से वापस लौटते समय वे खेत का हाल देखने, दो पहर तक, खुद भी पहुँच जायँगे। यह बताने के साथ-साथ उन्होंने अपने इकलौते बेटे को यह भी समझा दिया थाकि बुवाई के बाद, कुछ दिनों तक, खेत की रखवाली भी करनी होगी। ऐसा न करने पर बोये गये बीजों को जंगली पक्षियों के झुण्ड चट कर

जाते हैं। नानक ने पिता की हिदायत के मुताबिक खेत की निगरानी करने की जिम्मेदारी लेली थी। उस काम के लिए घर से तैयार होकर ही वह उस दिन खेत पर पहुँचे थे। बुवाई खतम हो जाने के बाद वह खेत के किनारे के एक वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे चिड़ियों की प्रतीक्षा करने लगे।

चिड़ियों से नानक का नाता पुराना है झुंड के झुंड तोते जब अपने हरे-हरे डैनों से आकाश को हरे बादलों की तरह छा लेते और तूफान की तरह, धरती पर एक-साथ, अचानक टूट पड़ते, तो उनकी ओर एकटक ताकते रहने में नानक सुध-बुध खो बैठते हैं। हाँ, तीतरों के झुंड आसमान के लड़ाकू जीव नहीं, उनका क्रीड़ा-क्षेत्र पृथ्वी पर ही है। मगर खेत में बोये गये बीजों को वे भी बड़ी सफाई से कुछ ही घण्टों में चट कर जाते हैं। नानक को वैसे जीवों के प्रति अपार करुणा मिश्रित श्रद्धा है जो मनुष्य की तरह, श्रम और संग्रह के पीछे परेशान न होकर एकमात्र रामजी के भरोसे निश्चिन्त और मगन रहा करते हों। तोते और तीतर उन्हीं में से हैं।

उस दिन दो-पहर ढलते-ढलते, हल्की-सी बूँदा-बाँदी के बाद, आसमान से बादल जब छँट गये, तो तीतरों का एक बहुत बड़ा झुंड जंगल से निकल कर नानक के जुते-बुये खेत में सीधे प्रविष्ट हुआ और जब तक उस खेत में तोतों का और अधिक विशाल झुंड आसमान से नीचे नहीं उतरा, तब तक विश्रब्ध भाव से आहार चुँगता रहा। तीतरों की विश्रब्ध निश्चिन्तता जितनी धीर थी, चौकन्नी भीरुता भी उतनी ही फुर्तीली। नानक को उस दृश्य ने इस तरह आकृष्ट कर लिया कि वे ध्यान-मग्न हो गये। उसके पहले वे अपने नये भजन की दो ही पंक्तियाँ बुदबुदा सके थे—

"रामजी की चिरई, रामजी का खेत,
खाले चिरई, भर-भर पेट।"

तीतर के झुंड से जो बच गये थे, बोये गये बीजों को उस शेष भाग को चट कर जाने के बाद, तोतों का झुंड जब आकाश में आप ही उड़ गया, तो परों की फरफराहट की आवाज से नानक का प्रगाढ़ ध्यान भी आप ही भंग हो गया। वे तालियाँ बजा-बजा कर नाचने लगे और रामजी के खेत से रामजी की चिड़ियों कि अनादि सम्बन्ध पर चकित होकर, अपनी रची हुई पंक्तियों को उल्लास-पूर्वक गाने लगे—

"रामजी की चिरई, रामजी का खेत
खाले चिरई, भर-भर पेट।"

कालू बेदी उसी समय जमींदार की कोठी से लौटती राह, खेत में आ पहुँचे, तो

बेटे की करतूत पर माथा ठोंक कर रह गये। उन्होंने तृप्ता को पूरा हाल बता दिया।

फिर भी उस साल उस खेत में जैसी अच्छी फसल आई, वैसी फसल उसके पहले कभी नहीं आई थी। यह की चिड़ियों की भूल का नतीजा था या रामजी के खेत की महिमा थी, इसका निणय करना कभी सम्भव नहीं हो सका।

मगर तृप्ता को पुत्र की गति-मति पर सबसे अधिक चिन्ता तो तब हुई जब वन–बिरानों में दिन–रात भटकने वाले नानक, अनेक दिनों तक, घर के एक कोने में अकेले चुपचाप बैठे रह गये। वह डरी-डरी बेटे के पास पहुँचीं और बोलीं—"इस तरह भोजन-शयन की सुध–बुध भूल कर गूँगे की तरह चुपचाप बैठे रहोगे, तो लोग क्या कहेंगे? तुम्हारी दुल्हन के दिल में कितनी ग्लानि और वेदना हो रही है—इसका अन्दाज है तुम्हें? अब तुम सयाने हो गये, बेटे जरा लोक–रीति का भी ध्यान रखा करो।"

माँ के प्रबोधन का उत्तर नानक ने अपने एक भजन के जरिए दे दिया!

अब पिता की बारी थी। उन्होंने तिरस्कार पूर्वक कहा: "ये भजन और दोहे न तुम्हारे बदले खेत के काम आयँगे, न खलिहान के। यह बेकार का पचड़ा छोड़ो। अब तक गल-पचकर मैं घर का काम अकेले सम्भालता रहा, मगर अब यह किसी प्रकार संभव ही नहीं लगता। कुछ काम-धाम न करोगे, तो गुजारा कैसे चलेगा? मुझ से यह बोझा अब नहीं सँभल सकेगा।"

उत्तर में भाव–तन्मय नानक के कण्ठ से गीत की पंक्तियाँ फूट पड़ीं—

"एहु तनु धरती, बीच बीज करमन बहु
बरिसे सारिंगपानी।
मन किसानु हरि हिरदे जमायो
उपजे फसलि निरबानी।"

हाँ, नानक का शरीर भी तो धरती ही है। उस धरती में विविध सत्कर्म के बीज उन्होंने बो लिये है। धनुर्धारी राम अपनी कृपा-दृष्टि से, इस खेत को जब सींच देते हैं, तो निर्वाण की फसल आप ही उपज आती है। मन, किसान की तरह, हृदय में हरि-नाम का बीज जमा रखे—इतना ही आवश्यक है, इसके लिए।

पिता ने तिक्त होकर कहा:

अच्छा-अच्छा, यह ज्ञान-गुदड़ी अभी अपने पास ही रहने दो। खेत के काम में मन नहीं लग रहा है, तो क्या व्यापार-व्यवसाय में जी लगेगा? तो वह करके भी देख ही लो।" नानक बोले: "पिता जी कारबार की चिन्ता भी तो कर ही रहा हूँ। प्रभु ने 'नाम' की जो पूँजी दे रखी है, उसका हिसाब

क्या दूँगा ? यह चिन्ता ही तो मुझे बेचैन किए रखती है ।"

सुनकर कालू बेदी की अक्ल ने जवाब दे दिया । साफ हो गया कि इस लड़के पर किसी धन्धे की जिम्मेदारी नहीं छोड़ी जा सकती ।

बड़ी बहन नानकी को बचपन से ही अपने छोटे भाई नानक के प्रति असीम गर्व-बोध था । ससुराल से वह बीच-बीच में तालवंडी आकर नैहर के परिवार की देखभाल करती रहती थी । भाई को समझाने-बुझाने का काम भी उसी दरम्यान चलता रहता । मगर नानक की भगवद्-बुद्धि के भावोन्माद का शमन उसके वश की बात न था ।

उन्हीं दिनों की बात है कि एकबार, कई दिनों तक, नानक ने अन्न-जल ग्रहण करना बन्द किए रखा । घर के लोग आतंकित हो उठे । जमींदार की कोठी के हकीम को बुलाने की नौबत अन्ततः आ ही गयी ।

हकीम ने नाड़ी की परीक्षा कर लेने के बाद, घरवालों से व्यौरेवार जानकारी प्राप्त करने के लिए, आवश्यक प्रश्न किए । इसी पर्य्यवेक्षण के बीच नातक ने एक भजन गुनगुनाकर सबको विस्मित कर दिया । भजन का तात्पर्य था—"यदि सचमुच भव रोग की कोई औषधि है, तो एक मात्र प्रभु के नाम का स्मरण । जिस व्याधि से नानक पीड़ित है, उसका इलाज हकीम के बश की बात नहीं है !"

हकीम ने घरवालों को वता दिया—"आपलोगों का शक वेबुनियाद है । इसके दिमाग में कोई गड़बड़ी नहीं है । शरीर में भी कोई रोग नहीं है । यह तो अल्लाह के प्यार का मरीज है । यह मर्ज किसी खुद किस्मत को ही नशीब होता है । हकीम के पास इसका इलाज नहीं—ऐसा यह खुद बता रहा है । मगर डरने की कोई बात नहीं । धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा ।"

हकीम की बात से घरवालों की चिन्ता दूर हो गई । कुछ दिनों के बाद नानक आध्यात्मिक भावदशा के उस उच्च धरातल की पकड़ के बावजूद, सहज स्वभाविक व्यवहार बरतने लगे । अधीर तृप्ता की चिन्ता इसके बाद आप ही दूर हो गई ।

एक दिन कालू बेदी बेटे से व्यापार की बात चला बैठे । बोले—खेती में मन नहीं लगता है तो एक बार व्यापार को भी अजमा कर देखो, बेटे । व्यापार में तो लक्ष्मी का साक्षात् वास है । कहीं एकबार भी ठीक से

कल निकले, तो फिर कहना ही क्या है ? पूँजी के रुपये मैं दे देता हुँ। नमक तेल, हल्दी, धनियाँ जैसी चीजें सस्ती कीमत में दूर से खरीद लाना और महँगी कीमत पर पास के लोगों में वेंच देना, ऐसा काम है, जिसका भगवान् के भजन से भी कोई सीधा विरोध तो नहीं है।"

ऐसा कहकर कालू बेदी ने बेटे के हाथ पर रुपयों की एक पोटली डाल दी। नानक को पिता के प्रस्ताव से सहमत होने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

दूसरे दिन वे थोक खरीद की बडी मंडी की तरफ पैदल ही रवाना वूए। साथ में था, उनका विश्वासी भृत्य—'बाला'।

दिन ढलने से पहले ही मंडी तक पहुँच जानें की उम्मीद पूरी होते देख, नानक ने वृक्षों के एक सघन झुड़मुट को रास्ते के किनारे में पाकर, थोड़ी देर तक भोजन-विश्राम कर लेने का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। बाला का अन्दाज ठीक ही था कि मंडी अब कोस भर से ज्यादा दूर न होगी। असवाबों से लदी गाड़ियों का आना-जाना दिखाई देने लगा था। भोजन-विश्राम से निवृत्ति पाकर मंडी की ओर चलने के लिए जब बाला ने नानक को जगाया, तो एक अद्भुत दृश्य से ही नानक का चित्त आकृष्ट करता हुआ, निकट आ पहुँचा।

नंगा साधुओं का वह जमात सम्भवतः किसी तीर्थ-यात्रा पर निकली थी। सभी नंग-धड़ंग और सबके हाथ में लोहे के बड़े-बड़े चिमटे। एक वृद्ध साधु उनके आगे-आगे चल रहे थे। घुटनों तक लटकी स्वर-वर्ण की लम्बी जटाएँ और कमर तक लम्बी दाढ़ी, उन्हें साक्षात् शान्ति से सम्पन्न प्रमाणित कर रही थी समूची देह श्वेत भस्म से पुती थी। वे भी पूर्णतः निर्वस्त्र ही थे। सम्भवतः वे ही नंगा साधुओं के उस जमात के प्रधान भी थे।

दिगम्बर साधुओं की वह जमात उसी वृक्ष-कुंज में रुक गई, जिसकी छाया केआश्रय में नानक ने आधा पहर पहले भोजन-विश्राम करने का निश्चय किया था।

नानक को अब न पिता की नशीहतों की याद रही, न ही व्यापार और मंडी की। वे उन साधुओं में से प्रत्येक के सामने, बारी-बारी से साष्टांग प्रणाम निवेदित करने के निमित्त दण्डवत् लेटते रहे। बाला ने भी अपने मालिक का अनुकरण किया।

नानक की श्रद्धा भक्ति से साधुगन आह्लादित हुए। जटाधारी साधु ने उन्हें सामने बैठाकर अनेक आध्यात्मिक रहस्यों के कथा-प्रसंग सुनाए और आशिवचन दिए। इसके बाद कुछ तरुण साधु वृक्षों की सूखी लकड़ियाँ तोड़ने के लिए विदा हुए। ऐसा स्पष्ट था कि जमात वहाँ पाक-कर्म के लिए थोड़ी देर रुकना चाहती है।

नानक ने जटाधारी साधु से विनय पूर्वक पूछा—"बाबा, शरीर और चिमटों के अतिरिक्त आप लोगों के पास और कोई सामग्री नहीं है। सूखी लकड़ी जलावन के काम आ सकती है, मगर रसोई बनाने के लिए तो पात्र और अन्न भी चाहिए। वे तो आपके पास नहीं हैं। आप रसोई बनायँगे तो कैसे ?"

बाबा ने कहा—"प्रभु का प्रेम जब संसार का त्याग आवश्यक कर देता है, तब प्रभु की कृपा पर भरोसा करने के अतिरिक्त और कुछ आवश्यक नहीं रह जाता। यही विचार पूरब के एक महापुरुष कबीरदास जी हमें बता गये हैं।

"साधु गाँठ न बाँधई,उदर समाता लेई
आगे पाछे हरि खड़ा, जब माँगे तब देइ।"

"मानलो कि प्रभु आज हमें भूखा ही रखना चाहें, तो उनकी यह मर्जी भी हमें कबूल है। हम तो उनके प्रेमी हैं, फिर उनकी किसी मर्जी के खिलाफ तकरार क्यों करें ? भोजन की सामग्री वह नहीं भेजेंगे तो रसोई नहीं बनेगी; धुनी तो लगेगी ना ! सूखी लकड़ियाँ का उपयोग उसी में हो जायेगा।

"परमेश्वर बड़ा कृपालु है। वह त्याग के अहंकार से बचाने के लिए, हमारे त्याग को भी परिपूर्णता तक पहुँचने नहीं देता। देह और चिमटे का त्याग इसीलिए अभी तक हमसे सम्भव नहीं हुआ। उसकी आराधना और जगत् की सेवा के लिए हमारे शरीर की उपयोगिता सम्भवतः अवशिष्ट है, और शरीर यात्रा के लिए चिमटे की भी जरूरत है। सूखी लकड़ी एकत्र करने में उसका उपयोग हम कर रहे हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि हमें निराहार रखकर अपनी कठोर कृपालुता के सहारे अपनी ओर प्रभु हमें खींचते हैं और हमें इसका अहसास करा देते हैं कि हमारा शरीर उनके लिए उतना आवश्यक भी नहीं है जितना कि हमारे लिए हमारा चिमटा आवश्यक है। मगर ऐसा कभी-कभी ही होता है।

"वत्स, यह आदि धर्म की आदि-भूमि है। धर्म का लेश अभी पूर्णतः लुप्त नहीं हुआ है। ऐसे बहुतेरे गृहस्थ आज भी इस देश में हैं, जो स्वयं अपने कर्त्तव्य के बोध से प्रेरित होकर, इस के ब्रह्मचारियों और संन्यासियों को भूखों मरने नहीं देते। उन्हें उनका धर्म बता देता है कि जो त्याग करनेवाले हैं, उनका भाग, संग्रह करनेवालों के घर से मिलना ही चाहिए। यह धर्म बोध किसी सरकार या कानून की उपज नहीं, परमेश्वर की कृपा की ही विभूति है। तभी हमारे आगे-पीछे, अनन्त रूपों और आकृतियों में, वही हरि खड़ा है। हमें जब जो जरूरत होती है, उसकी पूर्ति हमारे हरि कर दिया करते हैं।"

नानक बाबा की बातों पर विचार करते-करते भाव विभोर हो गये।

उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया—

"बाबा, यह प्रभु की ही कृपा है कि संयोग से मैं भी गृहस्थ का पुत्र और गृहस्थ ही हूं। मेरे पास जो कुछ है, उसका सदुपयोग आपकी सेवा में हो, धर्म की यही अनुमति है। आप सरीखे साधु-पुरुष की सेवा का जो लाभ है, उसकी तुलना किसी अन्य लाभ से की नहीं जा सकती। अतः अपने पिताजी की दी हुई पूँजी का यह सदुपयोग निश्चय ही सर्वोत्तम होगा। मेरी प्रार्थना है कि मुझे आतिथ्य-सत्कार के इस अवसर का लाभ प्राप्त करने दिया जाय।"

बाबा को नानक का अनुरोध अन्ततः स्वीकृत करना ही पड़ा। बाला भौंचक और अवाक् अवश्य था, किन्तु मालिक की मर्जी में दखल दे पाना भृत्य के बूते की बात नहीं। वह कुछ देर बाद, नानक के निर्देशानुसार आटा, घी, नमक, आलू, मिट्टी के पात्र और पत्ते खरीदकर बाजार से ले आया। पास के गाँव के कुएँ से जल ले आना भी उसी का काम था।

साधुओं की पूरी जमात ने हाथों हाथ भोजन तैयार करने का काम पूरा कर लिया। उन्हें भोजन करा देने के बाद, नानक को अतीव तृप्ति और प्रसन्नता हुई। रामजी की चिड़ियों ने खेती के काम में जैसी सहायता की थी, रामजी के प्रेमियों—नंगे साधुओं—की वैसी ही सहायता व्यापार के धन्धें में भी नानक को अनायास प्राप्त हो गई। अब उन्हें मंडी न जाकर, तालवंडी वापस लौट आना ही अपेक्षाकृत अधिक संगत जान पड़ा।

कालू बेदी को नानक के उस अद्भुत व्यापार का ब्यौरेवार वृत्तांत सुनाकर, बाला ने तो तुरत छुट्टी पा ली। मगर नानक की हड्डी-पसली पर आफत आ गई। यदि पड़ोस के स्त्री-पुरुषों ने रक्षा न की होती, तो कालू बेदी के प्रचण्ड क्रोध में पूरा परिवार उस दिन आहुति बन जाता।

नानक के व्यापार की वह अद्भुत कहानी उसी दिन राय बुलाड़ के कानों तक जा पहुँची। वे चिन्तित और शंकित हो उठे। उसी समय कालू बेदी को, नानक के साथ, अपने पास बुला लेना उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ। उन्होंने एक संदेश-वाहक को बुलावे की खातिर तालवंडी भेज दिया। वे दोनों यथासमय जमींदार की कोठी पर पहुँच गये।

भौंचक नानक की मासूम आँखों ने पहली ही नजर में अपनी दण्डित अपराधहीनता का निवेदन कर दिया। राय बुलाड़ की आँखों से आँसू बह निकले। उन्होंने नानक को छाती से लगा लिया और उन्हें पास में ही बैठने की जगह दी। कालू बेदी थोड़ा अलग हट कर पहले ही बैठ चुके थे। दुखः, आक्रोश और निराश

के सागर में वे अभी तक गोते खा ही रहे थे ।

राय बुलाड़ ने उन्हें सान्त्वना देने के विचार से कहा—"साधुओं को भोजन कराकर नानक ने कोई गलत काम तो नहीं किया। इसने तो अपने देश और धर्म के सुसंस्कारों को ही प्रमाणित किया है। कालूजी, तुम्हारा पुत्र निर्दोष ही नहीं, गुणी, ज्ञानी और प्रशंसनीय भी है । यह दूसरी बात है कि यह सांसारिक हानि-लाभ से वाकिफ नहीं है मगर अच्छे-बुरे का विचार करने में इसने कोई गलती नहीं की है । जिसे अल्लाह ने जिस काम के लिए पैदा किया है, उससे दूसरा काम ले-लेना सदा संभव नहीं होता । नानक व्यापार से मुनाफा कमाने के लिए पैदा नहीं हुआ । अल्लाह ने इसे कहीं बड़े काम के लिए पैदा किया है। मालिक की मर्जी में दखल डालने की जिद तुम छोड़ नहीं पाते। यही तुम्हारी कठिनाईयों और मुसीबतों की जड़ है । तुम्हारे कुछ रुपये नानक ने खर्च कर दिये। वे रुपये मैं तुम्हें अभी दे देता हूँ । मगर इस निरपराध बालक पर हाथ उठाकर तुम अल्लाह की नजर में गुनाहगार हो गये हो । आगे ऐसी गलती मत करना, कालूजी !"

यह कहकर राय बुलाड़ ने रुपयों की एक पोटली कालू बेदी के हाथों दे-दी । 'नहीं-नहीं' कहने के बावजूद, कालू बेदी को अन्ततः राय बुलाड़ का वह हुक्म मानना ही पड़ा ।

नानक को उस स्थान से विदा कर देने के बाद राय बुलाड़ उठकर चले गये ।

दूसरे ही दिन एक और घटना घटित हो गई। नानक स्नान कर लौट रहे थे । उसके हाथ में जल से भरा पीतल का लोटा था रास्ते में एक अवधूत हाथ पसारे भीख माँग रहा था । नानक ने वह लोटा उन्हें दे दिया और साथ-साथ, सोने की वह अँगूठी भी, जो उन्हें ससुराल में मिली थी ।

कालू बेदी को पुत्र के उन्माद की यह कथा जब किसी से ज्ञात हुई, तो उनके धैर्य का जवाब दे दिया। उन्होंने नानक के पास जाकर कहा—"तुम्हारी उम्र अब मारने-पीटने की नहीं रही । मार-पीट का भी कोई असर तुम पर होता ही नहीं है। अब यही अच्छा होगा कि तुम इस घर को छोड़कर स्वतंत्र हो जाओ और जो चाहो, करो । तुम्हारे उपद्रवों के मारे मैं नाकोदम हो चुका हूँ। तुम आज ही इस घर से निकल जाओ ।"

यह समाचार नानकी को मिला, तो उसने अपने भाई को अपनी ससुराल सुलतानपुर बुला लिया। नानक के साथ, उनका भृत्य बाला भी, तालवंडी छोड़कर उसी दिन चला गया। सुलखनी नानक का साथ नहीं छोड़ना चाहती थी, पर पति के शीघ्र लौट आने का आश्वासन पाकर वह तालवंडी में रहने की

खातिर अन्ततः सहमत हो गई।

भाई को सुलतानपुर बुलाकर नानकी फूली नहीं समाई। वह बचपन से ही नानक को बहुत स्नेह और आदर की दृष्टि से देखती थी। नानक की भगवद् भक्ति का प्रभाव उसपर यथेष्ट मात्रा में पड़ा था। उसके पति जयराम की उन दिनों सुलतानपुर के नवाब दौलत खाँ के दरवार में बड़ी इज्जत थी। जयराम के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप नानक को भी सरकारी सरवराह महकमे में नौकरी मिल गई।

वह विभाग मुख्यतः मालगुदाम की नाप–तोल के हिसाब का विभाग था। हिसाब-किताब के प्रति नानक की अरुचि पहले से ही सर्वविदि थी। नाप-जोख के समय वे अक्सर ध्यानमग्न हो जाते और 'तेरा-तेरा' बुदबुदाते रहते। 'तेरा' पंजाबी में 'तेरह' के अंक का सूचक है, यह सभी जानते थे। मगर नानक उसका तात्पर्य सर्वस्व-अर्पण के निः स्व दैन्य-भाव से जोड़ चुके थे। वे 'तेरा' कहकर अपने प्रभु से कहना चाहते हैं कि नानक का अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है, वह, हे प्रभो, तुम्हारा ही है—'जा कछु है सो तेरा।'

इस भाव के बावजूद नानक ने सरकारी सरबराह विभाग में नौकरी करते समय उदाहरणीय निपुणता का परिचय दिया। उनके मधुर व्यवहार और मित-भाषण के कारण विभाग के सभी अधिकारी और कर्मचारी उन्हें प्रेम करने लगे।

नौकरी की इस अवधि में भी नानक का नाता न तो राम-नाम से छूटा, न ही साधुओं के सत्संग से। आये दिन उनके इर्द-गिर्द साधु–सन्तों की भीड़ लगी ही रहती। नानकी का घर साधुओं का भंडारा का मशहूर अड्डा बन गया। सरकारी नौकरी की जो आमदनी नानक के माध्यम से उसके घर पहुँचती, वह उन्हीं भंडारों में खर्च हो जाती। विभाग के कुछ मुसलमान अधिकारियों को यह बात खलने लगी। उन्होंने नवाब से नानक के विरुद्ध शिकायत करते हुए कहा : "हुजूर, जयराम के घर पर अर्से से काफिर भिखारियों की भीड़ लगी रहती है और उन्हें खिलाने–पिलाने के लिए सरकारी मालगुदाम से रसद पहुँचाई जाती है। दोनों साले-बहनोई हमारी नजर के सामने सरकारी दौलत को पानी की तरह बहाकर लूट मचाते रहें; यह तकलीफ की बात है। इस लूट का पता तभी चलेगा, जब कि माल गुदाम की रकम और हिसाब-खाते की जाँच, वाहर के हिसाब-नबीशों से कराई जाय। हमें यकीन है कि सरबराह महकमे के ज्यादातर कर्मचारियों को नानक ने ले-देकर इस लूट की साजिस में शामिल कर रखा है। उनसे सही-सही बातों का पता चल नहीं सकता।"

दूसरे ही दिन मालगुदाम में हिसाब-नबीशों का एक बड़ा काफिला औचक

ही दाखिल हुआ । इधर जाँच होती रही और उधर नानक 'तेरा-तेरा बुदबुदाते बैठे रहे । शाम तक जाँच होने के बाद, रकम और हिसाब-खाते को बिल्कुल ठीक पाया गया । जाँच करनेवालों का दल ने नानक की दक्षता की भूरि-भूरि प्रसंशा नवाब के दरवार में जाकर कीं । दूसरे दिन नानक को अपने पास बिठाकर नवाब ने पुरस्कृत और सम्मानित किया । उस समय भी नानक 'तेरा-तेरा' का ही, मन-ही-मन जाप कर रहे थे ।

कुछ ही दिन बाद जयराम और नानकी की सम्मिलित राय हुई कि सुलखनी का तालवंडी में रहना ठीक नहीं, उसे पति के पास सुल्तानपुर आकर ही रहना चाहिए । नानक ने बहन-बहनोई के प्रस्ताव को मंजूर कर लिया ओर सुलखनी भी सुल्तानपुर आ गयी । पति के पास रहकर पतिव्रता नारी ने घर सँभालने में ननद और ननदोई की बड़ी मदद की । नानक की सेवा में वह दिन-रात प्राण-पण से जुटी रहती । वर्षों बाद, सुल्तानपुर के उसी घर में सुलखनी ने वारी-बारी से नानक के दो पुत्रों को जन्म दिया । प्रथम पुत्र का नाम रखा श्रीचन्द्र और दूसरे का नाम पड़ा लक्ष्मीचन्द्र । पंजाब के सिखों में वे ही सिरी चाँद और लक्ष्मी चाँद के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

सरकारी नौकरी में व्यस्त और गार्हस्थय के योगक्षेम में साकांक्ष रहने के बावजूद नानक का चित्त निरन्तर प्रभु के चरणों में निरत रहा करता औंर साधु-संत के भंडारे पूर्ववत् चलते रहते । इस प्रकार सुल्तानपुर में नानक दम्पत्ति के जीवन के अनेक बहुमूल्य वर्ष बीतते चले गये ।

नानक जिस तरह सुलखनी को तालवंडी से सुलतानपुर ले आये थे, उसी तरह अपने बचपन की बाल-मंडली के कई अन्य सदस्यों को सरकारी नौकरी दिलाकर उन्हें भी वे सुलतानपुर ले आये । इनमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे । बाला यदि हिन्दू था, तो मर्दाना मुसलमान था । बाला बचपन से ही नानक के प्रति अनुरक्त था । तालवंडी में वह नानक के विश्वास-पात्र निजी भृत्य की हैसियत से उनकी सेवा कर चुका था । सुल्तानपुर में आकर भी वह उसी प्रकार उनकी सेवा करता रहा । फिर मर्दाना को नानक के प्रयत्न में जब सुल्तानपुर में सरकारी चाकरी मिल गई, तो वह भी नानक के ही परिवार का एक अन्तरंग सदस्य बन गया । कुछ दूसरे मित्र भी सुल्तानपुर आकर नानक की सत्संग-गोश्ठी में शामिल हो गये । उनमें से अधिसंख्य को, नानक के प्रयत्न से सरकारी नौकरी प्राप्त हो चुकी थी । वे सभी, प्रायः नित्य, नानक की भजन-मंडली में योग देने कुछ घंटों के लिए एकत्र होते और आध्यात्मिक

चर्चा में निमग्न रहा करते।

उसी भक्त-मंडली में नानक को एक दिन अपने विधि निर्दिष्ट गुरु के भी दर्शन प्राप्त हो गये। अपने उस गुरु का परिचय नानक ने प्रयत्न-पूर्वक गुप्त रखा है। ऐसी स्थिति में, उस सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। किंतु नानक के भजन-साहित्य में यत्र-तत्र उस गुरु की सांकेतिक चर्चा अवश्य मिल जाती है। अपने गुरु की असामान्य महिमा का उल्लेख वे निम्नलिखित पंक्तियों में भी करते हैं—

"नानक गावी ऐ गुनी निधानू
गावीए सुनिए मनि रखीए भाई
दुखु परिहरि सुखु घर लै आई
गुरुमुखि नादं गुरुमुखि वेदं मुखि रह्या समाई
गुरु ईसरु गुरु गोरखु बढ़मा गुरु पारवती साई
जे हउ जाना आखा माही कहिना कथनु न जाई
गुरा इक देहि बुझाई
सभना जी आ का इकु दाता सो मैं बिसरी न जाई।"

अर्थात् नानक कहते हैं कि उस गुण-निधान परम प्रभु की स्तुति करो। उनके गुणों का गान करो और श्रवण करो। हृदय में उनके प्रेम को संचित रखो। तभी दुःखों का परिहार होगा और सूखों की प्राप्ति होगी। गुरु का मुख जो कहता है, वही ओंकार-नाद है; वेद भी वही है। गुरु के मुख से ही उस अकाल पुरुष को जानोगे, जो कि सर्वत्र व्याप्त है। गुरु ही महेंश्वर हैं, वही गोरख भी हैं; वे ही ब्रह्मा भी हैं और पार्वती के परमेश्वर भी। गुरु की जिस महिमा का अनुभव होता है, उनका वर्णन वचन से संभव नहीं है। गुरु ने मुझे बता दिया कि सभी जीवों को रखनेवाला, पालनेवाला, एक ही दाता है। उस दाता को मैं कभी भूल नहीं पाता।

सिद्धि-प्रसिद्धि के बाद, जीवन के उत्तरकाल में नानक ने सद्‌गुरु के आश्रय-लाभ को और गुरु-उपदिष्ट साधनोपाय को सर्वोपरि महत्व देते हुए, नाम-स्मरण की महिमा का प्रतिपादन और प्रचार करना अपना मुख्य लक्ष्य बना लिया था। सुल्तानपुर अंचल में ऐसे अनेक धर्म-कर्म-परायण सद्‌गृहस्थ थे, जिनके लिए, नानक के द्वारा वर्णित गुरुशक्ति का पपूर्ण आविर्भाव गुरु नानक देव के रूप में ही अनुभव-गम्य होनेवाला था। उनमें से कुछ ऐसे भक्त भी अवश्य रहे होंगे, जो नानक देव के उस विधि-निर्दिष्ट गुरु को भी जानते-पहचानते रहे हों, जिनका

परिचय नानक ने जान-बूझ कर प्रयत्न-पूर्वक छिपाना चाहा था।

सुल्तानपुर के समीप एक दुर्गम विशाल अरण्य रोहरी के नाम से प्रसिद्ध नानक यदा–कदा उस गहन वन के भीतर अकेले ही प्रविष्ट हो जाया करते। वहाँ उनकी एकान्त साधना रात भर चलती। सुवह होने के साथ, वे वापस घर लौट आते।

एकवार ऐसा भी हुआ, जब वे लगातार तीन दिन, तीन रात तक उसी निर्जन जंगल में बैठे रह गये। घर के लोग उनकी खोज में जंगल छानते रहे, पर नानक का कोई पता नहीं चला। चौथे दिन सुबह को नानक स्वतः जब घर लौट आये, तो उनमें अद्‌भुत परिवर्त्तन हो चुका था। कहते हैं कि तीन दिनों के उसी एकान्त–वास ने नानक की पूर्ण आध्यातिमक सिद्धि का मार्ग प्रशस्त कर दिया और संभवतः उसी अवधि में उनपर उस गुरु-शक्ति की भी कृपा-वृष्टि हुई, जिस की महिमा का गान वे कृतज्ञता–पूर्वक करते हैं, किन्तु जिसके रूप–नाम के संबंध में निरन्तर मौन हैं।

नानक के अपने भजन की ही कुछ पंक्तियाँ यह बता देती हैं, कि शक्तिपात का अनुभव उन्हें कभी-न-कभी अवश्य प्राप्त हुआ था। उनका हृत्कमल अचानक खिल गया था और ज्योति के अपार पारावार ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया—ऐसा वे स्वयं बताते हैं—

सबु महि जोति जोति है सोई
चाननि सब महि चाननु होई
गुरु साखी जोति परगट कोई
जो तिसु भावै सु आरति होई।

गुरु-कृपा को जो ज्योति प्रमाणित करती है, वह सर्वत्र ओतप्रोत है। पर गुरु की कृपा उसी को प्राप्त होती है, जिसे अपनी असमर्थता का परिपूर्ण बोध आर्त्त किये रखता है। फिर तो उस ज्योति के प्रभाव से चंदन की शीतल कोमलता से पूरी धरती भर जाती है और सतत सर्वत्र चाँद-ही-चाँद और चाँदनी छा जाती है। गुरु ही इसके एक मात्र साक्षी हैं। नानक कहें भी तो कह नहीं पाते।

बौद्धों और जैनों के प्रभाव से लगभग डेढ हजार वर्षों तक गार्डस्थ्य को आध्यात्मिक साधना के लिए अनुपयुक्त ठहरानेवाले महात्माओं का प्राबल्य भारतव्यापी बना रहा। जिन महापुरुषों ने अपने आध्यात्मिक माहात्म्य के प्रकाश के द्वारा उक्त धारणा को अमूलक ठहराया, उनमें कबीर और तुकाराम की तरह गुरु नानक देव को भी स्मरणीय मानना ही होगा।

कहते हैं कि तीन दिनों के उसी अज्ञातवास की अवधि में नानक को प्रभु

का आदेश प्राप्त हुआ था—"नानक अब मैं निरन्तर तुम्हारे अन्तर में रहूँगा। तुम निर्लिप्त मुक्त पुरुष के रूप में जगत् के अशेष प्राणियों के उद्धार का कार्य शुरू कर दो।"

उक्त अज्ञातवास के पश्चात् नानकदेव जब सुल्तानपुर के अपने पुराने आवास पर लौट आये, तो उनके चारों ओर एक दिव्य प्रभा-मंडल फैल गया। मुख मण्डल और नेत्रों में आध्यात्मिक ज्योति का लावण्य उद्भासित था। प्रभु का आदेश उनके माध्यम से पूर्ण होना है—इस अहसास ने उन्हें एक अदभुत ऐश्वर्य से मंडित कर दिया था।

किन्तु इस अपूर्व अवस्था को प्राप्त कर लेने के बाद क्या नवाब की चाकरी करते रहना संभव होगा? नानक के मन में यह प्रश्न उठा और अन्तर्देवता ने तत्काल उत्तर दे दिया—"नहीं!" सो नानक ने वह नौकरी उसी क्षण छोड़ दी।

अगली मंजिक संभवतः गृह-त्याग की होगी—ऐसा सोचकर पत्नी सुलखनी का सहसा काँप उठना स्वाभाविक था। नानक उसके जीवन के पग-पग की प्रेरणा बन बैठे थे। उनके बिना एक क्षण व्यतीत करने की बात भी उसके लिए कल्पनातीत थी। वह पतिव्रता नारी क्या करेगी?

यों तो नानक स्वभाव से ही वैरागी पुरुष हैं। जगत के प्रति औदासीन्य उनका जन्य-जात भार है। जब से घर में होते, तब भी भजन और साधन में ही लीन रहते। सुलखनी के हिस्से में पति के समय का नगण्य भाग भी पड़ता है। पर ऐसी-ऐसी बातों के सहारे क्या सुलखनी पति से अपने को अलग रखने में सफल हो पायगी?

स्वामी को वह आँखों से देख तो लेती है। अवसर पाकर पति की सेवा का सुख भी वह कभी-न-कभी अनायास ही उचक लेती है। फिर उन्हें भोजन परोस कर खिलाने में जो अनंद है, वह तो एक मात्र वही जानती है। यह दूसरी बात है कि अक्सर उसके पतिदेव साधुओं के आग्रह पर उन्हीं के भंडारे में शामिल हो जाते हैं। सुलखनी वैसी स्थिति में भी, कम-से-कम, उनके हाथ धुलाने में तो शरीक हो जाती है? पति के गृह-त्याग के बाद उसका यह सौभाग्य भी छिन जायगा।

मगर इससे भी बड़ी समस्या तो है, श्रीचंद और लक्ष्मीचंद के पालन-पोषण, देख-भाल और शिक्षा-दीक्षा की। यह समस्या सुलखनी के बूते की नहीं। दोनों में कोई भी तो अभी सयाना नहीं कहा जा सकता।

इन बातों पर विचार करते ही सुलखनी की आँखें सावन-भादों बन जाती हैं। आँसुओं की झड़ी बरस पड़ती है।

"रो मत सुलखनी!" नानक के गम्भीर स्वर ने सुलखनी को चौंका दिया।

वे उसके पास आकर धीर, शान्त कंठ से बोले—"अपने व्यक्तिगत योग-क्षेम को इतनी कल्पित महिमा मत दो, कि जगत् के शेष प्राणियों के प्रति अपने कर्त्तव्य का सर्वथा विस्मरण हो जाय। अपने चारों और फैले विश्व की दीन–दशा पर विचार करोगी, तो अपने सुख-दुख की चिन्ता की तुच्छता स्वतः प्रकट हो जायगी। समाज में हिंसा, कलह, द्वेष, लोभ, मोह, शोक, अहंकार और उत्पात का जो वातावरण है, क्या उसके निवारण के प्रति तुम्हारा कोई दायित्व नहीं है? ऐसा मत समझो कि मैं लौट कर वापस कभी न आऊँगा। मेरा व्रत ही है, गृहस्थ बना रह कर, जगत् की और प्रभु की आराधना करते रहने का। जगत् की सेवा के क्रम में देश-देशान्तर का भ्रमण करना ही पड़ेगा। किन्तु प्रत्येक यात्रा के बाद लौटकर घर की देख-भाल में तुम्हारी सहायता करते रहना भी, मेरे लिए, उसी सेवा-व्रत का अंश बना रहेगा। जब तक श्रीचंद और लक्ष्मीचंद इतने बड़े नहीं हो जाते कि उनके माता-पिता घर की जिम्मेदारी से मुक्त हो जायँ, तब तक तुम्हारे घर से मेरा संबंध छूट नहीं सकता। अभी तो तुम मुझे देशाटन करने की अनुमति प्रसन्नता-पूर्वक दे-ही-दो। कोई भय नहीं। जगत् की सेवा यदि प्रभु की आराधना है, तो परिवार भी उसी जगत् का एक अन्यतम भाग है। उसके प्रति अपने कर्त्तव्य से पलायन का प्रश्न नहीं उठता। हाँ उसे अनावश्यक महत्व देकर, शेष विश्व के प्रति निष्करुण हो बैठना, पाप है। यह तो तुम्हें भी स्वीकार करना होगा। इसलिए, अभी तो तुम मुझे प्रसन्नता-पूर्वक इस घर से विदा अवश्य कर दो।"

पत्नी को आश्वासन देकर नानक उसी दिन, देशान्तर–भ्रमण के लिए, घर से निकल पड़े।

मार्ग के जंगलों, पहाड़ों, नदियों, उपवनों, रेगिस्तानों और श्मशानों को पार करते, अपने अनुभव के सत्य को, प्रेम की निष्कपट वाणी के सहारे, सर्व-जन-सुलभ करते जाना, नानक की जीव-यात्रा का लक्ष्य बन गया। उनके साथ उनका बाल-सखा मर्दाना भी था। उसका कंठ-स्वर मधुर था नानक के भजनों को जब वह अपने स्वर के वैभव से संगीत बना देता, तो भगवद्भक्तों की श्रद्धा-विह्वल भीड़ आप ही इकट्ठी हो जाती थी।

नर-नारियों की भीड़ में से कोई-न-कोई पूछ ही बैठता—"आप किस पंथ के साधु है?" या "आपका मठ कहाँ है?"

उत्तर में नानक देव कहते—"हमारा किसी पंथ से कोई विरोध नहीं। इसलिए हम किसी पंथ या मठ की ओर से नहीं आये। आप पंथ का आग्रह रखते हों, तो हमें निरंकारी कह सकते हैं। हम उस निराकार की अराधना करते हैं,

जिसने इस अखिल सृष्टि के नाम-रूपों को आकार दिया है और जिसका एक आकार यह असीम विश्व भी है। निरहंकार होकर उस निराकार की उपासना करने वालों को निरंकारी कहकर जानना–पहचानना आपके लिए आसान होगा।

किंतु इसके साथ–साथ यह भी है कि हम किसी नये पंथ का चलाया जाना अपना उद्देश्य नहीं मानते। ऊँच–नीच, हिंदू—मुसलमान, जैसे भेद हमारे लिए निरर्थक हैं। हम एक को अपना और शेष को गैर मानने की संकीर्णता से अपने को बचाना चाहते हैं। हमारे लिए सभी अपने हैं, कोई भी पराया नहीं। हम यह भी देख रहे हैं कि इस मुल्क में जैसे हिंदू अब सच्चे हिंदू नहीं रहे, वैसे मुसलमान भी सच्चे मुसलमान नहीं रह गये हैं। हम सच्चे मुसलमानों को उतना ही प्यार करते हैं, जितना कि सच्चे हिंदूओं को।"

नानक के ऐसे कथनों पर कुछ धर्मांध मुसलमानों को घर आपत्ति हुई। वे काजी के पास उसी क्षण अभियोग लेकर उपस्थित हुए। क्रोध के मारे उनके नथने फड़क रहे थे और आँखें लाल-लाल हो गई थीं। उन्होंने नानक के उपदेशों को तोड़-मरोड़ कर तिल का ताड़ बना दिया और कुफ्र के प्रचार के खिलाफ तुरत कार्रवाई करने की माँग की।

कजी को उस समाचार से स्वयं भी कम रोष न था। वह नवाब साहब के पास जाकर बोले—"नानक हिंदू खान्दान में पैदा हुआ है। इसलिए उसे इस्लाम के वारे में कुछ कहने का हक नहीं है। मगर वह लोगों को खुलेआम गुमराह करता फिर रहा है और इस्लाम के खिलाफ अनाप-सनाप बकने से भी बाज नहीं आता। वह इस मुल्क के मुसलमानों को मुसलमान मानने से साफ इन्कार करता है और कहता है कि हिन्दूओं की ही तरह, मुसलमान भी झूठे और गलत खयालवाले हैं। नानक को कड़ी सजा देकर इस बवाल को जल्द रोका नहीं गया, तो इलाके में बदगुमानी फैल सकती है।

नवाब ने नानक देव को तीसरे पहर के दरवार में हाजिर किये जाने का हुक्म दिया और काजी के साथ परामर्श करने एकान्त में चले गये।

नानक यथासमय नवाब के दरवार में उपस्थित हुए। नवाब ने छूटते ही पूछा : "तुम कहते फिरते हो कि इस मुल्क में कोई भी मुसलमान सच्चा मुसलमान नहीं है। तो क्या तुम्हारी नजर में मैं भी सच्चा मुसलमान नहीं हूँ ?"

नानक देव ने अत्यन्त धीरता के साथ उत्तर दिया—"नवाब साहब, मैं कसी को तकलीफ पहुँचाने के लिए कुछ नहीं कहता। पर सच्चाई के तकाजे पर जायज बात कहने में मुझे कोई हिचक नहीं होती। इसके साथ-साथ यह भी

सच है कि मुझे किसी मजहब के खिलाफ कोई द्वेष नहीं है। धार्मिक भेद-भाव को मैं अनुचित मानता हूँ।

"मेरी नजर में वही मुसलमान सच्चा मुसलमान है, जो सत्य के प्रति श्रद्धालु होगा और रशूल के उपदेश जिसके आचरण के ही सहारे उदाहृत और प्रचारित हुए होंगे। जिसके जीवन में इस्लाम की अच्छाइयाँ सचाइयों की शक्ल ले चुकी हैं, उसे सच्चा मुसलमान मानने में मुझे ऐतराज नहीं है। मैं ऐसे मुसलमान को खोजता फिर रहा हूँ, जो सचमुच मुसलमान हो। सच्चा मुसलमान निरभिमान, निर्लोभ निष्काम और शान्त प्रकृति का व्यक्ति होता है। वह जिन्दगी और मौत को समान भाव से स्वीकार करने के कारण स्वयं भी निर्भय होता है और दूसरों की निर्भयता में भी खलल नहीं पहुँचाता। उसकी जिन्दगी अल्लाह की मर्जी के हवाले रहती है और वह अल्ला-तलाह् के ही जमाल को देखता रहता है। मुझे बड़ी खुशी होगी अगर हमारे नवाब साहब और उनके काजी साहब को पूरी सच्चाई के साथ इसका अहसास हो रहा हो कि वे सचमुच सच्चे मुसलमान हैं।"

नानक के इस कथन से कुफ्र का कोई सरोकार नहीं है—ऐसा नवाब साहब को स्पष्टतः प्रतीत हुआ। दरवार की भी यही आम राय थी।

नमाज का समय हो रहा था। नवाब साहब ने परिहास के स्वर में कहा—"तुम तो हिन्दू और मुसलमान में कोई फर्क नहीं करते। इसलिए मंदिर और मस्जिद का फर्क भी तुम्हारी नजर में जरूरी न होना चाहिए। जब ऐसी बात है, तो क्या हमारे साथ नमाज अदा करने मस्जिद में चल सकोगे ? हम वहीं जा रहे हैं।

नवाब की बात पर काजी मुस्कुरा उठा। मगर नानक ने पूरी संजीदगी के साथ कहा—"मैं मंदिर में जाता हूँ तो मस्जिद में भी जरूर जा सकता हूँ। नमाज में आपके साथ सरीक होना मुझे मंजूर है।" इतना कहकर वे नवाब के पीछे-पीछे मस्जिद की ओर चले गये।

मस्जिद से वापस आते समय काजी ने नवाब साहब से कहा : "नानक मस्जिद में चुपचाप हाथ बाँधे खड़ा रहा। इसने नमाज अदा करने में हमारा अनुकरण नहीं किया।"

नवाब के द्वारा उस सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर नानक ने उत्तर दिया : "काजी साहब ने ठीक ही फर्माया है। मुझे यह देखकर दुःख हुआ कि नमाज के वक्त भी काजी साहब का ध्यान अल्लाह् पर न था। ये उस समय भी अपने अस्तबल की उस नई घोड़ी के बारे में सोचते रहे, जिसने दो दिन पहले एक

वछेड़े को जन्म दिया था। ऐसी हालत में इनका अनुकरण करना मेरे लिए मुमकिन नही हो सका, तो इसमें मेरा कसूर न था।"

काजी विस्मित ही नहीं लज्जित भी हो गया। सचमुच ही उसे अपनी नव प्रसूता घोड़ी की याद आ गई थी और सो भी ऐन नमाज के ही समय। नवाब के पूछने पर उसने यह सच्चाई चुपचाप कबूल कर ली। उसके लिए आश्चर्य की वात यह थी कि नानक को उस रहस्य का पता भला कैसे चल गया क्या वे अन्तर्यामी हैं ?

नवाब ने इस तथ्य की जाँच करने की नीयत से कहा—"नानक, लेकिन मेरा ध्यान तो घोड़े-घोड़ी की तरफ न था। इसलिए नमाज में तुम मेरा अनुकरण तो कर सकते थे ?"

प्रश्न सुनकर नानक थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर बोले—"गुस्ताखी माफ हो, तो मैं कहूँगा कि नवाब का ध्यान भी, नमाज के समय अल्लाह्-तालह् पर न था। हाँ, घोड़े–घोड़ी पर ध्यान न था, यह सच है। नवाब साहब का चित्त कन्द-हार के पास-पड़ोस में विचरण कर रहा था, उस समय। मगर प्रचुर रुपयों के साथ नवाब साहब ने जिस सरकारी कर्मचारी को कन्दहार भेजा है, उसे तो घोड़ा खरीदने की ही जिम्मेदारी नवाब साहब ने दी थी। इस तरह उस आदमी को दिये गये रुपयों की चिन्ता में घोड़े की चिन्ता भी शरीक हो गई होगी।"

अब नवाब साहब के विस्मित और लज्जित होने की वारी थी। उन्होंने कहा—"नानक, तुम सचमुच ऊँचे दर्जे के पहुँचे हुए फकीर हो। तभी तो दूसरों के दिल की बात इस तरह जान जाते हो। तुमसे मिलकर मुझे आज बहुत बड़ी खुश किस्मती नशीब हुई। तुम अपने पन्थ का प्रचार करने के लिए इस इलाके में आजाद हो। तुम्हें रोक-टोक करने वाले को मैं कड़ी-से-कड़ी सजा दूँगा।"

नवाब ने नानक देव को आदरपूर्वक अपने दरवार से विदा किया।

पर्यटन के क्रम में नानक जब उस दिन सईदपुर नामक एक गाँव में पहुँचे तो लालो नामक एक बढ़ई मिस्त्री ने उनकी बड़ी आव-भगत की। लालो नितान्त निर्धन प्राणी था। दिन-रात कड़ी मेहनत करते रहने के बावजूद, परिवार के भरण-पोषण में उसे निरंतर कठिनाई और कमी का सामना करना पड़ता था। फिर भी, जब उसने गुरु नानक देव को अपने गाँव से गुजरते देखा, तो उसे अपनी दरिद्रता की याद न रही। साष्टांग प्रणाम निवेदित करने के बाद, उसने उन्हें आतिथ्य ग्रहण करने के लिए अपने घर पर आने का निमंत्रण दे दिया।

गुरु नानक देव को वह समादर-पूर्वक अपने घर जब ले आया, तो उसके परिवार का एक-एक सदस्य अतिथि-सत्कार के समारोह में प्राण-पण से व्यस्त हो गया। पास-पड़ोस के लोग दल बाँधकर नये पियदर्शन साधु का दर्शन करने, लालो मिस्त्री के घर पर, लगातार आते-जाते रहे। नानकदेव के आश्वासनकारी उपदेशों की चर्चा, उन दर्शनार्थियों के सहारे, दूर-दूर तक फैल गई। आदर, प्रेम और उत्साह के उस वातारण में देश-काल का बोध इस तरह लुप्त हो गया कि कई दिन व्यतीत हो जाने के बावजूद, न तो नानक को अपनी यात्रा के अगले कार्यक्रम के लिए फुर्सत मिली, न ही लालो को अपनी दिनचर्या और जीविकोपार्जन की याद आई। वह दिन-रात नानक देव के सेवा-सत्कार और दर्शनार्थियों की अभ्यर्थना में व्यस्त रहता और भजन-सत्संग के दैनंदिन समारोह की व्यवस्था उसे निरंतर तल्लीन किये रखती। इस तरह दिन-पर-दिन बीतते चले गये।

थोड़ी ही दूर पर पठान सुवेदार के दीवान—मलिक भागो की बड़ी कोठी थी। मलिक भागो का पूर्व-जीवन अत्याचारों, पीड़नों और दोहनों के क्रूर कर्मों से परिपूर्ण था। पर उत्तर जीवन में उन्हें जकात और इवादत की भी याद आ गई थी। आये दिन उनकी बड़ी कोठी साधुओं और फकीरों से ही भरी रहती। यतीमों और गरीबों को मदद भी वह दोनों हाथों करते रहते। कहते हैं कि एक बड़े पीर या फकीर के प्रभाव में आकर दीवान साहब आध्यात्मिक जीवन की तरफ बड़े वेग से मुखातिव हो चले थे।

मलिक भागो की कोठी तक नानक देव और लालो मिस्त्री की कहानी को पहुँचते देर न लगी। उन्हें इस बात से स्वभावतः चोट लगी कि लालो मिस्त्रीसरीखे गरीब के घर पर हफ्तों रहने के बावजूद नानक देव न तो कभी बड़ी कोठी पर आये, न ही दीवान की ओर से चलाये जानेवाले लंगर में कभीशामिल हुए।

मलिक भागो को किसी ने यह भी बता दिया था कि लालो मिस्त्री के घर पर जो हिंदू साधु ठहरे हुए है. वे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कोई फर्क नही मानतें। जात-पाँत और छुआछूत की परिपाटी का भी उनपर कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता। ऊँच-नीच के सामाजिक भेद को वे पाप मानते हैं। इन तमाम बातों को सुनकर मलिक भागो का यह संदेह और दृढ़ होता चला गया कि हो-न-हो, वह साधु जान-बूझकर बड़ी कोठी के दीवान को अपमानित करने की नीयत से ही, पड़ोस के एक गरीब बढ़ई के घर पर ठहर गया है! ऐसा न होता तो यह बड़ी कोठी के लंगर में पीरों-फकीरों के साथ, कभी-न-कभी भोजन करने अवश्य आ गया होता। क्या इस अपमान को वर्दाश्त कर लेने से मलिक भागो की इज्जत में बट्टा नहीं लगेगा ?

उसी समय नानक देव को कोठी पर ले आने की नीयत से दीवान ने तगड़े सिपाहियों को लालो मिस्त्री के घर पर भेज दिया। लालो आशंका और भय से व्याकुल हो गया वह भी नानक देव के पीछे-पीछे दीवान साहब की कोठी पर सिपाहियों के साथ चला आया। पता नहीं, पठान दीवान की नीयत में कोई खोट हो और वह गरीब लालो के सम्माननीय अतिथि के प्रति किसी अनिष्ट की योजना में व्यस्त हो गये हों। लालो इस चिन्ता में कातर हो उठा था।

नानक को देखते ही मालिक भागो ने कहा—क्यों, साधु बाबा, मैंने तो सुन रखा है कि आप बड़े उदार और ऊँचे किस्म के आदमी हैं और जात-पाँत ऊँच-नीच के भेदों को किसी तरह कबूल नहीं करते हैं। फिर हिन्दू लालो को मुसलमान भागो से ज्यादा महत्व देना, आपके लिए कैसे मुमकिन हुआ? इस कोठी पर पीर-फकीरों के लिए जो दैनदिन भंडारा अर्से से चलता आ रहा है, उसमें आप कभी सम्मिलित क्यों नहीं हुए। मैंने तो पूरे इलाके में मुनादी करा रखी है कि साधु-फकीरों को हमारे लंगर में मुफ्त भोजन कराया जाता है। आपको अलग से न्यौता देना जरूरी क्योंकर हो गया?

मालिक भागो की आत्मश्लाघा पर नानक देव को हँसी आ रही थी। उन्होंने कोई उत्तर न दिया।

भागो को इस चुप्पी ने और भी उत्तेजित कर दिया। वह गरज कर बोले—"बिना जवाब दिए आपको छुटकारा नहीं मिलेगा, साधुबाबा! यह मजाक की बात नहीं है। आगे-पीछे की पूरी बात सोच लें आप। ऐसा न होने पर आपको पछताना पड़ सकता है। दीवान मालिक भागो को अभी अच्छी तरह आप पहचान नहीं पाये हैं। मगर वह पहचान आपको अभी यहीं मिल जायगी।"

नानक देव ने धीर-गंभीर स्वर में उत्तर दिया—"दीवान साहब, मुझे आप की पहचान सचमुच मिल चुकी हैं। आपके लंगर में पूरियाँ, मालपूए वगैरह परोसे जाते हैं—यह भी जानता हुँ। लालो मिस्त्री गरीब हैं और उनके अतिथियों को सूखी रोटियाँ भी आसानी से नहीं मिल पाती होंगी। यह भी सच है। मगर मेरे जैसे साधु-भिखारी पसीने की कमाई की सूखी रोटियों को बड़े चाव से खा लेते हैं। पराई मिहनत का शोषण करनेवाली अमीरी, पुए दिखाकर, हमें लुभा नहीं पाती।

"आपके कहने का आशय क्या है?"—दीवान साहब ने क्रोध से गरजते हुए पूछा।

"आशय मैं अभी तुरत समझा देता हूँ, दीवान साहब! लेकिन मेरे आशय को अच्छी तरह आप तभी समझ पावेंगे, जब की अपने लंगर के मालपुए और लालो के घर की सूखी रोटी के टुकड़े का फर्क आप अपनी आँखों खुद देख लें।

इसके लिए जरूरी है कि आप दोनों के पास मुझे खिलाने के लिए जो सामग्री बची हो, वह कृपाकर के मेरे सामने रखवा दी जाय।"

मलिक भागो के लंगर से थाल में भर कर विविध प्रकार के स्वादु सुगंधित पकवान आये, तो लालो मिस्त्री के घर से सूखी रोटी के दो टुकड़े मात्र! नानक ने खाद्य-सामग्री के दोनों पात्रों को अधमुँदी दृष्टि से क्षण भर के लिए देखा। फिर लालो मिस्त्री की रोटी का टुकड़ा उन्होंने अपने हाथ में उठाया और उसे जोर से दबाकर मसल दिया। मलिक भागो की कोठी पर उपस्थित सभी लोग यह देखकर चकित हो गये कि सूखी रोटी के उन टुकड़ों से ताजा दूध टपक रहा था। उन्हे तब और आश्चर्य हुआ, जब नानक ने मलिक भागो के लंगर से लाई गई सामग्री को उसी हाथ में लेकर, उसी तरह दबाया, तो उससे खून की पिचकारी बहने लगी!

नानक देव ने मलिक भागो की ओर देखकर कहा—"गरीब लालो की रोटी और आपके मालपुए का फर्क आपकी नजरों के सामने ही जाहिर हो चुका है। इससे ही आप समझ जायँगे कि मैं आपके मालपुओं की उपेक्षा करके लालो के घर की सूखी रोटियाँ क्यों खाता रहा।"

नानक की योग-विभूति की उस लीला ने एक बड़ी असलियत जाहिर कर दी। मलिक भागो का घमंड चूर-चूर हो चुका था। उसने हाथ जोड़कर नानक देव से माफी माँगी और उनसे अपने उद्धार के निमित्त प्रार्थना की।

इसी बीच पूरे अंचल में गुरु नानक देव के उस चमत्कार की कथा बिजली की तरह, घर-घर फैल गई। लोगों की अपार भीड़ लालो मिस्त्री के घर की ओर बढ़ी चली आ रही थी। नानक के अन्तर्देवता उन्हें इस तरह की लोक-प्रसिद्धि से बचाना चाहते थे। अतः सईदपुर का तत्क्षण त्याग आवश्यक हो गया। मर्दाना और वालों के साथ गुरु नानक देव उसी क्षण उस अंचल को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये।

दूसरा दिन भी मार्ग में ही व्यतीत हो गया। सूर्यास्त हो चुका था। पक्षियों के रंग-विरंगी झुंड वृक्षों पर उतर आये थे। और आनंद-कलरव से वातावरण को पुलकित करने लगे थे। राजपथ के पार्श्व में ही, दूर से, किसी गृहस्थ का एकाकी निवास-स्थान दिखाई पड़ा। बाला की इच्छा थी कि गृहपति को आपत्ति न हो, तो वह रात, उसी के आश्रय में व्यतीत की जाय। मगर मर्दाना ने अपनी सहमति न दी। आस-पास में कोई दूसरा घर न था। वस्ती से काफी दूर हटकर, कोई सद्‌गृहस्थ अकेला घर बनाकर रहे, यह स्वाभाविक नहीं लगता। ऐसा भी तो हो सकता है कि बटोहियों को गफलत में डालने के लिए किसी दस्यु-दल ने यह

प्रपंचशाला रच रखी हो। यह संदेह मर्दाना के दिल में घर कर गया। नानक देव इन दोनों से काफी आगे, जा रहे थे। वे तो उस घर के प्रवेश-द्वार के समीप पहुँच चुके थे।

गृहस्थ का नाम सुजन था और उसकी आकृति से भी, मानों, सौजन्य ही टपक रहा था। गुरु नानक देव को दूर से ही देखकर वह अपने घर से निकला और भूमि पर साष्टांग लेटकर उन्हें उसने प्रणाम निवेदित किया। अतिथि भक्त की हार्दिक इच्छा थी कि साधु अपने दोनों अनुयायियों के साथ वहीं रात भर के लिए विश्राम करें। तीनों के भोजन–विश्राम की व्यवस्था गृहपति ने बड़े ही आदर-भाव से कर दी।

गृह के प्रवेश-द्वार के दोनों ओर हिन्दुओं और मुसलमानों को अतिथि के रूप में अलग-अलग ठहराने के लिए स्थायी व्यवस्था गृहपति ने कर रखी थी। बातों-बातों में ही पता चल गया कि अतिथियों के प्रति बाबू सुजन सिंह के हृदय में जन्मजात आकर्षण है। उनके सेवा-सत्कार में वे कुछ उठा नहीं रखते। साधु-फकीर तो इक्के-दुक्के ही चलते हैं। मगर व्यापारियों और सौदागरों के काफिलों को भी रात भर ठहरने की जगह वहाँ आसानी से मिल जाती है। हाँ, कभी–कभी नागा साधुओं की जमात भी उस राह से गुजरती है। मगर गृहस्थ के घर में उन्हें ठहरना सुविधाजनक नहीं होता। उनके लिए मंदिरों और मठों में ही व्यवस्था संभव है।

बाला और मर्दाना भोजन के बाद निश्चित होकर सो रहे। किन्तु नानक थोड़ी ही देर लेटने के बाद उठ बैठे। राजपथ पर उन्हें हलचल की ध्वनि साफ सुनाई पड़ी थी और ऐसा भी भान हुआ था कि दवे पाँवों बाहर से कुछ लोग आये हैं और सुजन सिंह उनसे सलाह-मशविरे में व्यस्त हैं। मध्य-रात्रि की यह हलचल निरापद नहीं समझी जा सकती। मर्दाना की शंका संभवतः निर्मूल न थी। इसी ऊहापोह में गुरु नानक देव की नींद उचट गई। उन्होंने मर्दाना को भी जगा दिया और भक्ति-पूर्वक भजन गाने में लीन हो गये। भजन सुनकर बाला भी उठ बैठा। फिर तो तीनों के समवेत स्वर से भगवद्-भक्ति की संगीत-मंदाकिनी, मध्यरात्रि की गंभीरता को, घंटों निनादित करती रही।

सुजन वस्तुतः उस अरण्यांचल के दस्युओं का ही प्रधान था। अतिथि-सत्कार को उस हकीकत पर पर्दा डालने का माध्यम बनाकर, वह राह से गुजर-नेवाले सौदागरों और धनी यात्रियों को निश्चितता के साथ लूट लेता और मार डालता था। ऐसे बदकिस्मत बटोहियों में अधिसंख्यक व्यक्ति वे ही होते, जिन्हें उसका आतिथ्य, विश्रब्ध होकर सो जाने की निश्चिन्तता का अहसास करा देता

था। नानक देव के पास तो लूटने लायक कुछ नहीं था। मगर मालदार सौदागरों की एक छोटी-सी टोली, कुछ ही देर पहले, दूसरी तरफवाले अतिथि-भवन में, आतिथ्य–ग्रहण करने के बाद, गंभीर निद्रा में निमग्न होकर सो रही थी। खबर पाकर सुजन के दस्यु- शागिर्दों की टोली भी आ पहुँची थी। सिद्ध महापुरुष नानक देव इन सारी बातों से, क्षण भर में ही, अवगत हो गये। उनके भजन ने सोये सौदागरों की नींद में खलल पहुँचाकर, उनका अपकार नहीं किया था।

महापुरुष के कण्ठ–स्वर की संगीत-संपदा से ओतप्रोत भजन का प्रभाव दस्यु प्रधान सुजन पर भी पड़ा। उसका चित्त शनैः शनैः विगलित होने लगा और आँखों से अविरल अश्रु-प्रवाह जारी हो गया। उसका हृदय ग्लानि, पश्चात्ताप और वैराग्य से भर उठा। वह उसी आर्त्त–अवस्था में आकर नानक देव के चरणों पर गिर पड़ा।

गुरु नानक देव ने स्नेहपूर्वक उसके सिर का स्पर्श किया, तो वह उठकर बैठ गया। उसने कहा—"महाराज मैं इस अंचल के दस्युओं का सरदार हूँ। ऐसा कोई कुकर्म और क्रूरता नहीं, जो मैं नहीं कर चुका होऊँ। आज भी अपने भागीदारों के साथ मिलकर मैं लूट और हत्या का योजना ही रच रहा था। मगर आपने आकर मुझे उस पाप से बचा लिया अतिथि के रूप में आप हमारे उद्धारक आये। आपको देखते ही मुझे लगा कि मेरे अन्तर में आपकी आँखें पैठ गई हैं और मेरे कुकर्मों के एक-एक रहस्य को बेनकाब करती जा रही हैं। आपके भजन के स्वर ने तो भीतर जैसे खलबली ही मचा दी। मेरी अक्ल ने साफ जवाब दे दिया और मेरा सब–कुछ उलट-पलट गया। अब मैं दन्त-हीन सर्प की तरह अपनी व्यर्थता का स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ। मुझे आप दण्ड दें और कृपाकर बतायें कि इस पाप–पंक से मेरा उद्धार आपके ही हाथों होगा। इस आश्वासन के अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं बचा सकता।"

गुरु नानक देव के मुख–मंडल पर प्रसन्नता की अद्‌भुत ज्योति उद्‌भासित हो आई है। उन्होंने दस्युराज सुजन को छाती से लगा लिया और बोले—"भैया, भय की कोई बात नहीं। अकाल-पुरुष की कृपा से तुम्हारा उद्धार अवश्य होगा। वे परम कृपालु हैं। उनकी नजरों से कुछ भी छिप नहीं सकता। उनकी कृपा से सब-कुछ संभव है। तुम्हारे पश्चात्ताप से आँसू उनके चरणों तक पहुँच गये हैं। वे तुम्हारा-उद्धार करने आप ही आवेंगे। तुम चिन्ता और भय का भाव मन से निकाल दो।"

कहते हैं कि दस्युराज सुजन के उद्धार को ध्यान में रखकर ही गुरु नानक देव ने 'जपुजी' की रचना शुरू की थी। उसे उन्होंने सतनाम का उपदेश किया

और पाथेय के रुप में कुछ पौड़ियाँ बता दीं। चलते समय उन्होंने उसे पास बैठा-कर कहा—"केवल रोने- बिललाने को पश्चाताप नहीं कहते। संसार के जितने लोगों को तुमने जितनी क्षति पहुँचाई, उनका स्मरण करो और उतने लोगों का उतना हित साधित करके ही विश्राम मत करो; संसार के प्रत्येक जीव को अपनी सेवा से सुख पहुँचाने का अखण्ड व्रत जीवन भर जारी रखना, सुजन।"

उसी दिन से सुजन के जीवन में रूपान्तर का आरंभ हुआ। पूर्व-जीवन के प्रायश्चित-रूप में उसे लाञ्छनाओं, अपमानों और क्रुरताओं के अनेक प्रहार शिरोधार्य करने पड़े। किन्तु गुरु नानक देव के वाक्यों के प्रति उसकी श्रद्धा आजीवन अविचल बनी रही। एक निष्ठावान् सिख के रूप में उसे अब तक स्मरण किया जाता है। अपने सर्वस्व का विसर्जन कर उसने एक धर्मशाला उसी स्थानपर बनवा दी थी, जिस स्थान पर गुरु नानक देव का प्रथम साक्षात्कार उसे प्राप्त हुआ था। उस धर्मशाला को प्रथम सिख धर्मशाला के रुप में अब तक स्मरण किया जाता है।

सुजन को उद्धार-मार्ग बताकर अनेक दिनों की पद-यात्रा के पश्चात नानक-देव पंजाब के बटाला नामक स्थान पर पहुँचे। रावी नदी के तीर पर अवस्थित उस नगरी के उपान्त में बरगद के एक पुराने विशाल वृक्ष के नीचे उनका आसन लगा। अपने भक्तों की मण्डली से घिरे वे वहाँ भगवद्-भजन में निरन्तर निरत रहा करते। उनके मधुर कण्ठ से गाये गये भजनों की मोहिनी-शक्ति से खिंचकर दूर-दूर के लोग, वहाँ, दल बाँधकर आते और उनके दर्शन और सत्संग का लाभ उठाते। हिंदू-मुसलमान, पंडित-मूर्ख, धनी-गरीब और नारी-पुरुष के भेद श्रद्धालुओं की उस भीड़ में खो जाया करती।

उस अंचल के एक प्रतापी जमींदार अपनी प्रजा के बीच कड़ोरिया के नाम से मशहूर थे। नानक की लोकप्रियता के समाचार से उन्हें घोर कष्ट होता था। एक मामूली हिंदू साधू के पीछे पागल हो उठनेवाली जनता के प्रति भी उन्हें कम क्षोभ न था। ईर्ष्या और द्वेष का यह उत्ताप शनैः शनैः असह्य हो उठा, कड़ोरिया के लिए। उन्होंने निश्चय किया कि इस साधु को मजा चखाने में अब विलम्ब करना उचित नहीं होगा; जितना शीघ्र उसे इस इलाके से खदेड़ दिया जाय, उतना ही अच्छा!

कड़ोरिया साहब ने कमर में तलवार लटकाई और घोड़े की पीठ पर सवार

हुए। उनके साथ, सशस्त्र रक्षकों की एक अच्छी खासी टुकड़ी भी बटाला की ओर चल पड़ी। फिर चहेते मुसाहिबों का झुंड भी पीछे-पीछे विदा हुआ।

किन्तु कुछ ही आगे बढ़ने पर एक आकस्मिक दुर्योग घटित हुआ। कड़ोरिया साहब के घोड़े के पाँव में मोच पड़ गई और वह सवार के साथ, धड़ाम से खाई में जा गिरा। किसी का अंग-भंग तो नहीं हुआ, मगर कड़ोरिया साहब दो दिनों तक बिछावन छोड़ कर उठ नहीं पाये। इस प्रकार उस दिन का अभियान स्थगित कर देना पड़ा।

उसी दिन दबी जुवान से कुछ मुसाहिबों ने आपस की बातचीत में यह भी कहा कि सिद्ध महात्माओं के प्रति शान-गुमान का रुख अपनाना कल्याण कारक नहीं होता।

मगर कुछ दिन बाद कड़ोरिया साहब को बटाला के साधु की याद फिर आई। सजधज के साथ सवारों की वही टोली फिर रावी तट के वरगद वृक्ष वाले बाबा की खोज में निकल पड़ी। इस बार कोई दुर्घटना तो नहीं हुई, लेकिन कड़ोरिया साहब की आँखों की रोशनी धीरे-धीरे गायब होने लगी और कुछ देर बाद बिल्कुल गायब हो गई। उन्हें सहारा देकर बड़ी कठिनाई से महल में वापस लाया गया। मगर महल के अहाते में प्रवेश करने के साथ, उनकी आँखों की ज्योति फिर वापस लौट आई। इस अद्भुत घटना की कैफियत किसी हकीम के पास कतई न थी। जमींदार खुद भी भौंचक थे।

कड़ोरिया साहब जिद्दी और घमंडी प्रकृति के जमींदार थे। एक बार जिस गलत या सही काम के बारे में तय कर लेते, उसे पूरा किये बिना उन्हें रहा नहीं जाता था। बटाला वाले साधु को इलाके से निकालने की बात वे जब एक बार तय कर चुके, तो उसे पूरा किये बगैर वे कैसे मानते? इसलिए दूसरे दिन वह घोड़े की पीठ पर फिर सवार हुए और उसे बटाला की ओर मुखातिब किया। मगर इसबार शायद घोड़े की आँखें भी ठीक-ठीक काम नहीं कर रही थी और अहाते से बाहर निकलने की साथ-साथ कड़ोरिया साहब की अपनीं आँखें भी, एकबारगी, जवाब दे बैठी।

मामला बिगड़ते देखकर जमींदार साहब का विश्वासपात्र बूढ़ा नौकर सामने आया और घोड़े की रास थाम कर उन्हें महल के अहाते के भीतर लिवा ले गया। अहाते के भीतर आ जाने के बाद कड़ोरिया साहब की आँखें फिर ठीक हो गई। आश्चर्य और ग्लानि के मारे उनका बुरा हाल हो गया था।

एक वृद्ध भृत्य ने हाथ जोड़कर कहा— "हुजूर, गुस्ताखी माफ हो। मैं कुछ अर्ज करने की इजाजत चाहता हूँ। मुझे लोगों ने बताया है कि हुजूर बटालावाले

निरंकारी बाबा से मिलने का इरादा लेकर जब-जब विदा होते हैं, तब-तब कोई-न-कोई अबूझ बाधा उपस्थित हो जाती है। निरंकारी बाबा के माहात्म्य की चर्चा यहाँ घर-घर फैली है। लोग कहते हैं कि वे महान् सिद्ध पुरुष हैं। ऐसे लोगों से मिलने के लिए भक्तिभाव के साथ, पाँव-पैदल जाने की ही परंपरा इस मुल्क में है। मुझे लगता है कि घोड़े पर सवार होकर, सिपाहियों और मुसाहिबों की टोली के साथ, उनके पास आपका जाना, साधु बाबा को मंजूर नहीं है। इन विघ्न-बाधाओं के रूप में, शायद उनकी वही नामंजूरी जाहिर हो रही है।"

कड़ोरिया साहब ने भृत्य की बातों का कोई उत्तर नहीं दिया। वे सिर झुकाये महल के भीतर दाखिल हो गये।

दूसरे दिन कड़ोरिया साहब पैदल ही बटाला पहुँचे। सिपाहियों और मुसाहिबों की टोली भी उन्होंने छोड़ दी थी। उनके क्रोध की जगह ले ली थी, नम्रता और दैन्य ने। वे जाते ही गुरु नानक देव के चरणों में गिड़ पड़े। परम कृपालु नानक देव ने उन्हें प्रेमपूर्वक उठाकर हृदय से लगा लिया और सदुपदेश तथा आशिर्वचन के द्वारा उनके प्रति परम सद्भाव का परिचय दिया।

कड़ोरिया ने विनय-विगलित स्वरों में कहा—"महाशय, आपने मेरा दंभ तोड़ कर मुझ पर असीम कृपा की है। मैं इस इलाके को, अपनी जमींदारी के घमंड में, अपनी यथाचार-भूमि मानता रहा। इसमें रहने वाले हर किसी को, अपनी प्रजा मानकर, मैं अपनी शान दिखाना चाहता रहा। मेरा वह घमंड अब चूर-चूर हो गया है। इससे अधिक कल्याण मेरा हो नहीं सकता। अब मेरी समझ में यह बात आ गई है कि अपने को सब से बड़ा बनाने की इच्छा सबसे बड़ा पाप है। परमेश्वर इस पाप को सह नहीं पाते। आपको, प्रभु की उसी पापापहारी कठोरता की कृपामयी मूर्ति के रूप में, मैंने पाया है। अब मेरी प्रार्थना है कि इस उर्वर भूभाग का स्वामित्व, अपने धर्म-प्रचार की केंद्र-भूमि स्थापित करने के निमित्त, कृपया आप स्वीकृत करें। यहाँ, आपके आश्रम के चारों ओर आपके भक्त-परिजनों की बस्तियाँ बसे और कर्त्तार के भजन-पूजन का वातावरण तैयार हो—यह मेरी हार्दिक इच्छा है।"

गुरु नानक देव ने कड़ोरिया के विनय-विगलित भूमि-दान को स्वीकृत करते हुए कहा : "इस पूरी पृथ्वी के एक मात्र स्वामी हैं, वही अकाल-पुरुष। वे ही इस सृष्टि के सिरजनहार, कर्त्तार भी हैं। तुम सचमुच धन्य हो कि कर्त्तार के नाम पर अपनी जमींदारी का यह उर्वर भू-भाग दान देना चाहते हो। आज से इस अंचल का नाम 'कर्त्तारपुर ही रहेगा। लगता है कि हम-तुम दोनों कर्त्तार की इस इच्छा की पूर्त्ति के निमित्त होकर ही यहाँ एक-दूसरे से मिले थे।"

कुछ दिनों के ही भीतर रावी तट का वह उपजाऊ भू-भाग, एक भरे-पूरे गाँव के रूपमें आवाद हो गया। परवर्त्ती काल में उसकी प्रसिद्धि कर्त्तारपुर अंचल के रूप में ही हुई और धीरे-धीरे वह नानक-पंथी सिखों का प्रधान केन्द्र बन गया। तालवंडी ग्राम से नानक के परिवार के लोग और अन्य परिजन भी, उसी भू-भाग में आकर बस गये।

कर्त्तारपुर गाँव के बस जाने के बाद भी, नानक देव की पद-यात्रा जारी रही। एक गाँव से दूसरे गाँव और एक अंचल से दूसरे अंचल की ओर उनका पर्यटन चलता रहा। इसी क्रम में अनेक दीन-दुखियों, अनाथों, पतितों, जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं ने गुरु नानक देव के कृपा-घन-रूप का आश्रय प्राप्त किया। जहाँ कहीं गुरु नानक देव के चरण पड़े, वहीं, नई आशा, नये उत्साह और अपूर्व उल्लास का वातावरण छा गया।

उसी पर्यटन के मार्ग में, एक दिन, गुरु नानक देव को अचानक तालवंडी की याद आ गई। उन्होंने बाला और मर्दाना को पास बुलाकर कहा—"क्या तुम लोगों को राय बुलाड़ की याद कभी नहीं आती? कितना अहसान है, उनका हम लोगों पर! वे न होते तो तालवंडी के चटसार से जीवित बच निकलना क्या मेरे लिए संभव होता? लगता है कि वे हमें याद कर रहे होंगे। हमें चटपट तालवंडी के लिए चल पड़ना होगा, अभी, इसी समय! देर करने से, ऐसा भी तो हो सकता है कि उनसे भेंट ही न हो सके। चलो हमलोग उनसे आखिरीवार मिल ही लें।"

यह कह कर गुरु नानक देव उसी क्षण तालवंडी की राह पकड़ कर, बड़े वेग से चलने लगे। उनके इस आकस्मिक निर्णय ने बाला और मर्दाना को भौंचक कर दिया। मगर जब नानक देव ने तालवंडी चलने का निर्णय कर लिया, तो वे दोनों भी उनके पीछे चल पड़े।

तालवंडी की जमींदार-कोठी उदास और ऊजड़ हो चुकी थी। नौकर-चाकरों, रैयत-मुसाहिबों की तायदाद में कमी नहीं, मगर खामोशी और निराशा की छाया सब के चेहरों पर छाई हुई। राय बुलाड़ रोग-शय्या पर पड़े अन्तिम घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे। इलाके के वैद्यों और हकीमों ने अपनी असमर्थता कबूल करली थी। बचने की कोई आशा नहीं।

मगर नानक देव के आगमन के समाचार ने मुमूर्षु वृद्धके चेहरे पर प्रसन्नता और सन्तोष के भाव को थोड़ी देर के लिए अंकित कर दिया। उन्होंने आँखें खोलीं और नानक देव की ओर वात्सल्यस्निग्ध दृष्टि से देखा। गुरु नानक देव धीर पदों से उनकी शय्याके निकट चले गये और वहाँ खड़े होकर उनके बालों को सहलाने लगे। बोले, "मैं आ गया हुजूर। आपकी बुलाहट का मौन संदेश

मेरे पास पहुँच गया था। मैं आपकी आज्ञा मानकर बीच पथ से लौट आया हूँ।"

राय बुलाड़ ने बोलने की चेष्टा तो की, पर आवाज ने साथ नहीं दिया। आँखों से बाहर आँसू की तरल रेखा कपोल तक चली आई। वे आँसू दुःख और निराशा के नहीं, तृप्ति और कृतार्थता के थे। वे संभवतः कहना चाहते थे— "नानक, तुमसे मिलने की आकांक्षा पूरी हो गई। अब मैं इस दुनिया को छोड़ने में किसी कठिनाई या हिचक का अनुभव नहीं करूँगा। मुझे खुशी है कि तालवंडी के जिस बिरबे को मैंने आशा और विश्वास के प्रेम जाल से सींचा था, वह अब विशाल वृक्ष बनकर अपने पाँवों पर खड़ा है और उसकी छाया पंजाब की धरती को तापमुक्त कर रही है। उसकी सुगंधी संपूर्ण भारत के आकाश को आमोद से प्रक्षालित करेगी। तुम्हारे रूप में मेरी अपनी कृतार्थता ही मेरे सिरहाने में खड़ी है। तुमने मेरी मृत्यु को सुखमय बना दिया है।"

संभवतः राय बुलाड़ के प्राण नानक की ही प्रतीक्षा में अँटके हुए थे। कम से-कम लोगों की धारणा तो ऐसी ही बनी। नानक देव को देखने के लिए धर्म-प्राण वृद्ध जमींदार राय बुलाड़ ने जब मुँदी आँखें फिर खोली तो वे खुलीं, की खुली ही रह गईं। आँसू बहते-बहते रुक गये और पुतलियाँ ठहर कर बुझ गईं। जिस तरह विदुर ने धर्मराज युधिष्ठिर की ओर टकटकी लगाकर देखते-देखते शरीर का त्याग कर दिया था, राय बुलाड़ ने भी, उसी तरह, नानक की ओर देखते-देखते आखिरी साँस छोड़ी। मृत्यु का दृश्य इतना उज्ज्वल, शान्तिमय और विश्रब्ध उल्लास का चित्र अपने पीछे छोड़ जा सकता है, इसका अहसास, इसके पहले, किसी को शायद ही हुआ होगा।

उधर राय बुलाड़ की देह की अन्तिम विधि के संपादन की तैयारी मुसल-मानी कायदे के मुताबिक शुरू हुई और उधर गुरु नानक देव अपने बाल-सखा बाला और मर्दाना के साथ तालवंडी गाँव को छोड़कर अपने यात्रा-पथ पर वापस चल पड़े। रास्ते के ही किनारे बरगद का एक पुराना पेड़ दिखाई पड़ा। दोपहरी की धूप से राहत पाने के लिए, तीनों पथिक उसकी छाया में जा बैठे।

मर्दाना ने सहमते-सहमते कहा: "गुरुजी, यदि इजाजत मिले, तो मैं एक सवाल पूछना चाहता हूँ।"

"जरूर पूछ लो। क्या पूछना चाहते हो?" नानक बोले।

"राय बुलाड़ से मिलने की आतुरता में जब आप तालवंडी को विदा हुए थे, तो राह की थकावट को, यहाँ तक कि भूख-प्यास को भी आपने भूला दिया था। मगर अपने बचपन के उस गाँव के प्रति आपकी प्रीति, राय बुलाड़ के देहत्याग के साथ ही समाप्त क्यों हो गई? सब से हैरत की बात तो यह हुई कि मृत

जमींदार के शोकाकुल परिवार के सदस्यों को ढ़ाढ़स देने की जरूरत भी आपने कतई महसूस न की। राय बुलाड़ साहब की मृत्यु के शोक में आपकी आँखों से आँसू की एक बूँद भी नहीं निकली और एक क्षण रुके बगैर आप अपने पुराने यात्रा-पथ पर जल्दी-जल्दी वापस हो गये। इस बेरुखी को समझ पाना क्या हमारे लिए कठिन होगा ?"

"देखो मर्दाना भाई, राय बुलाड़ बड़े धार्मिक पुरुष थे। मृत्यु ने उन्हें सद्-गति दे-दी। ऐसी स्थिति में उनके लिए शोक करने की जरूरत ही क्या थी ? मृत्यु कोई शोचनीय घटना नहीं, वह जीवन की ही अगली अभियात्रा का प्रवेश-द्वार है। जो वस्तुतः है, उसका कभी अन्त नहीं होता। वह मृत्यु के बाद भी रहता ही है। रूपान्तर मात्र को तो अन्त नहीं कह सकते। और रोना-धोना तो बेवकूफी का एक निरा रस्म है, जिसका कोई अच्छा नतीजा नहीं निकलता। इस रस्मी दिखावे में शरीक होना समय और शक्ति का अपव्यय मात्र होता। तालवंडी की प्रीति की बात तुमने कही, तो उसे भी समझ ही लो। किसी स्थान विशेष के प्रति प्रीति के आधार होते हैं, वहाँ के निवासी प्रियजन। राय बुलाड़, मर्दाना और बाला जिस गाँव में रहते रहें हों, वह प्रिय स्थान तो था ही। मगर अब वहाँ, उन तीनों में कोई भी तो नहीं रहे। परिवार के सदस्य और परिजन गण भी कर्त्तारपुर में जा बसे हैं। ऐसी स्थिति में तालवंडी में रुक कर बीते दिनों को बिसूरना निरर्थक ही होता। तालवंडी को पूरी धरती के रुप में जानना-पहचानना तो बेरुखी का धंधा नहीं हो सकता। इसी तरह एक-एक प्राणी में अपने प्रियजनों को ढूँढने और पाने की चेष्टा हम करें, तो हमारी इस यात्रा को भी बेरुखी की हरकत मानना अनुचित होगा। मुड़कर पीछे देखना, उनके लिए जरुरी नहीं, जिनके आगे लोक-कल्याण का अनन्त यात्रा-पथ प्रस्तुत है।

राय बुलाड़ संसार से जाने के पहले मुझे एक बार देख लेना चाहते थे। उनकी उसी चाह ने मुझे तालवंडी की ओर खींचा, तो मैं भी खिंच आया। यह प्रेम का आकर्षण था, मोह का बन्धन नहीं। वही प्रेम अब इस यात्रा-पथ के रुप में हमें खींच रहा है। हम न खिंचें, तो प्रत्येक प्राणी में निवास करनेवाले और धरती के हर हिस्से को अपनी उपस्थितिके द्वारा तीर्थ बनाने वाले अकाल पुरुष के प्रेम का अनादर होगा। राय बुलाड़ के लिए रोने-धोने के पीछे समय गुजारना हमें उस अवसर से वंचित करेगा, जिस अवसर की प्रतीक्षा में, सुजन और कड़ोरिया-सरीखे असंध्य प्राणी, अजाने ही हमारी अगवानी कर रहे हैं।"

उस दिन गुरु नानक देव कर्त्तारपुर से काफी दूर आगे निकल आये। राजपथ से थोड़ा ही हटकर कोई मेला लगा था। हजारों नर-नारियों के झुंड, दूर-दूर से आकर, वहाँ एकत्र होते जा रहे थे। उत्सव, गान और विनोद के जनरव-पूर्ण वातावरण ने, नानक देव का ध्यान, उस तरफ, सहज ही आकृष्ट कर लिया। पूछ-ताछ करने पर पता चला कि वह मेला एक मशहूर फकीर के जन्म-दिन के अवसर पर हर साल लगा करता है। इलाके की श्रद्धालु जनता इस विशेष अवसर पर फकीर साहब के दरबार में अपनी श्रद्धा निवेदित करने के लिए समारोह-पूर्वक, एकत्र होती है।

फकीर साहब 'सदा सुहागन' के नाम मे प्रसिद्ध हैं। यह सुहावना नाम उन्होंने स्वयं अपने लिए चुना है। वे अपने को, प्रेममय प्रभु की अन्यतम प्रेमिका मानकर, आध्यात्मिक साधना करते-करते सिद्धावस्था प्राप्त कर चुके हैं। कम-से-कम, उनके भक्तों ने तो इलाके की जनता को, यही कह रखा है।

नानक को, उपर्युक्तवृत्तान्त सुनकर, कुतूहल होना स्वाभाविक ही था। वे भी फकीर साहब के दर्शनार्थियों की भीड़ के पीछे-पीछे चल पड़े। फकीर साहब अपने एकान्त प्रकोष्ठ में बन्द हैं। एक भक्त ने नानक देव को सूचना दी—"अभी तो फकीर साहब किसी को दर्शन नहीं देते। अभी उन्हें फुर्सत नहीं है। इस समय तो वे अपने प्रियतम—अल्लाह के साथ प्रेमालाप में मग्न हैं। देखिये ना, दरवाजे के पास दर्शनार्थियों की भीड़ कब से खड़ी प्रतीक्षा कर रही है। मगर किसी को भी तो भीतर जाने की इजाजत नहीं मिलती।"

नानक देव ने कहा—"इस रहस्य का तो पता लगाओ कि आखिर फकीर साहब इतनी देर से क्या कर रहे हैं।" यह कहकर वे पास के एक आम्रकुंज की छाया में जाकर बैठ रहे।

दर्शनार्थियों की एक उतावली भीड़ को नानक देव के उस वाक्य से प्रेरणा मिल गई। एक ताकतवर और साहसी व्यक्ति, फकीर साहब के लिए प्रकोष्ठ के प्रवेश-द्वार पर, पहुँच गया और एकही धक्के में किवाड़ खोलकर भीतर दाखिल हुआ। उसके पीछे उस भीड़ के कई अन्य लोग भी फकीर साहब के एकान्त प्रकोष्ठ में पैठ गये। धर पकड़ और शोर-गुल के बीच दर्शनार्थियों की भीड़ को जो रहस्य ज्ञान हुआ वह अप्रत्याशित और लज्जाजनक था।

सदासुहागन फकीर साहब अपने एकान्त कक्षमें भजन या ध्यान में लीन न थे। उनके प्रियतम अल्लाहताला का भी वहाँ पता न था। वे तो कई तरुणी सुन्दरियों से घिरे, रास-रंग में मस्त थे! इनमें जो तरुणियाँ सन्तान की कामना से फकीर साहब की सिद्धि का लाभ उठाने पहले-पहल आई थीं, वे स्पष्टतः हतप्रभ और विमूढ़ थीं। उन्हें फकीर साहब की सिद्धि का महात्म्य समझाने का काम

अन्य रमणियों का था, जिनकी प्रगल्भता पुराने परिचय का प्रमाण ` रही थी।

यह दृश्य देखने के बाद, दर्शनार्थियों की भक्ति और श्रद्धा को क्षोभ और क्रोध में बदलते देर नहीं लगी। मार-पीट और गाली-गलौज के माहौल से जान बचाकर भाग जाने की फुर्त्ती फकीर साहब ने भी दिखाई और उनके विश्वासी द्वार रक्षकों ने भी। मगर उनके एकान्त-प्रकोष्ठ की साज-सामग्री को क्रुद्ध दर्शनार्थियों की ध्वंस-लीला से बचाया नहीं जा सका। भण्डार-घर के स्वादु पक्वानों को भी रौंद-रौंद कर कीचड़ बना दिया गया। थोड़ी ही देर में दर्शनार्थियों की मण्डलियाँ उपद्रवकारियों की भीड़ बन गई।

नानक देव आम्रकुंज में बैठे अपने भजन में मस्त हैं। उन्हें घेरकर भक्त की जो मण्डली बैठी है, उसे सदासुहागन फकीर साहब की एकान्त-लीला के रहस्योद्घाटन का, अथवा उनके पलायन का पता तक नहीं है। वह महापुरुष के सत्संग और सदुपदेश के रस में निमग्न होकर शान्त भाव चुपचाप बैठी है। नानक देव का नाम इस इलाके में सुविज्ञात था। अतः उनके दर्शन का सौभाग्य पाकर भक्तों का उस तरह प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था।

थोड़ी देर बाद सदासुहागन फकीर साहब, दबे पाँव, छिपे-छिपे, नानक देव के समीप आये और उनके चरणों पर गिरे। तब तक, मार-पीट पर अमादा भीड़ के कुछ लोगों का एक झुंड भी, अपशब्दों की वृष्टि करता, फकीर की खोज में वहीं आ पहुँचा।

नानक देव ने उत्तेजित भीड़ को दृढ़ स्वर में कहा—"आप लोग शान्त हो जायँ। मार-पीट और अपशब्द भाषण का यह व्यापार आपकी श्रद्धा, भक्ति और धर्म प्राणता को प्रमाणित नहीं कर रहा है। भगवान् की जिसने शरण ले ली है, उसका प्रत्येक अपराध क्षम्य है। प्रभु कृपालु है। उनके राज्य में कोई भी पाप अक्षम्य नहीं। फकीर साहब मेरे पास आये हैं। यहाँ इनके प्रति दुर्व्यवहार करना आपके लिए उचित नहीं। इन्हें क्या कहना है, यह मुझे कृपया सुन लेने दीजिये।',

फकीर साहब हाथ जोड़कर कहने लगे—"बाबा, आप दयामय हैं। महत्वाकांक्षा और लोक प्रसिद्धि के मोह में पड़कर मैंने आध्यात्मिक सिद्ध के नाम पर अब तक सचमुच मिथ्याचार, कपट और पाखण्ड का ही अवलम्बन किया है। मेरे भ्रष्टाचारों को बेनकाब करके आपने मुझपर आज असीम कृपा की है। मैं आपकी शरण में हूँ। कृपया मेरे उद्धार का उपाय किया जाय।"

"ठीक है, फकीर साहब, आप भय मत करें। जिस प्रभु ने आपके कपटाचार को बेनकाब कर दिया है, वे ही आपके उद्धार का मार्ग भी प्रकट करेंगे। आप सच्चे निष्कपट हृदय से उन्हें पुकारेंगे, तो वे आपकी मुक्ति का उपाय

अवश्य करेंगे ।"

"बाबा, कृपाकर साधना का संकेत मुझे दिया जाय। मैं आपका ही आश्रय ले चुका हूँ।"

"फकीर साहब, प्रेम का दिखावा करना और झूठे आँसू बहाते रहना, उस प्रियतम को रिझा नहीं पाता। उन्हें बाहरी दुनिया में ढूँढ़ना व्यर्थ है। किन्तु आपकी प्रकृति ने प्रेम की जो साधना चुनी थी, उसे ही पूरी सच्चाई से अपनाकर प्रेममय परमेश्वर की कृपा प्राप्त करना आपके लिए अपेक्षाकृत अधिक सरल होगा। अब तक उस साधना में सच्चाई न थी। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु को धोखा देना संभव नहीं। परम आर्त्तभाव से उस प्रेम मय प्रियतम के प्रति सच्चे, शुद्ध प्रेम-भाव का निवेदन करें। वह आपका उद्धार अवश्य करेंगे।"

नानक देव ने फकीर की आर्त्तता के प्रति द्रवित होकर उन्हें एकान्त में आध्यात्मिक साधन के कतिपय निगूढ़ रहस्य बता दिये और वहाँ से उसी क्षण अपने यात्रा-पथ की ओर चल पड़े। कालान्तर में उसी सदासुहागन फकीर की ख्याति, सिद्ध महापुरुष के रूप में पूरे पंजाब की जनता के द्वारा स्वीकृत हुई।

कर्त्तारपुर के पास-पड़ोस के अंचलों में गुरु नानक देव के अनेक भक्त मुसलमान थे। सूफी साधकों से उनकी अत्यधिक अन्तरंगता थी। उनमें से कुछ लोग हज के सिलसिले में मक्काशरीफ तक पैदल यात्रा कर चुके थे। मदीने के सिद्धों की अद्भुत कथाएँ नानक देव ने उनसे भी सुनी थीं। एक दिन एक मुसलमान भक्त ने अनुनय करते हुए कहा—"बाबा, आप तो हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई फर्क नहीं करते। आपकी नजर में सभी मजहबों को बराबरी का दर्जा नशीब हैं। ऐसी हालत में आप मक्का-मदीने की यात्रा क्या जरुरी नहीं मानते?"

गुरु नानक देव को मुसलमान भक्त की वह सलाह जँच गई। वे कुछ ही दिन बाद हज पर जानेवाले मुसलमान भक्तों के एक काफिले के पीछे-पीछे मक्का-मदीने की यात्रा पर चल पड़े। रेगिस्तान की राह सचमुच कठिन थी। मगर सारी कठिनाइयों के बावजूद गुरु नानक देव इस्लाम के प्रवर्त्तक महापुरुष के उस प्राचीन नगर में एक दिन जा पहुँचे। उस समय थकावट के मारे, उनका अंग-प्रत्यंग शिथिल हो रहा था। प्रधान मस्जिद के पास पहुँचते ही उन्हें नींद ने बेसुध कर दिया। वे मस्जिद की दहलीज पर बैठे-बैठे ही सो गये। फिर यह भी पता नहीं चला कि उन्हें किसने, कैसे, कब, कहां ले जाकर लिटा दिया। निः स्वप्न निद्रा में वे देर तक उसी तरह पड़े रहे। उन्हें इसका भी भान न था, कि उनके पाँव काबा-शरीफ की ओरफैले हैं।

जब नमाज पढ़ने का समय हुआ तो मस्जिद में हाजियों की भीड़ उमड़ पड़ी। एक गुस्सेवर नमाजी की दृष्टि निद्राभिभूत नानक देव की ओर अनायास ही आकृष्ट हो गई। वह चीखने लगा—"कौन हो, जी, तुम ? काबे की तरफ पाँव पसारे खर्राटे भर रहे हो ? इतनी भी तमीज नहीं है कि काबे की तरफ सर रखकर सोना चाहिए, पाँव रखकर नहीं ? फिर यह तो नमाज का वक्त है। अभी सोना था, तो यहाँ क्यों आये ? दरवेश होकर यह क्या कर रहे हो तुम ?"

गुरु नानक देव के कानों में गुस्सेवर नमाजी की कड़कती आवाज जरूर पड़ी। मगर नींद में डूबी आँखों को खोल पाना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ। निद्रा-शिथिल कण्ठ-स्वर ने इतना ही कहा: ',भैया, मैं थक कर लेट रहा। पाँव से अनजाने ही अगर गल्ती हो गई है, तो उसे ठीक कर दो। एक मजबूर इन्सान की भूल को सुधार कर अपनी इन्सानियत को प्रमाणित कर दो भैया ! मैं लाचार हूँ। हाथ–पाँव पर मेरा वश नहीं है। मेरे पाँव जरा उस तरफ को घुमा दो, जिस तरफ काबा न हो।"

नमाजी का गुस्सा घटने के बजाय बढ़ गया। उसने नानक देव की टाँग पकड़ी और उल्टी तरफ को घुमाने लगा। मगर उसे यह देखकर बड़ी हैरन हुई कि नानक देव के पाँव जिस तरफ घुमाये जाते, काबे का रुख उसी तरफ को घूम जाता !

अजनबी दरवेश के चमत्कार की यह कहानी क्षण भर में चारों तरफ फैल गई। मकक्काशरीफ के श्रद्धालु मुसलमानों की भीड़ लग गई। गुरु नानक देव अपने को लोक-प्रसिद्धि से बचाना चाहते थे। अतः वे उसी रात मक्काशरीफ को छोड़कर मदीने की ओर चल पड़े। मदीने के बाद बगदाद होकर कर्त्तारपुर को वापसी यात्रा उन्होंने पूरी की।

दिल्ली में उस समय लोदी खान्दान के सुल्तानों की हुकूमत का अन्तिम दौर चल रहा था। बहलोल लोदी कमजोर और क्रुर शासक था। उसके अत्याचारों और प्रजा-पीड़न की कहानियाँ सर्वत्र फैली थीं। मुगल आक्रामक बाबर अपने थोड़े से घुड़सवारों की फौज के साथ, उसी समय, भारत के पश्चिमी भाग पर आधिपत्य स्थापित करता, पंजाब तक आ पहुँचा था। पठानों की शाही फौज, उससे बार-बार परास्त होकर, भागी फिर रही थी। ऐसे ही समय; नानक देव एक दिन, शामको, कर्त्तारपुर वापस लौट आये।

सुल्तानपुर को मुख्यालय बनाकर, दौलत खाँ पंजाब की सूबेदारी संभालता

आया था। वह बहलोल लोदी का कृपा-पात्र भी था और रिश्तेदार भी। मगर बाबर की फौज के आगमन के समाचार ने उसे चिन्तित कर दिया था और उसकी सेवा आतंक के मारे छिन्न-भिन्न होती जा रही थी।

गुजरानवाला जिले का जो अंचल इन दिनों अमनाबाद के नाम से मशहुर है, उसे उन दिनों सईदपुर के नाम से पुकारा जाता था। सईदपुर के इलाके पर बाबर की फौज का आधिपत्य कायम हो चुका था। अग्निदाह, हत्या और लूट-मार का आतंक चारों ओर व्याप्त था। निरपराध स्त्री-पुरुषों को बड़ी तायदाद में कैद किया जा रहा था। कैदियों की निगरानी की जिम्मेदारी थी बाबर के विश्वासपात्र सेनाध्यक्ष मीर खाँ पर।

नानक देव अपने बाल-सखा मर्दाना के साथ ऐसे ही समय में एक दिन, उस अंचल से होकर कहीं जा रहे थे। बाबरी फौज की छावनी के पास पहुँचते ही, कुछ पूछे बगैर, दोनों को गिरफ्तार कर लिया गया। नानक देव पीतवस्त्र पहने हुए थे, सिर पर पगड़ी थी और गले में रुद्राक्ष की माला। उन्हें साधु समझ कर, जान से मार डालना, जरुरी नहीं जान पड़ा। मगर सेनाध्यक्ष के सामने घसीट कर ले जाने का आम दस्तूर पूरा करना ही पड़ा, उस मुगल सैनिक को।

मीर खाँ ने भी कोई पूछ-ताछ न कर, हुक्म दे दिया; "दोनों को कैदखाने में डाल दो। फौज के लिए रसद तैयार करने का काम जो कैदी कर रहे हैं, उन्हें कह दो कि दोनों से शख्ती के साथ मशक्कत कराई जाय।"

छावनी से दो कोस की दूरी पर कैदखाना था। नानक के सर पर गठ्ठरों का बोझ लादा गया और मर्दाना को साईसी के काम में जोत दिया गया। नानक देव सिर पर भारी बोझ उठाकर भी प्रसन्न थे। मगर मर्दाना मायूस हो चुका था। घोड़े की रास थामे-थामे उसकी कलाई ऐंठ गई थी।

गुरु नानक देव ने मर्दाना को, चलते-चलते, संबोधित किया—"मर्दाना, इस बवाल में पड़कर, प्रभु का भजन करना भी मुमकीन नहीं हुआ। निकाल, अपना तँबूरा और एक-दो भजन हो हीं जाय। हरि-भजन के बगैर वक्त गुजारना अच्छा नहीं लगता।"

"गुरुजी, मेरे दोनों हाथ तो घोड़े की रास सँभालने में फँसे हैं। तँबूरा बजाना मुमकिन हो, तो कैसे? जरा रास छोड़ दूँ तो घोड़ा छू-मन्तर हो जायगा। फिर ये हत्यारे मुगल सैनिक जान लेकर ही छोड़ेंगे। हमारी भाषा न वे जानते हैं और न ही उनकी भाषा हम जानते हैं। कहने-सुनने की मुहलत भी नहीं मिलेगी।"

"अरे, अकाल पुरुष की महिमा में अब तक भी तुझे पक्का विश्वास नहीं

हुआ ? प्रभु के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण हो जाने के बाद चिन्ता किस बात की ? जो परमेश्वर पूरी दुनिया को इतनी अच्छी तरह चला रहे हैं, उनके रहते घोड़ा भागकर कहाँ जायगा ? छोड़ दे रास, और तँबूरा बजा।"

मर्दाना ने गुरु की आज्ञा का पालन किया और अपने तँबूरे पर भजन की धुन बजाने लगा। फिर तो गुरु नानक देव के मधुर स्वर ने भजन की झड़ी लगा दी।

पीछे-पीछे कैदियों की कतार चल रही थी और कोड़े फटकारते सैनिकों की छोटी-सी टोली। भजन के सुमधुर वातावरण ने उन्हें भी अभिभूत कर लिया था। कैदियों को गाने-बजाने की इजाजत न थी। मगर उस कायदे की याद किसी को नहीं आई। नानक देव की ओर मुगल जमादार ने देखा, तो वह विस्मय- बिमूढ़ हो गया। उनके सिर का भारी बोझा उनके सिर पर न था। उनके सिर से, हाथ भर ऊपर उठकर, वह अधर में टिक रहा था और नानक देव की गति का अनुसरण करता हुआ, आप ही-आप, आगे की तरफ, खिसकता जा रहा था। मर्दाना के घोड़े के साथ भी यही बात थी। वह मर्दाना का अनुसरण, नपी-तुली चाल के साथ, करता जा रहा था। उसकी रास मर्दाना ने छोड़ दी थी। मगर भजन की धुन उसकी गति को सँभाले हुई थी।

किसी मुगल सैनिक के मुँह से, इस अनोखी घटना का वृतान्त बाबर के कानों तक पहुँचा। वह चकित हुआ। साधु-सन्तों के प्रति उसके हृदय में स्वभाविक श्रद्धा थी। उसने कहा—"चलो मेरे साथ, मुझे उस हिन्दु फकीर से मिला दो।"

उस समय गुरु नानाक देव कैदियों के साथ बैठे, चक्की चला रहे थे। दो मन गेहूँ पीसकर उसका आटा फौजी रसद के लिए पहुँचा देने की जिम्मेदारी उस पर कैदखाने के जमादार ने दे रखी थी। वे वही जिम्मेदारी पूरी करने में व्यस्त थे।

बाबर उनके पास, दबे पाँवों, अकेले हीं पहुँचा। नानक देव धीरे मंद स्वर में गुन-गुनाकर कोई भजन गाये जा रहे थे। उनका एक हाथ चक्की के हत्थे पर था। दूसरे हाथ से वे मुट्ठी भर-भरकर चक्की के मुँह में, गेहूँ डालते जा रहे थे। मगर बाबर को जान पड़ा कि नानक देव की सारी हरकतों के बावजूद, चक्की आप ही चल रही है।

बाबर से अब रहा नहीं गया। उसने नानक देव के सामने जाकर सलाम अर्ज किया। बोला—"मैं आपकी कौन-सी खिदमत करूँ ?"

ध्यानावस्थित गुरु नानक देव को अर्ध-मुद्रित आँखों को बाबर की उपस्थिति का पता न चला। भजन के धीर मंद-स्वर में मग्न रहने के कारण बाबर

के कथन पर भी उनका ध्यान नहीं गया। तब तक सेनाध्यक्ष अमीर खाँ, कैदखाने के अधिकारियों के साथ, वहाँ खुद आ पहुँचा। उसने मुगल बादशाह से गुरु नानक देव का परिचय कराया और सिरझुकाये, कायदे के साथ, चुपचाप खड़ा हो रहा।

नानक देव ने बाबर से निवेदन किया—"जहाँपनाह, आप तो खुराशान पर शासन कर चुके हैं, फिर हिंदुस्तान पर इस तरह आफत ढाना जरूरी क्यों हुआ? आज जो हालत लोदी खान्दान के सुल्तान की है, क्या मुगल खान्दान के बादशाह की भी, एक दिन, वही हालत नहीं हो सकती? फिर हत्या, नगर-दाह और लूट-मार का बोझ उठाने से क्या लाभ? परमेश्वर की महिमा को अनदेखाकर अपने क्षणिक प्रताप का विज्ञापन करना अन्ततः बेकार का धन्धा ही तो है?

बाबर गुरु नानक देव के कथन पर विचार करता रहा। कुछ देर मौन रहने के बाद उसने कहा—"जो हो गया, उसे अनहुआ करना तो मुमकिन नहीं है। अब क्या किया जाय—यह मुझे जरूर बतादें, आप।" नानक देव ने कहा—"सईदपुर के जिन लोगों को कैद कर लिया गया है, उन्हें रिहा कर देना यदि मुमकिन हो, तो जहाँपनाह वैसा जरूर करा दें।"

बाबर के हुक्म से उस इलाके के तमाम कैदी उसी क्षण मुक्त कर दिये गये। कैदखाना कैदियों से खाली हो गया।

गुरु नानक देव ने बाबर को वचन दिया—'मैं मौका खोजकर आपसे खुद मिलूँगा। तभी हमारी बातें होंगी। आप से मिलना मेरे लिए भी जरूरी ही था। यह काम परमेश्वर ने किसी बहाने पूरा कर दिया। उनकी कृपा अपरंपार है।"

यह कहकर मर्दाना के साथ वे अपने यात्रा-पथ पर उसी समय चल पड़े। बाबर अपने सरदारों और सैनिकों के साथ अपने पड़ाव की ओर विदा हुआ।

सईदपुर अंचल की धरती खून से भींग गई थी। जलते घरों की आग अभी तक बुझी न थी। सड़कें लाशों से पटी थीं। स्यारों और गीधों में छीना-झपटी मची थी। संयोग से ही कोई जीवित मनुष्य कहीं दिख जाता था। एक गाँव से स्त्रियों के क्रन्दन की आवाज आ रही थी। कोई किसी का पुरसाँ हाल नहीं।

मर्दाना ने चलते-चलते गुरु नानकदेव से प्रश्न किया—"गुरुजी, आप कहते हैं कि परमेश्वर अपनी पूरी दुनिया को ठीक-ठीक चला रहे हैं। लोदी खान्दान ने खिल्जी खान्दान को मटियामेट किया, तो लोदी खान्दान को मुगल खान्दान के हाथों पामाल किया जाय—इसमें तो खुदाई इन्साफ की बात समझी जा सकती है। मगर इन बेगुनाह नर-नारियों को हर आक्रमण-कारी फौज बार-बार इस तरह रौंदती रहे—इसके पीछे कौन-सा इन्साफ है? दुनिया ठीक-ठीक चल रही है, ऐसा मानना, कभी-कभी मुश्किल हो जाता है।" नानक देव ने मर्दाना

के कथन का कोई उत्तर नहीं दिया।

तब तक शाम हो आई थी। राजपथ के ही किनारे एक सघन कुंज था और उसके भीतर एक छोटी सी झोपड़ी थी। झोपड़ी से थोड़ा हट कर एक वृक्ष था, पके फलों से लदा हुआ। नानक देव ने झोपड़ी के भीतर रात बिताने का निश्चय किया और मर्दाना को आज्ञा दी कि वह रात भर उसी वृक्ष के नीचे बैठकर झोपड़ी की रखवाली करे।

मर्दाना जिस पके फलोंवाले वृक्ष के नीचे बैठा था, उससे रात भर मीठा रस टपकता रहा। मर्दाना के कपड़े और शरीर को भी वह रस-वृष्टि भिगोती रही। चीटियों की जमात मिठास के लोभ से जब कभी मर्दाना पर आक्रमण करती, उन्हें मसल कर मार डालना उसके लिए जरूरी हो जाता। फिर भी बचाव कठिन था। सुबह होने से पहले ही मर्दाना के पूरे शरीर पर चीटियों के दंश ने चकत्ते उगा दिये थे। पूरी रात आँखों में काटकर वह जब गुरु नानक देव के पास अगले सुबह हाजिर हुआ, तो भजन की बेला शुरू हो चुकी थी।

सूर्योदय के बाद नानक देव ने मर्दाना की रोनी सूरत पर निगाह डाली। बोले—"तुम अस्वस्थ लग रहे हो। चलो, उस स्थान को जरा देख आऊँ, जहाँ तुम रात भर जगे रह गये हो। कोई गड़बड़ी वहाँ जरूर हुई होगी।"

उस स्थान पर पहुँचते ही नानक की निगाह मरी चीटियों पर पड़ी। मिठास के लोभ में आकर, वे मर्दाना को अजाने ही कष्ट पहुँचा रही होंगी और मर्दाना ने भी उन्हें अजाने ही मसलकर मार दिया होगा। यह बात समझने में गुरु नानक देव को देर नहीं लगी।

नानक देव ने कहा—"मर्दाना, कल तुमने जो सवाल पूछा था, उसका उत्तर यहाँ आज मिल गया है। चीटियाँ यहाँ तुम्हें काटने के लिए नहीं आई थी; वे तो रस का मिठास पीने आई थीं तुम भी चीटियों को मारने के इरादे से यहाँ नहीं आये थे; तुम तो अजाने ही और आप-ही-आप हो गया ना, जो किसी को भी अभीष्ट न था? चीटियों ने तुम्हें काटा और तुमने भी चीटियों को मारा। दुनिया में भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है। सृष्टि और ध्वंस की यह स्वाभाविक गति, परमेश्वर के लीलामय ऐश्वर्य की उपज है, वह उसके न्याय-विचार को खण्डित नहीं करती।"

कहते हैं कि वादे के मुताबिक दूसरे ही दिन गुरु नानक देव मुगल बादशाह बाबर के पास, उसके पड़ाव पर पहुँचे। अनुश्रुति यह भी है कि नानक देव की कृपा के ही परिणाम-स्वरूप उसने नशे की अपनी पुरानी आदत से अपना पिण्ड छुड़ाया।

पंजाब के अंचल में नानक देव की पद यात्रा जारी रही। मर्दाना उस यात्रा में उनका साथ कभी नहीं छोड़ता। उस दिन हसन अब्दुल नामक एक बस्ती में दोनों साथ-साथ पहुँचे। मर्दाना को प्यास लग आई थी। मगर पास-पड़ोस में कोई कुआँ या जलाशय न था।

पानी की खोज में वे एक पुराने टीले के पास पहुँचे। टीला बहुत ऊँचा था और उसके शिखर भाग पर एक छोटी-सी कुटिया थी। लोगों ने बताया कि उस कुटिया में फकीर वली कवन्दरी नामक कोई मुसलमान सिद्ध अर्से से रहा करते हैं। उनकी कुटिया के पास एक दरगाह है। दरगाह के पास एक पुराना कुआँ भी है।

नानक देव टीले के नीचे आकर खड़े रहे और मर्दाना जल पीने की आशा में टीले पर चढ़ गया। उसने फकीर साहब को विनय पूर्वक अपना अभीष्ट बताया और यह भी निवेदित किया कि गुरु नानक देव जल की प्रतीक्षा में नीचे खड़े हैं।

नानक देव का नाम सुनते ही फकीर साहब गुस्से के मारे आग-बबूला हो उठे। उन्होंने गरजते हुए कहा—"तुम्हारे गुरु की यह शेखी समझ में नहीं आती मुझे। जो इस इलाके में घूमना-फिरना चाहता हो, वह मेरे दरबार में कभी एक बार भी हाजिर न हो, ऐसा घमण्ड बर्दाश्त करने की चीज नहीं। क्या तुम्हारे गुरु को मामूली तमीज से भी कोई वास्ता नहीं है? बड़ा करामाती साधु है, तो जा, उसी से पानी माँग। मैं अपने कुएँ से एक चुल्लू जल भी तुझे न लेने दूँगा।"

मर्दाना अपना-सा मुँह लेकर वापस लौट आया। उसने उस फकीर के गुस्से की पूरी बात ज्यों-की-त्यों गुरु नानक देव को बता दी।

नानक देव के होठों पर मुसकान की रेखा खिंच आई। वे बोले—"मर्दाना, एक बार पूरी श्रद्धा के साथ जोर से बोल—सत श्री अकाल। फिर तुम जहाँ खड़े हो, वहाँ की मिट्टी को हाथ से थोड़ा-थोड़ा कर, हँटा दो। परमेश्वर की कृपा होगी, तो फकीर साहब का कुआँ टीले से उतर कर आप ही तेरे पास आ जायगा। फिर जितना चाहो, जल पी लेना और एक चुल्लू फकीर साहब को भी दे-देना।"

सिख-ग्रन्थ 'जनमसाथी' में लिखा है कि मर्दाना ने गुरु की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। फिर क्या था, धरती फोड़कर निर्मल जल-स्रोत ऊपर उमड़ आया और मर्दाना ने स्वच्छ शीतल जल का जी भरकर, पान किया।

उधर मुसलमान फकीर क्रोध से उन्मत होकर टीले पर खड़े-खड़े गालियाँ बकने लगे। उनके चीत्कार से पता चला कि उनका कुआँ जल-शून्य होकर नीचे धँसता चला जा रहा था। अन्ततः उन्होंने पत्थर के एक बड़े खण्ड की

ठीक उसी जगह पर ठेल गिराया, जहाँ गुरु नानक देव खड़े थे। संयोग का ही चमत्कार हुआ कि थोड़ी दूर तक लुढ़कने के बाद वह पाषाण-खण्ड बीच में ही थम गया। यदि वह लक्ष्य तक पहुँच जाता, तो नानक देव की शरीर-रक्षा संभव न होती। फकीर ने जान-लेवा प्रहार किया था। मगर गुरु नानक देव ने उस प्रहार को बीच में ही स्तंभित कर दिया। कम-से-कम सिख-संप्रदाय की यही श्रद्धा है।

अद्भुत घटना घटित हो गई। मुसलमान फकीर का हाल देखने लायक था। उनकी करामात की सिद्धि कपूर की तरह क्षण भर में उड़ गई। घमण्ड और क्रोध की जगह निष्फलता ने ले ली। अन्ततः वे टीले से उतर कर गुरु नानक देव के पास, सर जमीन पर आ गये। उनकी आर्त्तता ने कृपालु नानक देव के हृदय को विगलित कर दिया। फकीर वली कवन्दरी गुरु नानक देव की कृपा पाकर कृतार्थ हुए।

कहते हैं कि नानक देव ने हाथ के पंजे के सहारे उस दिन जिस पाषाण-खण्ड को बीच में ही स्तंभित 'कर दिया' था उस पाषाण-खण्ड पर पंजे का चिह्न अब तक अंकित है। उनके योग-बल से, टीले के नीचे जो जल-स्रोत फूटा था, झरने के रूप में, वह भी, अभी तक विद्यमान है। हसन अब्दुल नामक वह प्राचीन स्थान, उस दिन की चामत्कारिक घटना के बाद, पंजा-साहब के नाम से विख्यात हो गया। धर्म-परायण सिख यात्री पंजा-साहब को अपने पवित्र तीर्थ के रूप में सादर स्वीकार करते हैं।

एक बार पैदल यात्रा के क्रम में नानक देव पुरी-धाम तक जा पहुँचे। सायंकाल की पूजा-आरती का पुण्यमय वातावरण उन्हें जगन्नाथ देव के मंदिर में खींचकर ले गया। मंदिर के प्रवेश-द्वार को पार करते ही वे भावावेश में बेसुध हो गये।

उस दिन की आरती-वेला का समारोह सचमुच अद्भुत था। श्रद्धालु भक्तों की भीड़, समुद्र के उत्ताल तरंगों की तरह, एक-के-पीछे-एक, आ-जा रही थी। वाद्य, गान और नृत्य का सम्मोहक आयोजन साथ-साथ जारी था। वर्ण-वर्ण के ताजे फूलों का अम्बार लगा था। किन्तु नानक देव का ध्यान उस ओर न था। वे आसन पर ध्यानमग्न निश्चल बैठे थे और उनकी आँखों से अश्रुधारा का अविरल प्रवाह जारी था।

एक वावदूक पण्डे का ध्यान नानक देव की ओर आकृष्ट हुआ। उसने उन्हें दुरदुराते हुए कहा—"बाबा, महाप्रभु के मंदिर में बैठकर आप इस तरह पाखण्ड क्यों पसार रहे हैं। देखने में तो साधु-जैसे लगते हैं आप, माला-चंदन धारण किये हुए हैं। मगर महाप्रभु के आरती-समारोह की भी आपने उपेक्षा कर दी! यह तो साधु-वेशी हिन्दू के अनुरूप आचरण नहीं हुआ, आपका!"

नानक देव ने उत्तर दिया—'भैया, हमारे जगन्नाथ देव काष्ठ-मूर्त्ति के कठघरे में कैद नहीं हैं। वे सर्व-व्यापक जगन्नियन्ता हैं। वे अपनी महिमा से आप ही दीप्त हैं। उन्हें आरती से ज्योति उधार लेने की जरुरत नहीं होती। हाँ, श्रद्धालुओं के श्रद्धा-दीपों को भी वे कृपापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन श्रद्धा के निवेदन को दिखावे के समारोह की आवश्यकता नहीं होती।''—कहते-कहते उनके मुख से भजन की कुछ पंक्तियाँ फूटकर गीत बन गई—

''गगन थालु, रवि चंदु दीप हैं,
तारक-मंडल मोती,
घूपु मलयाचल पवन चँवर करे
सगल बरए फल जोती।
कैसी आरती होई,
भव-खंडना, तेरी आरती कैसे होई।
अनहद सबद बजंता भेरी,
पुरुष निरंजन सोई।''

गुरु नानक देव के मधुर कण्ठ-स्वर के ऐश्वर्य से ओतप्रोत भजन की उन पंक्तियों ने जगन्नाथ देव के विशाल मंदिर में उपस्थित भक्तों को अभिभूत कर लिया। सभी उन्हें घेर कर खड़े हो गये। बाद में उन्हें यह भी पता चला कि मंदिर में भजन गानेवाले पंजाबी साधु कोई साधारण व्यक्ति नहीं, वे हैं—गुरु श्री नानक देव महाराज।

पुरी से वापसी यात्रा में गुरु नानक देव की इच्छा ब्रजभूमि में रमने की हुई। श्रीकृष्ण की पवित्र जन्म-भूमि मथुरा उनके हृदय को बचपन से ही प्रिय थी। इस बार मथुरा अंचल के भ्रमण का सौभाग्य पाकर वे फूले नहीं समाये।

एक दिन यमुना के श्याम जल में स्नान कर वे अपने पड़ाव की ओर लौट रहे थे, कि उनकी दृष्टि एक अन्धे भिखारी पर पड़ी। वस्त्र के नाम पर उसने एक फटी गुदड़ी ओढ़ रखी थी। गाँव-घर के लोग उसे तीर्थस्थान में लाकर एक दिन छोड़ गये। तब से वह राह से गुजरनेवाले लोगों की दया के सहारे जी रहा है।

भिखारी के आश्रय-हीन जीवन की कथा सुनकर गुरु नानक देव की आँखें सजल हो आई। वे उसके पास जाकर खड़े हो गये। बोले—''भैया, गुजरनेवाले राहीयों की दया के सहारे नहीं, परमेश्वर की करुणाके सहारे जीवन के शेष दिन व्यतीत करना चाहिए। श्रीकृष्ण की जन्मभूमि में रहकर भगवान् के भजन गाते रहो। वे सबका भार उठाते हैं, तो तुम्हारा भार क्यों न उठायेंगे।''

इतना कहकर उन्होंने अपने कमण्डलु से एक चुल्लू जल हाथ में ले लिया और उस जल से अंधे की दोनों आँखें में छीटे दिये। अन्धा आनंद-विह्वल होकर सहसा चिल्ला उठा—

"क्या आप ही नानक महाप्रभु हैं? रात स्वप्न में मुझे यही बताया गया था। सचमुच मेरी आँखों की रोशनी लौट आई है। सब-कुछ साफ-साफ दिखाई दे रहा है। स्वप्न में मुझे यही बताया भी गया था। पर स्वप्न की बात पर भरोसा करना मेरे लिए संभव नही हो पा रहा था। स्वप्न में मुझे बताया गया था गुरु नानक देव की कृपा से मेरा अन्धत्व दूर हो जायगा। क्या आप गुरु नानक देव नहीं हैं?"

नानक देव ने अपनी हँसी छिपाते हुए कहा—"अरे नाम में क्या रखा है? नानक नाम के हजारों लोग हुए और होंगे। इस फालतू सवाल के पीछे क्यों पड़े हो, भैया? मगर यह तो बताओ कि स्वप्न में तुम्हें किसने क्या कहा था?"

भिखारी के आनन्द की सीमा न थी। वह नानक देव के चरणों पर साष्टांग लेट गया। फिर आनंद-विह्वल कण्ठ-स्वर को सँभालकर बोला—"बाबा, सपने में मुझे गोविन्द जी ने दर्शन दिया। वे मेरा नाम लेकर मुझे पुकार रहे थे। उनकी वही पुकार मुझे उनके पास खींचकर ले गई। मुझे रोते देखकर उन्होंने कहा—इस तरह मत रोया करो। तुम्हारे दुःखों का अन्त शीघ्र ही होगा। नानक देव मथुरा की यात्रा पर निकल चुके हैं। उनकी कृपा से तुम्हारा अंधत्व शीघ्र ही समाप्त हो जायगा।"

नानक देव वहाँ से चलने लगे, तो भिखारी राह रोककर खड़ा हो गया। बोला—"प्रभु, आपकी कृपा से जगत् को देखनेवाली आँखें तो मुझे मिल गईं। मगर इनकी बिसात बहुत थोड़ी हैं। एक-न-एक दिन मृत शरीर के अन्यान्य अंगोंपांगों की तरह, इन आखों को भी, चिता पर भस्म होना ही है। यदि कृपा की है, तो कृपया उन आँखों का अन्धत्व भी दूर कर दीजिये, जो जगत् को नहीं, जगदीश्वर को देखने में सहायता करती हैं।

कहते हैं कि नानक देव की कृपा पाकर वह भिखारी सचमुच सनाथ हो गया। मथुरा-वासियों के बीच नानक देव के प्रथम शिष्य के रूप में उसे असीम प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

नानक देव के जीवन-प्रसंग योग विभूति की दन्त-कथाओं से ओत-प्रोत हैं। किन्तु महापुरुष की मिहमा, चमत्कारों में नहीं, उनकी सर्व-सुलभ मानवीय संवे-

दनशीलता के द्वारा ही, प्रकट होती है। गुरु नानक देव भी मानवीयता की उज्ज्वल करुणा की मूर्त्ति के रूप में ही लोक-पूज्य हुए और आनेवाली सदियों में भी सर्व-जन-सुलभ लोक-गुरु के रूप में पूजे जाते रहेंगे—इसमें सन्देह नहीं।

जपुजी के आरंभ में ही उन्होंने अपने प्रतिपाद्य का सार-भाग अंकित कर दिया :—

"एक ओम् सति नामु करता,
पुरुखु निरभउ निरवैरु
अकाल मूरति अजून
सैभं गुरु प्रसादि।"

तत्व-ज्ञान की उपलब्धि के प्रधान उपाय के रूप में वे नाम-जप का निर्देश दे गये हैं। गुरु-मुखी होकर, गुरु के प्रति सतत उन्मुख और आश्रित रहकर—गुरु की कृपा पर भरोसा रखना, उपासक को निर्भय, निर्वैर और निश्चिन्त कर देता है—ऐसा वे बार-बार बताते हैं। नाम-जप इस भरोसे को कायम रखनेवाला सर्वोत्तम और सरलतम उपाय है। 'जपुजी' में वे इस तथ्य का उद्घोष करने के बाद कहते हैं—

"सुनि ए जोग जुगुति की भेद,
सुनि ए सासत सिमरिति वेद,
नानक जगता सदा बिगासु,
सुनि ए दूख पाप का नासु।"

गुरु नानक की पूरी जीवन-कथा अविरत तपस्या, सतत लोक-सेवा और निष्काम कर्मयोग की सरलता और सरसता की सदानीरा है। इस संपूर्ण समन्वय-साधना को निम्नलिखित रूपक के सहारे वे स्वयं हमें समझा गये हैं—

"इद्रिय-संयम है भाती, और धैर्य है सुनार। मति, शुभ-ब्रुद्धि और संकल्प है निहाई। वेद अर्थात् शास्त्रों का अनुशासन है, हथौड़ा। परमेश्वर के प्रति समय चाकरी की तत्परता है, सुहागा और तपस्या है आँच। प्रेम ही वह भाण्ड है, जहाँ सोने को रखकर, इच्छित आकार की योग्यता दी जाती है। सत्य टकसाल है और गुरु का उपदेश है सुवर्ण-रस। सद्गुरु की कृपा जिसे प्राप्त है, वही इन सभी युक्तियों को साध कर अलंकार तैयार कर सकता है। नानक कहते हैं, कृपामय अकाल पुरुष, जिसे भी चाहें, कृतकृत्य कर सकते हैं।"

'जपुजी' के आरंभ में गुरु नानक देव वाह्याचारों की निरर्थकता पर विचार करते हुए कहते हैं—

"लाख-लाख बार शौच–क्रिया करते रहने मात्र से कोई पवित्र नहीं हो

जाता। मौन अवलम्बन कर लेने से ही चित्त की चंचलता दूर हो जाती है। ऐसा मान लेना भी निरर्थक है। सप्तपुरी का ऐश्वर्य प्राप्त कर लेने पर भी विषय-वासना से पिण्ड नहीं छूटता। कोई भी चतुराई, इस लोक से परे जाकर, जीवात्मा को मदद नहीं पहुँचाती। एक बार यह भी तो सोचो की-जब प्रकाश-स्वरूप परमेश्वर का साक्षात्कार चाहते हो, तो माया के ये आवरण भला किस काम आयेंगे ? पर प्रकाश–स्वरूप परमेश्वर का साक्षात्कार उस जीवन को कैसे प्राप्त होगा, जो कि आवरण में लिपटकर ही पैदाहोता, जीता और मरता है ? इस प्रश्न के उत्तर में गुरु नानक देव कहते हैं—

"सतनाम का निरंतर जप करते-करते अज्ञान-तिमिरांध जीव की दृष्टि माया के आवरण को छिन्न-भिन्न कर सकने की योग्यता अर्जित कर लेती है। गुरु की कृपा का प्रकाश, ऐसी स्वच्छ दृटि के ही काम आता है। फिर जब माया के सारे आवरण-तंतु एक–एक कर, क्षीण हो जाते हैं, तो तिमिरान्ध का उच्छेद मुहुर्त्त मात्र में संभव होकर, अकाल-पुरुष का साक्षात्कार होता है।"

नानक-पन्थी सिखों का 'गुरु ग्रन्थ साहिब' विश्व के अन्यसम धर्मग्रंथों में से एक है। जिस प्रकार अपौरुषेय वैदिक-संहिताओ में प्राचीन ऋषियों के द्वारा दृष्ट मंत्रों का संकलन किया गया था, उसी प्रकार उक्त धर्म–ग्रंथ में तत्परवर्ती युग के सन्तों और भक्तों के दिव्य अनुभवों और आप्त उपदेशों का संकलन किया गया है। तब भी यह तो मानना ही होगा कि सर्व-संत-सम्मत धर्म का यह सिख-पंथी वाङ्मय मुख्यतः गुरु नानक देव के ही युगान्तरकारी आयोजन की उपज है। इस सम्बन्ध में श्री विजय कृष्ण गोस्वामी लिखते हैं—"मैं जितने धर्म-ग्रंथों का पाठ करता हूँ, उनमें 'गुरुग्रंथ साहिब' सबसे अधिक सुन्दर, मधुर और मार्मिक है या नहीं, ऐसा प्रश्न मेरे मन में बार-बार उठा करता है। शायद गुरु नानक देव ने ही पहले-पहल यह बताया कि ब्रह्मा केवल ज्ञान-योग के परम आराध्य ही नहीं हैं, वे हमारे गरु भी हैं, माता-पिता भी, राजा, चिकित्सक और प्रिय भी।"

गोस्वामी श्री विजय कृष्णजी अपने संपर्क में आनेवाले भक्तों और साधकों को उस ग्रंथ के पाठ के लिए उत्साहित करने के क्रम में कहा करते—"बंगला भाषा में रचित 'चैतन्ह चरितामृत' हिन्दी भाषा में रचित तुलसी दास के 'रामचरित मानस' और गुरुमुखी लिपि में संकलित गुरु नानक देव के 'गुरुग्रंथ—साहिब' की तरह सर्वाङग सुन्दर भक्ति-ग्रंथ विश्व-वाङ्मय के अन्यतम रत्न हैं।"

कहते हैं कि सिख-ग्रंथ के पाचवे गुरु—गुरु अर्जुन ने पूर्वतन संतों की वाणियों का संग्रह तैयार किया था और उन के गुरु-भ्राता गुरुदास ने उस संकलन के अनुलेखन का कार्य पूरा किया था। उक्त संकलन, आगे चलकर 'आदि ग्रंथ

साहिब' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके बाद भाई मणि सिंह नामक एक परवर्ती श्रद्धालु सिख-संग्रहकार ने दसवें सिख-गुरु-गुरु गोविन्द सिंह की रचनावली का संकलन 'ग्रंथ साहिब' के नाम से किया। इन्हीं संकलनों की तरह, भाई गुरुदास रचित 'उसर' तथा 'कोवित्' नामक ग्रंथ भी सिख-मतावलम्बी श्रद्धालुओं को अत्यधिक प्रिय हैं। सिख-पन्थियों के अन्य प्रिय ग्रंथ हैं, सेवादास रचित 'जनम साथी' और भाई सन्तोष सिंह रचित 'गुरु प्रताप सूरय'

नानक देव के अन्यत शिष्यों में भाई बुधा, अंगद और श्रीचन्द। भाई बुधा का नाम करण 'रामदास' के रूप में स्वयं नानक देव के द्वारा किया गया था। श्रीचन्द या श्रीचाँद गुरुदेव के पुत्र भी थे और शिष्य भी। पश्चिमोत्तर भारत में इन सभी को सिद्ध महापुरुष के रूप में उल्लेखनीय माना जाता रहा।

'अमृतसर' नगर का नामकरण जिस पुराने तालाव के नामपर हुआ, उस तालाव का संबंध भी लोक-प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार, नानक देव और गुरु अंगद की एक यात्रा-कथा से जोड़ा जाता है। कहते हैं कि एक दिन गुरु अंगद पंजाब के उस अचल में गुरु नानक देव के साथ पर्य्यटन कर रहे थे। ग्रीष्म के प्रचण्ड आतप से पेड़-पौधे और ताल-तलैया सूख गये थे और कुएँ भी जल-शून्य हो गये थे। ऐसे प्रतिकूल मौसम के बावजूद गुरु नानक देव की अखण्ड यात्रा जारी थी। पैदल यात्रा को आध्यात्मिक साधना और लोक-संपर्क का अंग मानकर ब्रह्मर्षि विनोबा भावे ने जो सामाजिक और वैचारिक आन्दोलन शुरू किये, भारत में उसके प्राचीन प्रवर्त्तकों की चर्चा करते समय, गुरु नानक देव, भगवान् बुद्ध, आचार्य शंकर और संत ज्ञान देव का उल्लेख, करना वे कभी न भूलते थे।

ग्रीष्म की आतप-तप्त दोपहरी में पर्य्यटन करते-करते प्यास लगना अस्वाभाविक नहीं। सो, अंगद देव भी, उस दिन, प्यास से व्याकुल हो उठे थे। आस-पास में कोई गाँव-घर नहीं था। तालाव-तलैये मिले भी, तो उनमें पानी का पता नहीं। अंगदजी ने अपनी बेवशी की बात बताई, तो गुरु नानक देव ने उन्हें अगले पड़ाव तक चलकर जल के संधान का आश्वासन दिया।

अगले पड़ाव पर सचमुच एक तालाव था। नानक देव पास के एक वृक्ष की छाँह में ठहर गये और अंगद देव जल की आशा में उस तालाव तक, जा पहुँचे। मगर जल वहाँ नहीं मिला। तालाव की मिट्टी, जल के अभाव में, दरक चुकी थी। वापस आकर अंगद देव ने अपने गुरु को यह बात बता दी। नानक देव ने मुसकान छिपाते हुए, तृषातुर शिष्य को डाँटा—"अंगद, तुम्हें अभी तक न अपने गुरु के वचन पर श्रद्धा हुई है, न अकाल-पुरुष की महिमा का भान हो पाया है। तालाव में जल अवश्य रहा होगा, तुमने खोजने में हीं गल्ती कर दी

है। जाओ, एक बार फिर, प्रभु का नाम लेकर। उस तालाव में जल जरूर है। पर कहाँ है, यह खोजने पर ही पता चलेगा।"

निदान अंगद देव गुरु की आज्ञा मानकर उस तालाव पर दुवारा पहुँचे और 'वाहे गुरुजी' की हाँक लगाई। इस बार उन्होंने देखा कि तालाव निर्मल शीतल जल से लबालब भरा हुआ है! अपनी आँखों पर उन्हें सचमुच अविश्वास करना पड़ा। उस बार, संभवत: आँखों की ही भूल से, यही तालाव सूखा दिखाई पड़ा था! अब गुरुजी ने वह भूल सुधार दी है। यही सोचते-विचारते अंगद जी ने जी भर कर जल पी लिया और गुरुजी को पूरी बात वता दी।

गुरु-कृपा की अदभुत कथा शीघ्र ही पूरे अंचल में फैल गई और उस तालाव का दर्शन करने पूरे पंजाव से तीर्थ-यात्रियों के झुण्ड एकत्र होने लगे। उन्होंने उस तालाव को भी एक सुन्दर नाम दे दिया—'अमरित सायर' का!

परवर्ती काल में चौथे सिख-गुरु गुरु रामदास ने उस तालाव को बृहत् सरोवर का रूप दिया और उस सरोवर के वीच में एक सुरम्य मंदिर का भी निर्माण कराया। उस मंदिर को, कालान्तर में, सिख-समाज के द्वारा 'दरवार'साहिब, कहकर पुकारा गया और सरोवर का नाम पड़ा—'अमृत सर'।

अंगद देव के प्रति गुरु नानक देव की असीम कृपा देखकर कुछ लोगों को स्वाभावत: ईर्ष्या हुई होगी। नानक देव के पुत्र श्रीचंद भी संभवत: उन्हीं में एक थे। इस भावी कलह के निवारण का नानक देव ने जो उपाय किया, वह भी अद्भुत ही था।

एक दिन नदी के तीर पर गुरु नानक देव, अपनी शिष्य-मण्डली के साथ, भजन में निरत बैठे थे। तभी नदी की धारा में बहती हुई एक लाश दिखाई पड़ी। लाश सड़ गई थी, यह उसकी भयंकर दुर्गन्ध से जाहिर था।

गुरु नानक देव ने शिष्यों से कहा—"तुम लोग मेरे प्रति अगाध श्रद्धा का प्रदर्शन करते हो और मेरी हर आज्ञा को मान्य ठहराते हो। मगर इस अंधभक्ति में सचाई है, या नहीं, इसका तुम्हें स्वयं भी पता नहीं होगा। क्या मेरी आज्ञा मानकर उस सड़े मुर्दे को तुम में से कोई खाना चाहेगा?"

शिष्यों की मण्डली निरुत्तर थी। कुछ ने अपने नाक-मुँह को कपड़े से ढँककर मुर्दे की असहनीय दुर्गन्धि की ओर गुरु नानक देव का ध्यान आकृष्ट करना चाहा। कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्होंने गुरु नानक देव के उस कथन पर विचार करने की जरूरत ही महसूस न की। किन्तु अंगद देव हाथ जोड़ कर गुरु के सामने आये और विनीत स्वर में बोले—'गुरुजी, मैं आज्ञा का पालन करूँगा।"

अंगद देव उफनाती रावी नदी में तत्क्षण कूद पड़े और लाश को खींच कर, देखते-देखते किनारे पर ले आये। सभी, एकटक, उनकी अदभुत गुरु भक्ति

की करतूत को निहारते रहे। केवल गुरु नानक देव का ध्यान उस ओर न था।

अंगद देव ने 'वाहे गुरुजी' की हाँक लगा कर कहा—"गुरुजी की आज्ञा से प्राप्त इस पुण्य–प्रसाद में जो लोग अपना हिस्सा पाना चाहें, वे आ सकते हैं।"

मगर आह्वान के उत्तर में एक व्यक्ति भी अपनी जगह से नहीं हिला।

इस बार गुरु नानक देव का ध्यान अंगद देव की ओर अनायास चला गया। उनके होठों पर सहज मुस्कान खिल आई थी। वे बोले; "अंगद, जिसे तुम लोगों ने सड़ी लाश समझ कर अखाद्य मान लिया था, वह तो चंदन का काष्ठ-खण्ड प्रतीत होता है। उसकी सुगंधि तो यही बताती है। मगर अब यह काठ खाकर तुम पेट खराब मत कर लो। आओ, मेरे पास।"

अंगद देव ने मुर्दे की तरफ हैरान होकर देखा। सचमुच यह तो श्रीखण्ड चंदन का ही काष्ठ-खंड है! अपनी सुगन्धि से इसने अकाल मलयानिल की आमोद-वृष्टि कर रखी है! सड़ी लाश अपनी नासिका-भेदी दुर्गन्धि के साथ, क्षण भर में कहाँ गायब हो गई? सभी आश्चर्य-चकित थे!

गुरु नानक देव ने कहा—"लाश की खोज क्यों कर रहे हो? वह तुम्हारे लिए नहीं, मेरे लिए प्रभु का आदेश लेकर आई थी। मैंने प्रभु का आदेश शिरोधार्य कर लिया है। इसके बाद उसका अन्तर्धान हो जाना ही उचित है। मगर मेरे शरीर त्याग के बाद गुरु का आसन खाली नहीं रहना चाहिए। अंगद की श्रद्धा ने मुझे यह भी बता दिया। आओ, अंगद! और निकट आ जाओ।"

अंगद निकट आये, तो नानक देव ने अपने आसन का त्याग कर दिया और उसपर अंगद देव को बैठ जाने की आज्ञा दी।

अंगद देव बड़े पशोपेश में पड़े, किन्तु गुरु की आज्ञा अन्ततः उन्हें शिरोधार्य करनी ही पड़ी।

इसके बाद गुरु नानक देव ने अपने हाथों अपने शिष्य का गुरु-पद पर अभिषेक किया, उन्हें 'गुरु अंगद' के रूप में स्वस्ति दी और उनके सामने भूमि पर लेटकर साष्टांग प्रणाम निवेदित किया।

अन्ततः उपस्थित शिष्य-मण्डली भी गुरु का अनुकरण करने के लिए बाध्य हुई।

गुरु अंगद को गुरु-पद पर अभिषिक्त करने के पश्चात् गुरु नानक देव रावी नदी तट के उसी पुराने वट वृक्ष के नीचे जाकर ध्यानस्थ हो गये, जिस वट वृक्ष के नीचे, कर्त्तापुर नामक नई बस्ती बसाने के पहले, वे बैठा करते थे।

गुरु नानक देव ने शरीर-त्याग करने का निश्चय कर लिया है—इस समाचार को फैलते देर नहीं लगी। दारुण शोक की लहर ने पंजाब के एक-एक गाँव एक-एक घर, एक-एक व्यक्ति को कातर कर दिया। रावी के तट पर मौन,

निश्चल ध्यान-मग्न गुरु नानक देव के अन्तिम दर्शन के निमित्त श्रद्धालु नर-नारियों की आकुल भीड़ आती और निरूपाय होकर लौट जाती। गुरू नानक देव की अर्धमुद्रित ध्यानस्थ आँखों ने अब पलक उठाना भी छोड़ दिया था !

इसी बीच एक नई समस्या खड़ी हो गई। पंजाब के कुछ मुसलमान भक्त गुरू नानक देव को आदर्श मुसलमान मानते थे और उस प्रसंग में मक्का-मदीने की उनकी यात्रा का सगर्व उल्लेख करते थे। उनका कहना था कि उनके शरीरान्त के बाद पूरे मुसलमानी कायदे से उन्हें कब्रिस्तान में दफनाया जाना उचित है। हिन्दू भक्त इस प्रस्ताव का प्राण-पण से विरोध करने पर अमादा थे। उनका कहना था कि नानक देव हिन्दू घर में पैदा हुए हैं और अन्त तक हिन्दू देवी-देवताओं और सन्तों भक्तों का आदर करतेरहे हैं। उन्होंने कभी किसी दूसरे धर्म को स्वीकृत कर, अपने कुल-धर्म का त्याग करना आवश्यक नहीं बताया। उनके आचार-विचार, साधन-भजन, वेश-भूषा चाल–ढाल, सब कुछ में हिन्दूपन हैं। अतः उनकी अन्त्येष्टि, पूर्ण वैदिक विधि से चितारोहण- पूर्वक की जानी चाहिए। धीरे-धीरे इस वाद-विवाद ने कलह से वढकर उपद्रव और दंगे का रूप लेना चाहा।

तभी एक दिन सहसा यह समाचार बिजली की तरह फैल गया कि गुरु नानक देव ने शरीर का त्याग कर दिया और उनका शरीर रावी तट पर वस्त्राच्छादित पड़ा है। हिन्दूओं और मुसलमानों के अलग-अलग झुण्ड, अस्त्र-शस्त्र से लैस होकर महापुरुष के शव पर अधिकार करने की नीयत से, रावी-तट पर तत्क्षण पहुँचे। राह में ही हाथा-पाई और मार-पीट की बात शुरू हो चुकी थी। लड़ाई ठनना अवश्यंभावी हो गया था। शोक और क्रोध के मिले-जुले भाव लेकर पंजाब के हर इलाके के हिन्दू-मुसलमान लाखों की तायदाद में रावी–तट पर उमड़े चले आ रहे थे। गुर अंगद असह्य चिन्ता में पड़े, गुरु के पार्थिव शरीरा-वशेष के पार्श्व में बैठे थे।

तभी कुछ श्रद्धालुओं ने गुरु-मुख-दर्शन की उत्कण्ठा से शवाच्छादन के हटाये जाने की माँग की। उनकी माँग का सबने एक स्वर से समर्थन किया। आच्छादन हटाने पर देखा गया कि शव के स्थान पर रंग-विरंगी सुगन्धित फूलों की राशि पड़ी है ! क्या शव अन्तर्धान हो गया है ? कुछ लोगों का मानना था कि गुरु का शरीर ही फूलों की राशि में परिवर्तित हो गया है !

जिन्होंने जीवन भर हिन्दुओं और मुसलमानों को एकता का पाठ पढ़ाया, मरने के बाद, अपने शव को, वे उनके लड़ने का बहाना बनने देना, कैसे गवारा करते ?

●

चैतन्यदास बाबाजी

बालक जगबन्धु अपने चाचा गौरनाथकी आँखों के तारा थे। अपने बड़े भाई वैद्यनाथ और उनकी पत्नी के देहान्त के बाद गौरनाथ ने अपने इस छोटे भतीजे को हृदय से लगाकर रखा। उन्हें अपना कोई बाल-बच्चा नहीं था। इसलिए यह बालक ही उनके सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा का केन्द्र था।

मैमनसिंह जिले के भद्रा गाँव के घोष-राय वंश की बहुत दिनों से प्रसिद्धि चली आ रही थी। ये लोग जाति के कायस्थ थे। उन लोगों की वैष्णवीय निष्ठा-भक्ति भी बेजोर थी। उनके पूर्वज नवाबी सलतनत में ऊँचे पदों पर अधिष्ठित थे। जितना ही अधिक उनका अर्थोपार्जन था, उतना ही वे सदव्यय भी करते थे।

जगबन्धु के पितामह गोविन्दनाथ बहुत दिनों तक अपने वंश की उस विशेषता की रक्षा करते रहे। उनका स्थापित किया हुआ गोविन्दराय-मंदिर अनेकानेक श्रद्धालु भक्तों का आश्रय स्थल था। उन्होंने देव-अर्चना और वैष्णव सेवा की वंश-परम्परा को यावज्जीवन अक्षुण्ण रखा।

बालक जगबन्धु जब सात वर्ष का था, उसे मारात्मक हैजा हुआ। सम्पन्न वंश का एकलौता पुत्र, उसकी देख-रेख में क्या कमी हो सकती थी? किन्तु रोग का आक्रमण इतना प्रचंड मारात्मक था कि उसका प्राण संशय में था। किन्तु चरम विस्मय की बात यह थी कि चाचा गौरनाथ ने डाक्टर-वैद्य को नहीं बुलाया। उन्होंने श्री विग्रह का एकान्त भाव से शरण लिया। रुग्ण बालक को मंदिर में स्थापित देवता श्री गोविन्दराय का चरणामृत पिलाकर वे एकदम निश्चिन्त हो गये। जो भी हो, जगबन्धु निरोग हो गया।

उस संकट से उद्धार पाने के बाद बालक के अन्तर में अपूर्व भक्ति–विश्वास का भाव जग पड़ा। देवता के प्रसाद में उसकी ऐसी प्रबल आस्था उपजी कि देवता को बिना अर्पित की हुई कोई वस्तु वह ग्रहण ही नहीं करता था।

लड़के का आचरण बड़ा अद्‌भुत था। जलपान के लिए उसे जो कुछ पैसा दिया जाता, उसको वह जमा करता जाता और उससे "हरीलूट" की व्यवस्था करता। कीर्तन के समय उसमें आश्चर्यजनक भाव विकार दिखलाई पड़ता। उसकी भावभंगी

को देखकर लोग विस्मित हो जाते। मानो वह लड़का अपने किसी पूर्वजन्म का सात्विक संस्कार लेकर जनमा हो।

बारहवें वर्ष में उसके प्रवेश करने पर उसकी पढ़ाई-लिखाई का समय आया। चाचा ने कई वर्षों तक उसे एक मुंशी के अधीन कर दिया, जो उसको विद्याभ्यास कराते थे। लड़का मेधावी तो था ही, उसने शीघ्र ही बंगला और फारसी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली।

घोष-राय वालों के घर अक्सर वैष्णव साधुओं और आचार्यों का समागम था। तरुण युवक जगबन्धु बड़े मनोयोग से उन लोगों की बातचीत सुनता था। उनके पाठ, कथावार्त्ता और कीर्त्तन के भावावेग में वह बीच-बीच में आत्म-विस्मृत हो जाता था।

संसार से वैराग्य होने के साथ ही उसके हृदय में चैतन्य महाप्रभु के प्रति अनुराग जगा। नित्य प्रति 'चैतन्य-चरितामृत, का पाठ किये बिना वह जल भी ग्रहण नहीं करता। उसके जीवन में मुक्ति-कामना और वैष्णव जनोचित दीनता का भाव क्रमशः तीव्र होता गया, मानो कोई अनजान पथ हाथ हिला-हिला कर उसे अपनी ओर बुला रहा था।

चाचा ने देखा कि जगबन्धु बड़ा हो गया है। संसार का दायित्व अब ग्रहण नहीं करेगा तो कैसे चलेगा ? किन्तु वह तो इन बातों के प्रति सर्वथा उदासीन था। उसके इस वैराग्य भाव को अवरुद्ध करना भी कठिन हो रहा था।

यह सब सोच-समझकर-गौरनाथ ने एक तीर फेंकी—उन्होंने उसके विवाह की बात पक्की करदी।

यह खबर पाकर जगबन्धु का माथा घूम गया। नहीं-नहीं ! वह इस जंजीर में किसी प्रकार नहीं बँधेगा। तत्काल उसने मन में निर्णय लिया और रात्रि के गहण अंधकार में घर छोड़ कर निकल पड़ा।

सुदीर्घ पथ पर पैदल चलते-चलते वह नवद्वीप जा पहुँचा। अपने अध्यात्म-जीवन का मार्ग खोज निकालने में उसे विशेष विलम्ब भी नहीं हुआ। उसने वैष्णव-दीक्षा ले ली, और इस वैराग्यमय साधन-जीवन के लिए उसका नामकरण हुआ चैतन्यदास।

अपनी साधना, पांडित्य और वैष्णवीय दीनता के कारण चैतन्यदास शीघ्र ही नवद्वीप के सुपरिचित व्यक्ति हो गये। उनका त्याग-वैराग्य दर्शनीय था। उनकी साधन-निष्ठा और वैष्णव शास्त्र के अगाध पांडित्य को लेकर उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। किन्तु इस अकिंचन के पास अपना कहने को मात्र एक फटी गुदड़ी, नारियल की एक माला और मिट्टी का कुरबा या कटोरा भर

था। चैतन्यदास के इस कृच्छ् और त्याग-वैराग्यमय साधन-जीवन के बीच अपूर्व प्रेमरस की धारा झिलमिल-झिलमिल बह रही थी। उनकी वाह्य भंगी जितनी ही कठोर और दैन्यपूर्ण थी, उनकी साधना का प्रकृत रूप उतना ही रांगानुगा भक्ति के प्रेम-रस से सराबोर था। वे अपने को सदैव गौरांग-प्रिया के भावमें रखते।

लोग देखते थे कि वे अपने को प्रेमावेश में नारीवेश में सज्जित कर गौरांग की मूर्त्ति के निकट खड़े होकर पंखा झलते। उस समय उनकी वेशभूषा और प्रेमरस की अभिव्यंजना अपूर्व ही दिखलाई पड़ती थी। वाह्य ज्ञान लौटने पर वे अकिंचन वैष्णव साधक के रूपमें दीनातिदीन भाव से भक्तमंडली में बैठ जाते।

चैतन्यदास बाबाजी अपनी जप-साधना में निरन्तर चैतन्य महाप्रभु का 'गोरा' नाम जपते रहते। प्रतिदिन 'गोरा' नामांकित एक पवित्र पुंथी की पूजा किये बिना अन्न-जल ग्रहण करते उन्हें किसी ने कभी देखा नही। जाग्रत अवस्था में प्रायः सर्वदा वे ध्यानावेश में रहते थे।

उनका यह भावावेश भी कुछ कम विलक्षण नहीं था। जिन दिनों वे श्रीखंड में निवास कर रहे थे, एक बार अपने ही हाथों इष्टदेव के लिए भोग बनाने गये। सामने हाँड़ी में प्रसादान्न सिद्ध हो रहा था। पास ही सिलौट पर चूर्ण की हुई हल्दी पड़ी थी। उसमें से कुछ हल्दी को लेकर उन्होंने हाड़ी में पकते हुए अन्न में डाल दिया जिससे अन्नका रंग गौरवर्ण का हो गया। यह देखते ही वे गौरांग रूप के भावावेश में आ गये।

एक अन्य दिन की कथा है। नाई चैतन्यदास का क्षौरकर्म करने के लिए बैठा था। हठात् उन्हें छींक आई और वे चुटकी बजाते हुए बोल उठे, "गौर', 'गौर'। उस समय एक और विचित्र दृश्य देखने को आया। बाबाजी महाराज बड़े ही भावावेग में उठे और दोनों हाथ उठा कर उन्मत्त भावसे कीर्त्तन करने लगे। उन्हें बड़ी कठिनाई से शान्त किया जा सका।

एक बार ग्रहण के दिन चैतन्यदास बाबाजी गंगा-स्नान करने गये। चारों ओर अगणित पूण्यार्थियों की भीड़ थी। आचार्यों और पुरोहितों ने लोगों को मंत्र पढ़ाना शुरू किया। किन्तु मंत्र-तंत्रादि उन अनुष्ठानों की ओर बाबाजी का किंचित् भी ध्यान नहीं था। सबलोगों के बीचमें खड़े होकर वे परमानन्द पूर्वक भक्ति भाव से अपना ही मंत्र पढ़ाना शुरू किया–'गौरांग-नागरी बनूँगा, गोरांग-नागरी बनूँगा"। सुनकर सभी लोग अवाक रह गये। पंडितगण परिहासके स्वर में कहने लगे, बाबाजी महाराज, आप यह कौनसा अद्भुत् मंत्र पढ़ रहे हैं। स्नान-तर्पण के घाट पर कभी किसीने ऐसा नहीं सुना।"

चैतन्यदास ने उतर दिया, "भाई, तुम लोगों का जो मंत्र है, तुम लोग

पढ़ो, और मेरा जो मंत्र है मैं पढ़ता हूँ। जिसकी जैसी भावना रहेगी उसे वैसी ही सिद्धि मिलेगी।"

एक दिन नवद्वीप के एक घाट पर बाबाजी स्नान करने आये। स्नान के बाद वे कोपीन और वहिर्वस्त्र पहनने जा रहे थे कि अचानक हवा का झोंका आया और कोपीन उनके हाथ से छूट कर गिर पड़ा। इस वैष्णव साधुकी भाव तन्मयता किसी से छिपी नहीं थी, इसलिए उनकी उस नग्नता को देखकर स्नान घाट पर की महिलाओं ने मात्र अपनी नजर-घुमा ली।

उस समय जगदीश मैत्र नामक एक ब्राह्मण घाट पर स्नान कर रहा था। वह जितना ही उग्र प्रकृति का था, उतना ही वैष्णव विद्वेषी भी था। वह बाबाजी के सामने आकर क्रुद्ध स्वर में कहने लगा, "लम्पट कहींका ! तुम स्नान घाट पर कुल वंधुओं के सामने नंगा होता है ? शीघ्रातिशीघ्र तुम घाट से चले जाओ, नहीं तो मारते-मारते दुरुस्त कर दूँगा।"

बाबाजी विनती भरे स्वर में बोले, "बाबा, अचानक हवा के झोंके से मेरे हाथ का कोपीन छूट कर गिर गया है। कृपा कर अपराध को क्षमा करो।"

किन्तु जगदीश मैत्र ने उनकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया, बल्कि और जोर से गाली-गलौज करने लगा, अरे देखो-देखो यह लम्पट अपना दोष छिपाने के लिए हवा पर ही दोष मँढ़ रहा है।"

यह कहते हुए उसने बाबाजी को बड़े जोर से एक थप्पड़ जड़ दिया। यह देख कर गंगा-घाट पर उपस्थित लोग बड़े ही क्षुब्ध-क्रुद्ध हुए। कहने लगे, इस विशिष्ट वैष्णव साधक को क्यों बेकसूर इस प्रकार अपमानित किया गया ? जो कुछ कसूर हुआ, वह तो इन्होंने जान-बूझ कर नहीं किया था।

बाबाजी ने निर्विकार भाव से, जगदीश मैत्र को हाथ जोड़ कर कहा "मुझसे जो अपराध हुआ, उसका उपयुक्त दंड मुझे मिल गया। आगे कभी भी ऐसा अपराध मुझसे नहीं होगा। आपने मुझे अच्छी शिक्षा दी है। आप मेरे शिक्षा गुरु है।"

इतना कहकर बाबाजी धीरे-धीरे घाट से चले गये।

तीन दिन बाद की बात है। उक्त जगदीश मैत्र अचानक बीमार हो गया। उसकी अवस्था बिगड़ती ही चली गयी। उसके बचने की आशा नहीं रही। ज्वर के उत्ताप में कहता था, "बाबाजी महाराज, मैं घोर अपराधी हूँ, महापापिष्ट हूँ। मुझे क्षमा कीजिए, मुझपर कृपा कीजिए।"

वह बार-बार यह कहता और बोलते-बोलते थक कर बेहोश हो जाता। उसके आत्मीय लोग घबरा कर चैतन्यदास बाबाजी की शरण में आये।

बाबाजी ने तो पहले ही जगदीश मैत्र को क्षमा कर दिया था। अपनी शरण

में आये हुए, जगदीशन्न मैत्र के संबंधियों के हाथ में उन्होंने गौरांग महाप्रभु की मूर्त्ति पर चढ़ाया गया तुलसी-जल दिया और बोले, "तुम लोग जाओ किसी प्रकार का भय नहीं है। रोगी को यह महौषधि खिला देना, शीघ्र ही निरोग हो जायगा।"

आरोग्य-लाभ के बाद उग्र प्रकृति जगदीश मैत्र का जीवन ही बदल गया। चैतन्यदास बाबाजी का आश्रय ग्रहण कर वह वैष्णव साधक हो गया।

नवद्वीप में चैतन्य महाप्रभु के मंदिर की एक निर्जन कुटी में चैतन्यदास बाबाजी रहा करते थे। रागानुगा भक्ति के भावोच्छ्वास में वे प्रायः ही तन्मय रहते थे। जब वे नदिया-नागरी, चैतन्य प्रिया के भाव में होते, सुन्दर, गौरांगी युवती को देखकर वे सखी भाव में विह्वल हो जाते थे और गौर नागर चैतन्य महाप्रभु के विरह में विलाप करने लगते और उनकी आँखों से झरकर आँसू गिरते।

एक दिन गौरांग मंदिर के चबूतरे पर समारोहपूर्वक यात्रा-कीर्त्तन चल रहा था। कीर्त्तनिया-दल भाव-गद्‌गद कंठ से गा रहा था, 'गौरांग सुन्दर नदिया छोड़ कर चले।'

इस करुण विरह-गीत को सुनते ही सिद्ध-साधक चैतन्य दास उछलकर गायक के सामने आ गये और गौरांग महाप्रभु की मूर्त्ति की ओर दिखला कर उत्तेजित स्वर में कहने लगे, "अरे यह क्या कह रहे हो, यही तो नवद्वीप चन्द्र, विष्णु प्रिया-प्राणवल्लभ महाप्रभु साक्षात खड़े हैं। अब जो तुमने कहा कि वे नदिया छोड़कर चले गये तो तुमलोगों को यहाँ से मारकर भगा दूँगा।"

कीर्त्तन समारोह में हो-हल्ला मच गया। कीर्त्तनिया दल उस गीतबद्ध कथोपकथन वाला भजन छोड़कर नया यात्रा-गान गाने लगे। गौर भक्ति सिद्ध चैतन्यदास के उस भाव विह्वल व्यवहार को याद कर नवद्वीप के गौरांग मदिर में कीर्त्तनियोंने बहुत दिनों तक गीतबद्ध कथोपकथन शैली वाला यात्रा कीर्त्तन करना ही छोड़ दिया।

कालना के सिद्ध संत भगवान दासजी के साथ चैतन्य दासजी का अंतरंग स्तर पर निगूढ़ सम्पर्क था। दोनों ही रागानुगा भजन-भक्ति के सिद्ध साधक थे। दोनों ही गौड़ीय वैष्णव जगत के स्तम्भ रूप में प्रसिद्ध थे। किन्तु वहिरंग आचरण एवं भावभंगी में दोनों साधक भिन्न थे।

भगवान दास जी स्वभाव से गंभीर थे—उनकी प्रेम-साधना की धारा अंतः संचारिणी थी। इधर चैतन्यदास का साधन-जीवन प्रेमा-भक्ति से उच्छल-तरंगायित रहता था। गौरांग महाप्रभु के प्रेम–ज्वार से उनका अंतरंग एवं वहिरंग दोनों ही सतत आप्लावित रहता। गौरांग-प्रेम को लेकर दोनों महान साधकों के बीच नित त बाहरी स्तर पर प्रेम-कलह भी चलता था।

सिद्ध भगवान दास जी एकबार वृन्दावन जा रहे थे। उनकी एकान्त इच्छा थी कि चैतन्य दास जी भी उनके साथ चलते। किन्तु श्री गौरांगधाम नवद्वीप को छोड़कर 'गौर-नागरी' चैतन्यदास जी एक पग भी बाहर जाने को सहमत नहीं थे।

भगवान दास जी के बहुत अनुनय विनय करने पर वे किसी प्रकार वृन्दावन जाने को राजी हुए। किन्तु ठीक यात्रा के दिन सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। गौरांग मूर्त्ति के सम्मुख बिदा माँगते समय चैतन्यदास मंदिर के द्वार पर बेहोश होकर गिर पड़े। गौरांग-मंदिर के प्रांगण में शोकाकुल लोगों की भीड़ लग गई।

बहुत देर तक उनके निकट नाम कीर्त्तन करने पर उन्हें होश हुआ। भगवान दास जी ने देखा कि चैतन्यदास को वृन्दावन ले जाने की उनकी सारी चेष्टा व्यर्थ हो गई। वे समझ गये कि चैतन्यदास प्राण रहते नदिया क्षेत्र और नदिया नगर को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जा सकते।

उन्होंने चैतन्यदास से कहा, तुम्हें वृन्दावन जाने की आवश्यकता नहीं है। सचमुच नवद्वीप ही तुम्हारा वृन्दावन हैं।"

सिद्ध चैतन्यदास बाबाजी अपने स्थान पर ही रह गये।

नवद्वीप के शास्त्राचार्यों एवं जनसाधारण की नजर में चैतन्यदास बाबाजी असाधारण सिद्ध पुरुष थे। वैष्णवगण तथा अन्य लोग भी अध्यात्म जीवन के अनेक प्रश्न, अनेक प्रार्थनाएँ लेकर बड़े आदर से इस अकिंचन महा वैष्णव के चरणों में उपस्थित होते थे। उनके उपदेश-निर्देश से जिज्ञासुओं का कल्याण साधन होता था और वे साधन-पथ पर अग्रसारित होते थे।

एक दिन भक्तप्रवर शिशिर कुमार घोष चैतन्यदास बाबाजी का दर्शन करने आये। उन्होंने प्रश्न किया, "बाबाजी महाराज, भक्ति-साधन कैसे होता है—यह मुझे कृपया बताइये।"

"क्योंजी इसमें क्या है? दो पैसे में तो भक्ति लाभ होता हैं," बालाजी ने उत्तर दिया।

"यह क्या बात हुई। दो पैसे में भक्तिलाभ? बाबाजी महाराज आप मेरा उपहास कर रहे है।"

"हरे कृष्ण, हरे कृष्ण! सचमुच मैंने आपका उपहास नहीं किया। मैंने ठीक कहा है, आप बंगला में छपी हुई नरोत्तम ठाकुर की प्रार्थना-पुस्तक खरीद कर पढ़िये। इसी प्रार्थना और आर्तिभाव के द्वारा भक्ति-लाभ होगा।"

बाबाजी के लिए आर्त्त प्राण और प्रार्थना ही गौरांग-प्रेम का सर्वापेक्षा बड़ी साधना थी।

एक बार गोस्वामी विजय कृष्ण सिद्ध चैतन्यदास जी से मिलने आए। गोस्वामी जी उन दिनों ब्राह्मसमाज के एक शीर्षस्थ नेता थे। उनके अन्तर में आध्यात्मिक अनुसंधान और मुमुक्ष-भावना सदैव जाग्रत रहती थी। कुछ तो कुतूहल वश और कुछ जिज्ञासु भाव से वे इन वैष्णव महापुरुष की भजन कुटी में आये थे।

बातचीत के क्रम में गोस्वामी जी ने पूछा, "बाबाजी महाराज, एक गूढ़ बात तो बताइए कि मैं प्रकृत भक्ति का अधिकारी किस प्रकार बनूँगा।

यह प्रश्न सुनकर बाबाजी महाराज निष्पलक दृष्टि से उनका मुँह देखते रहे। कुछ देर के बाद उनकी सारी देह रोमांचित हो उठी, थर-थर काँपने लगी और धीरे-धीरे उनके सिर की शिखा भी रोमांच से खड़ी हो गई। उन्होंने एक हुँकार भरी और आवेग-कंपित स्वर से बोले, "तुम यह क्या कह रहे हो, गोसाई! तुम पूछते हो कि भक्ति कैसे होती है?" इतना कहते-कहते, उन सिद्ध वैष्णव साधक के शरीर में अश्रु, रोमांच और कम्पन प्रभृति आठों सात्विक विकार दृष्टि-गोचर हुए।

विजय कृष्णजी इस दृश्य को देखकर एकदम हतवाक हो गये। भजन–कुटी में उपस्थित अन्य जन भी विस्मय–विमुग्ध देखते रहे। इस प्रकार के प्रेमलक्षण का दर्शन विरले लोगों को ही होता है।

इस भावोन्मत्ता के शान्त होने पर चैतन्य दास जी ने विजय कृष्ण को साष्टाँग प्रणाम किया, और हाथ जोड़कर कहने लगे, "प्रभु, आप भक्ति की बात पूछते हैं? वह दुर्लभ वस्तु मैं अपात्र भला कहाँ पाऊँगा? आप आशीर्वाद दीजिए की सर्वथा अकिंचन कंगाल बन सकूँ क्योंकि उससे आगे भक्ति की नाम-गंध का पता भी नहीं मिलता? हाँ, एक बात मैं आज आपसे कहना चाहता हूँ, ध्यान दे कर सुनिए। आजकल आप जैसा-कुछ भी क्यों न करते हों, मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि आप तिलक लगावेंगे, कंठी-माला धारण करेंगे। भक्ति तो आपके अपने भंडार का धन है। आप तो अद्वैत वंश की संतान है। कहिए तो भला, हमारे अद्वैत भंडार में क्या भक्ति का अभाव है।"

गोस्वामीजी के संबंध में चैतन्य दास जी की यह भविष्यवाणी गोस्वामी जी के उत्तर जीवनमें अक्षरशः फलवती सिद्ध हुई।

गौरांग मंदिर के एक कोने में बैठकर चैतन्य दास जी नित्य प्रति साधन-भजन किया करते थे। नाम-जप और कीर्त्तनादि के समाप्त होने पर गंभीर रात में वे प्रेमा भक्ति की साधना में डूब जाते थे। उस ध्यानावस्था में अपने पाण वल्लभ गौरांग के साथ उनकी मिलन–विरह की रंगरलियाँ चलती, अनेक प्रकार

के प्रेमालाप होते। एक दिन मंदिर के पुजारी एवं वैष्णव साधकों ने गौरांग के साथ उनका यह प्रेमालाप सुनकर विस्मित हो गये।

उन दिनों नवद्वीप में भीम नामक एक दुर्धर्ष दुराचारी व्यक्ति रहता था। वह जाति से गंध-बनिक था। उसमें धर्मबुद्धि लेशमात्र भी नहीं थी। वैष्णवों का तो वह जानी दुश्मन था, उन्हें देखते ही मारपीट पर उतारू हो जाता था। उसने अनेक लोगों से गौरांग और चैतन्यदास के पारस्परिक प्रेम संलाप की चर्चा सुनी। उस दुर्वृत्त व्यक्ति के मन में संदेह जगा कि वास्तव में बात क्या है। निश्चय ही इसके पीछे कोई गूढ़ रहस्य है, जिसका पता लगाना ही चाहिए।

एक रात वह मंदिर की दीवार फाँद कर भीतर आया और बाबाजी की उस छोटी-सी कुटिया के सामने आकर खड़ा हो गया। उस समय बाबाजी भावाविष्ट अवस्था में थे। अपने इष्ट देव के साथ प्रेमालाप में मग्न थे। और बार-बार अपने हृदय की आर्त्त वेदना निवेदित कर रहे थे।

भीम को दृढ़ विश्वास हो गया कि प्रेमा भक्ति और साधना की बात झूठी है, कुटी के अन्दर निश्चय ही बाबाजी की कोई प्रेमिका है जिसके साथ उनका रस-रंग चल रहा है। भीम ने सोचा कि इसी समय कुटी के भीतर जाकर इनके कपटाचार का पर्दा फास किया जा सकता है।

उसने दरवाजे को ठोकर मार कर तोड़ दिया, किन्तु कुटी के अन्दर प्रवेश करते ही वह विस्मय विमूढ़ रह गया। उसने देखा कि बाबाजी महाराज सामने निष्पन्द भाव से ध्यान-निमग्न हैं, उनके शरीर से एक दिव्य ज्योति निकल रही है। सारी कुटिया फूलों की सुगन्ध से भरी हुई है। किन्तु भीतर और कोई नहीं है।

भीम वहीं मूच्छित होकर गिर पड़ा। होश आने पर वह और भी आश्चर्य में पड़ गया। उस भजन कुटी के दरवाजे को तो उसने तोड़ दिया था, किन्तु अभी दरवाजे के टूटने का कोई चिन्ह भी नहीं है।

भीम के हृदय में तीव्र शोक और मर्मान्तिक पीड़ा की ज्वाला उठने लगी। एक दिन, जब वह ज्वाला असह्य हो उठी तो वह आकर बाबाजी के चरणों पर गिर पड़ा। अश्रु विगलित, विनीत भाव से बोला, "बाबाजी, मेरा उद्धार कीजिए। अपने चरणों का आश्रय दीजिए।" चैतन्यदास ने स्नेहपूर्वक उसे अपने हृदय से लगा लिया और बोले, "बेटा भीम, उठो। कोई भय नहीं। आज से तुम गौरदास हुए। निष्ठा-पूर्वक हरिनाम जपते जाओ और वैष्णवों की सेवा करो। शीघ्र ही तुम्हें भगवत कृपा प्राप्त होगी।"

बाबाजी महाराज की यह करुणा और भीमका यह रूपान्तर देखकर नव-

द्वीपवासी चकित रह गये ।

साधन जीवन के चरम उत्कर्ष के दिनों में चैतन्यदास जी निरन्तर गौरांग महाप्रभु के ध्यान में डूबे रहते थे । आत्मसात का अंतिम अंक प्रारंभ हो गया था ।

अन्ततः वह शुभलग्न भी आया । उस दिन बाबाजी दिनभर, रातभर भजन के रस में डूबे रहे । हठात् गंभीर रात में भाव-तन्मय अवस्था में ही अचानक उठ बैठे और अपने को गौर प्रिया के रूप में सजाने लगे । फिर प्रेम-रस के नशे में डगमग करते हुए गौर–विग्रह के बाईं ओर जाकर खड़े हो गये । धीरे-धीरे प्राणों की पीड़ा उड़ेल कर गाने लगे—

मेरा भजन समाप्त हुआ,
मेरी पूजा समाप्त हुई,
नदिया के चन्द्रमा की प्रिया मैं हूँ,
मेरा स्वायी 'गोरा' है ।

गाते-गाते इन महापुरुष की देह से एक अपूर्व ज्योति प्रस्फुटित हुई । उनकी प्रेमाविष्ट आँखें गौरांग मूर्त्ति की आँखों से निश्चल जड़ीं थीं । उस दिन प्रभु की नित्य लीला का ज्योतिर्मय रूप उनको स्पष्ट हो गया ।

गौराब्द ३९२ साल में अगहन की पूर्णिमा के दिन सिद्ध साधक चैतन्य दास बाबाजी के महाप्रस्थान का लग्न आया, जिसे स्मरण कर आज भी अगणित गौड़ीय वैष्णवों का मन विषाद-खिन्न हो जाता है ।

स्वामी विवेकानन्द

भागीरथी के दुकूलों पर संध्या का अंधकार घनीभूत होता जा रहा है। आकाश के वक्ष पर दो चार तारे टिमटिमाते हुए जल रहे हैं। नदी वक्ष स्तब्ध, निस्तरंग है। तथा लंगर डाले हुए बजरे पर भी उसी तरह अखण्ड नीरवता का साम्राज्य हैं। एक सुन्दर युवक जल्दी-जल्दी सीढ़ी पार कर ऊपर जा रहा है। ऊपर पहुँच कर वह निःशब्द कक्ष के द्वार को बार-बार खटखटा रहा है।

सौम्य, प्रशांत मूर्त्ति एक वृद्ध ध्यान कक्ष से बाहर आये। स्नेहपूर्ण स्वर में उन्होंने प्रश्न किया, "क्यों बेटा, क्या चाहिये तुम्हें ?"

युवक के मुख पर उत्तेजना की स्पष्ट छाप है। व्याकुल स्वर में वह कह उठा, "महाशय, क्या आपने ईश्वर दर्शन किए हैं ? मुझे भी क्या दर्शन करा सकेंगे ?"

ध्यान से उठे वृद्ध तापस हैं, सर्वजन श्रद्धेय ब्राह्म नेता, देवेन्द्र नाथ ठाकुर। गंगा के ऊपर इस हाउस बोट में एकान्त में वे तपस्या में कुछ दिन काटने के उद्देश्य से हैं। उनके सम्मुख खड़ा मुमुक्षु तरुण है—नरेन्द्रनाथ दत्त।

युवक हृदयतच्छ्वास एवं व्याकुलता का मर्म समझने में देवेन्द्रनाथ को अधिक विलम्ब नहीं हुआ। सस्नेह उसे उन्होंने निकट बैठा कर शांत किया तथा नाना आश्वासन एवं उपदेश दिए। उसके बाद कुछ देर तक अपलक देखते रहने के बाद उन्होंने कहा, "बाबा, तुम्हारे दोनों नेत्र ठीक योगियों की तरह हैं। एकनिष्ठ होकर साधना करो। तुम सफल काम होगे।"

नरेन्द्रनाथ बजरे से निकल पड़े। देवेन्द्रनाथ के व्यक्तित्व तथा प्रबोध वाक्य ने उनकी उत्तेजना को कुछ कम अवश्य किया था, परन्तु हृदय की अदम्य पिपासा कहाँ शांत हुई ? मूल प्रश्न का उत्तर तो उन्होंने साधक देवेन्द्र नाथ से पाया नहीं।

नरेन्द्र नाथ के जीवन-जिज्ञासा का एक और चित्र। दक्षिणेश्वर के गंगा तट पर देवी भवतारिणी के मंदिर की सांध्यआरती घंटे घड़ियाल के रव के साथ अभी-अभी शेष हुई है। ठाकुर श्री रामकृष्ण भवतों से घिरे हुए बैठे हैं। नरेन्द्र नाथ धीरे-धीरे उनके सम्मुख आकर खड़े हो गये। उनके हृदय में मानो तूफान उमड़ पड़ा है। व्याकुल कण्ठ से उन्होंने प्रश्न किया, "महाशय, क्या आपने

ईश्वर साक्षात्कार किया है ?"

बहुत से साधु पुरुषों से वे यह बात बार-बार पूछते रहे हैं। किसी ने भी तो अबतक 'हाँ' नहीं की है। क्या, ये भी आज उन्हें निराश करेंगे ?

सहज प्रत्यय के स्वर में अविलम्ब रामकृष्ण ने उत्तर दिया, "ऐसा क्या ! केवल देखा ही नहीं है, वरन् जैसे मैं तुम्हें देख रहा हूँ, इसी तरह तो नित्य ही देखता हूँ। मात्र इतना ही नहीं, तुम्हें भी दिखा सकता हूँ। परन्तु इसके लिए मैं जैसा कहूँ, उसका अक्षरंशः पालन करना होगा।" कहते हुए मुस्कराते हुए बटुए से थोड़ी सुपारी निकाल कर ठाकुर चबाने लगे। नरेन्द्रनाथ, अपार विस्मय के साथ इस देव-मानव की ओर अपलक दृष्टि से देख रहे हैं। वर्णनातीत ईश्वर को इस तरह पाया जा सकता है, ऐसे दुःसाहस की बात आश्वासन भरे स्वर में आज तक तो किसी ने कहा नहीं।

जो प्रश्न उन्होंने आज दक्षिणेश्वर के पुजारी ब्राह्मण के चरणों में बैठ कर किया, वह मात्र उनके जीवन का व्यक्तिगत प्रश्न ही नहीं है वरन वह उन्नीसवीं शताब्दी के सारे बुद्धिजीवियों का ही प्रश्न रहा है। इसमें युक्ति विज्ञान एवं अविद्या की जटिल ग्रंथियों का भेदन कर प्रत्यक्ष अनुभूति एवं दर्शन की कामना निहित है।

इतनी लम्बी अवधि के बाद आज उनके प्रश्न का उत्तर मिला है। वह उत्तर वास्तविक अनुभूति से प्रोज्वल एवं सहज आश्वासन से परिपूर्ण है। ठाकुर स्पष्ट दावा कर रहे हैं, कि वे उन्हें भगवत् दर्शन करा देंगे। जिस तरह से उन्होंने स्वतः दर्शन किए हैं, उस तरह करा देंगे।

अब नरेन के बोलने की बारी थी। आत्म समर्पण ही सबसे अधिक प्रयो-जनीय है, परन्तु उसकी प्रस्तुति मात्र उनके पास है कहाँ ? रामकृष्ण का तत्व उनके हृदय में कहाँ तक ग्राह्य हो रहा है ? इस अर्धोन्मादी अर्ध शिक्षित साधक के चरणों में अपना सारा व्यक्ति एवं समस्त शिक्षा-दीक्षा का उत्सर्ग वे कर पावेंगे ?

परन्तु नरेन को ऐसा करना पड़ा था। दीर्घ पाँच वर्षों की परीक्षा-निरीक्षा के फलस्वरूप, इस आत्मसमर्पण को हम सभी संभव होते देखते हैं। इन पाँच वर्षों का इतिहास, ठाकुर की करुणा लीला का एक ज्वलंत इतिहास है। दिन-दिन, पल-पल, सहज स्वच्छन्द प्रेम के माध्यम से रामकृष्ण अपने स्वरूप एवं अपने परम तत्व को नरेन्द्रनाथ के जीवन में प्रतिफलित करते रहे। ठाकुर की इस आत्मसात् कर डालने की कृपा ने नरेन के आत्मसमर्पण को और भी सहज बना डाला। अध्यात्म शिल्पी रामकृष्ण की महान सृष्टि उनके माध्यम से ही धीरे-धीरे रुपायित हो उठी तथा आचार्य विवेकानन्द का आश्चर्यजनक अभ्युदय संभव हुआ। भारत वर्ष के अध्यात्म जीवन में इस अभ्युदय के परिणामस्वरुप कल्याणकारी पुनरजागरण हुआ, जिससे प्राच्य एवं पाश्चात्य का त्वरित आत्मिक

सेतुबंधन संभव हो सका।

इस दुर्ज्ञेय ईश्वरी शक्ति के आकर्षण से युवक नरेन्द्र नाथ, दक्षिणेश्वर के ठाकुर के चरणों में समर्पित हो गये थे। इसी ईश्वरीय शक्ति की लीला ने उनके बाल्य एवं किशोर जीवन को नियंत्रित कर डाला तथा जीवन धारा को बार–बार मोड़ भी डाला और मुक्ति के महासागर की ओर उसे अग्रसर करने का अवसर प्रदान किया।

नरेन्द्रनाथ ने शिमुलिया के अभिजात दत्त परिवार में जन्म ग्रहण किया। इसी वंश के राम मोहन दत्त, सुप्रीम कोर्ट के प्रतिष्ठित वकील थे। वे काफी धन–संपत्ति छोड़ गये किन्तु पुत्र दुर्गा चरण उस ओर आकृष्ट नहीं हुए। पच्चीस वर्ष की अवस्था में पत्नी तथा एक मात्र शिशु पुत्र, विश्वनाथ, की माया तोड़ कर, उन्होंने सन्यास ग्रहण किया। ये विश्वनाथ दत्त ही स्वामी विवेकानन्द के जनक थे।

विश्वनाथ कलकत्ते के प्रसिद्ध एटार्नी के रूप में परिचित हो गये। धन–जन पूर्ण, विशाल भवन में वे राजसी ठाट से रहने के अभ्यस्त थे। उदार तथा आश्रित जनों के पालक के रूप में वे विख्यात थे। पत्नी, भुवनेश्वरी एक धर्मप्राणा, परंपरा–वादी महिला थी। प्रतिदिन, शिवपूजा समाप्त न कर लेने तक वे जल ग्रहण नहीं करती। इष्टनिष्ठा, तेजस्विता एवं कार्य कुशलता में वे असाधारण थीं।

एक दिन भुवनेश्वरी शिवार्चन में बैठी हुई थीं। पता नहीं कैसे, उस दिन उन्हें गंभीर ध्यान-तन्मयता आ गयी। लगभग सारा दिन ध्यानावेश में ही कट गया। उसके बाद रात्रि में क्लांत शरीर लिए वे पूजा कक्ष में ही निद्रा से अभिभूत हो पड़ीं।

इस समय उन्होंने एक विचित्र स्वप्न देखा। जटाजूट पंडित रजतगिरि सन्निभ, महेश्वर उनके सम्मुख आविर्भूत होकर, संतान के रूप में गोद में आना चाहते हैं। 'शव-शिव' उच्चारण करते हुए भुवनेश्वरी की निद्रा भंग हो गयी।

इसके दूसरे साल ही, १८६३ ई० के १२ जनवरी को भुवनेश्वरी देवी की गोद में एक सुन्दर शिशु आ गया। उस दिन पौष–संक्रान्ति थी, मकरवाहिनी पूजा का दिन। यह नवागत पुत्र ही नरेन्द्रनाथ थे, जो उतर काल में शक्तिधर सन्यासी, स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रख्यात हुए।

बाल्यकाल से ही नरेन दुष्ट एवं चंचल थे। पता नहीं किस अव्यक्त अधीरता के साथ वे बराबर भागदौड़ करते रहते। कभी–कभी इस अशांत बालक के आधार पर एक दुर्ज्ञेय ध्यान की धारा उतर आती और अकस्मात् कैसे उसका रूपान्तर सा घटित हो जाता।

बालक एक दिन, अपने साथियों के साथ, पूजा–अर्चा के खेल में रत था।

आँखें मून्द कर ध्यान–जप का अभिनय भी चल रहा था। सहसा पता नहीं कहाँ से एक गेहुँअन सांप फन फैलाए हुए आकर उपस्थित हो गया। खेल के साथी तो वहाँ से डर कर भाग खड़े हुए। परन्तु नरेन को कोई होश ही नहीं था। दोनों आखें मूँद कर वह निश्चल बैठा हुआ है, तथा उसके सम्मुख सांप फन फैलाए हुए स्थिर खड़ा है। पता नहीं खेल के अभिनय के किस क्षण में वह गंभीर ध्यान में निमग्न हो गया है, कौन जाने ? घर के सभी लोग अत्यन्त भयभीत हो गये हैं। बालक का अनिष्ट न हो जाय, इसलिए सभी चुप खड़े हैं। थोड़ी देर बाद सांप वहाँ से धीरे-धीरे खिसक गया और आत्मीय स्वजनों ने मुक्ति की सांस ली।

नरेन ने बाद में प्रसंगवश कहा था, "बाल्यावस्था में एक दिन ध्यान कर रहा था। ध्यान की समाप्ति पर चुप चाप बैठा हुआ था, सहसा देखा—घर की दीवार को भेद कर एक ज्योतिर्मय दिव्य मूत्ति सम्मुख खड़ी है। मूर्त्ति मुंडित मस्तक है तथा हाथ में है दण्ड और कमण्डलु साथ ही नयनों में अपूर्व स्निग्धता। ज्योतिर्मय पुरुष, पता नहीं क्या बोलते जा रहे थे। अवाक्, अबतक उनकी ओर देख रहा था। सहसा कुछ भय का संचार हुआ और दरवाजा खोलकर बाहर निकल आया।" मानो कोई दिव्य पुरुष की उनके ऊपर सतत दृष्टि है।

बालक नरेन के सोने की मुद्रा विचित्र थी। ऊपर हो के उनके सोने का अभ्यास था। नींद आने के समय धीरे-धीरे उनकी वाह्य चेतना कम होती जाती और साथ ही साथ एक अलौकिक अनुभूति का आभास होता। उन्हें दृष्टिगोचर होता कि एक दिव्य बालक एक गोलाकार ज्योतिर्मय पिण्ड से आलोकोज्वल मार्ग से बाहर आ कर उनकी ओर अग्रसर हो रहा है। यह ज्योति गोलक क्रमशः उनके भ्रूमध्य में आकर स्थिर हो जाता उसके बाद ज्योति राशि की अजस्त्र धाराएँ वहाँ से झड़ने लगती। इस दिव्य आलोक धारा से आच्छादित वे धीरे-धीरे निद्रित हो जाते।

नरेन को इसमें कुछ विस्मयकर प्रतीत नहीं होता। वे यही सोचते कि यह तो सभी को निद्रित होते समय होता होगा। श्री रामकृष्ण, उत्तर काल में इस अनुभूति की बात सुनकर कहा था, "यह तो ध्यान सिद्ध के लक्षण है।"[१]

नरेन की अवस्था चौदह वर्ष है और वे अपने पिता के साथ जलवायु परिवर्तन के लिए रायपुर आये हुए हैं। एक दिन वे एकाकी बैल गाड़ी से विन्ध्य पहाड़ से होकर जा रहे हैं। उसी समय उन्हें एक अलौकिक अनुभव हुआ। पहाड़ पर एक मधुमक्खी का छत्ता लगा हुआ था। उस ओर अकस्मात दृष्टि पड़ते ही उनके अंतर में एक अभूतपूर्व आनन्द के पुलक का भान हुआ। उत्तर काल में स्वामी जी ने स्वयं ही इस संबंध में कहा था, "विस्मय से अभिभूत

१ प्रथम वसु : स्वामी विवेकानन्द, प्रथम खण्ड

होकर उस पक्षिका राज्य के आदि अन्त की बात सोचते-सोचते, मन जगत् नियन्ता ईश्वर की अनन्त उपलब्धियों में इस तरह खो गया, कि कुछ समय तक वाह्य-चेतना लुप्त हो गयी। कितने समय तक बैलगाड़ी पर इस भाव में पड़ा रहा इसका ज्ञान ही नहीं था। जब पुनः चेतना का लाभ हुआ तो मैंने देखा कि उक्त स्थान से काफी दूर निकल आया हूँ।" नरेन के आरंभिक जीवन में ध्यानावेश का यह एक अभूतपूर्व दृष्टांत है।

१८७९ ई० में नरेन्द्रनाथ ने एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास कर कालेज में प्रवेश किया। उनके अन्दर व्यक्तित्व, मेधा एवं प्राण शक्ति का अभाव नहीं था, इसलिए क्लास के लड़कों के नेता हो जाने में उन्हें देरी नहीं हुई। अध्यापकों को भी उन्हें असाधारण छात्र के रुप में पहचानने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ। जेनरल एसेम्वली में उन दिनों प्रतिभावान छात्रों का अभाव नहीं था। ब्रजेन्द्रनाथ शील भी उन दिनों वहीं पढ़ते थे, नरेन्द्र नाथ से एक क्लास ऊपर। एक बार एक वाद–विवाद सभा में नरेन के ऊपर प्रसन्न होकर, दर्शन विद् अध्यक्ष हेस्टिगज साहेब ने कहा, "यह तरुण, दर्शन शास्त्र का एक प्रतिभावान छात्र है। मेरी धारणा है कि जर्मनी तथा इंगलैण्ड के विश्वविद्यालयों में भी ऐसा छात्र ढूढ़ने से भी नहीं मिलेगा।"

नरेन ने उस समय तक एफ ए की परीक्षा नहीं दी थी। परन्तु डे-कार्ट, ह्यूम एवं वेन के सूक्ष्म दार्शनिक तत्वों को उन्होंने पढ़ डाला था। डारविन तथा स्पेन्सर की चिंतनधारा से भी उनका घनिष्ट परिचय हो चुका था। पाश्चात्य दार्शनिकों के युक्तिवाद एवं विचार वितर्क के माध्यम से उन्हें सत्य का वास्तविक मार्ग खोज पाना संभव नहीं था। उन दिनों, उनकी अवस्था दिक्-भ्रान्त पथिक जैसी ही थी।

बंगाल में संस्कार आन्दोलन प्रायः सात वर्षो से चल रहा था। राममोहन धर्म, का देवेन्द्रनाथ एवं केशव द्वारा कुछ हद तक रुपान्तरित हो चुका था। नैतिक जीवन का हद आदर्श सामाजिक जीवन में आत्मप्रकाश करने लगा था। परन्तु इतने से नरेन की आत्मपिपासा कहाँ मिटने की थी? अध्यात्म साधना के रस से जीवन का शुष्क तरु मंजिरित हो उठता है, तथा प्रत्यक्ष अनुभूति के माध्यम से साधक के हृदय में परम शान्ति प्राप्त होती है। वह शान्ति तो मिल नहीं पा रही है?

पाश्चात्य दर्शन के विचार-विश्लेषण से नई रोशनी में शिक्षित नरेन दिशा-हारा हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में वे ब्राह्मसमाज की छाया में आकर खड़े हुए। सोचा संभवतः शाश्वत सत्य का संधान इस वार मिल जायगा। परन्तु वह कहाँ

मिल पाया ? मन में संशय जन्म लेने लगा, क्या ईश्वर सचमुच हैं ? जीवन यात्रा के अन्त में अमृत घट लिए जीवन प्रभु प्रसन्न हँसी-हँसते हैं, क्या वे मात्र कवि की कल्पना ही हैं ?

संदेह, संशय जो कुछ भी क्यों न आवे, परन्तु नरेन्द्र व्यावहारिक जीवन में पवित्रता, विशुद्धता की पूर्ण रुप से रक्षा करते रहेंगे। शुभ संस्कार लेकर ही उन्होंने जन्म ग्रहण किया था। बड़े होकर भी उच्चतर प्रेरणा से उद्बुद्ध हैं तथा त्यागी साधक का ही जीवन यापन कर रहे हैं।

फिर भी बीच-बीच में संशय एवं विचार के गहन अरण्य में भी एक दिव्य अनुभूति स्फुरित हो उठती। जब ध्यान करने बैठते तो उस समय अन्तर में किसी अविश्वास व असंतोष की छाया भी नहीं रह जाती ? स्वच्छन्द ध्यानावेश में वे अंतर्लीन हो जाते।

प्रायः ही उनके नयनों के समक्ष एक ज्योति पुंज का आविर्भाव होता जो एक त्रिभुज यंत्र के अपरुप छवि की रचना कर डालती। अज्ञात आनन्द से नरेन्द्र नाथ का हृदय रसप्लावित हो उठता। सोचने लगते, यह कहाँ का इंगित है। फिर तो अतीन्द्रिय लोक के अंतराल में उनके जीवन प्रभु विराज रहे हैं। परन्तु कौन उन्हें इस परमधन के पास पहुँचा सकेगा ? अन्तर से सदा यह प्रश्न उठता रहता, कि कहाँ हैं वे सत्यद्रष्टा महापुरुष हैं जिन्होंने भगवत् साक्षात्कार किया है, जो उनको अपने चिर अभिलषित मार्ग पर अग्रसर करने में सक्षम होंगे ?

१८८० ई० का नवम्बर मास। शिमुलिया पल्ली में एक छोटे आनन्दोत्सव की व्यवस्था हुई है। नरेन के पड़ोसी सुरेन्द्रनाथ मित्र भक्ति पूर्वक दक्षिणेश्वर के श्री रामकृष्ण को लेकर आये हुए हैं। भक्ति संगीत का गायन होगा। इसलिए नरेन की पुकार हुई है। नरेन जैसे अनेक बैठकों में सम्मिलित होते हैं, वैसे ही आकार बैठ गये हैं। उनके कण्ठ से गान सुनकर परमहंश देव के आनन्द की सीमा नहीं है। सस्नेह उन्होंने निकट बुलाकर इस प्रिय दर्शन युवक के देह लक्षणों को सूक्ष्मता से देखा। परिचय प्राप्त करने के बाद उन्होंने आमंत्रण दिया, "दक्षिणेश्वर एक बार क्यों नहीं आते ?"

एफ ए परीक्षा की व्यस्तता के कारण, कई महीनों तक नरेन को दक्षिणेश्वर जाने की बात का विस्मरण हो गया है। आत्मीय राय दत्त तथा पड़ोसी सुरेन्द्र नाथ ठाकुर के भक्त हैं। उनसे बात करते-करते उन्हें ठाकुर की बात का स्मरण हो आया, तथा कई बन्धुओ के साथ वे दक्षिणेश्वर में उपस्थित हुए।

उत्तर काल में रामकृष्ण ने स्वयं, इस ऐतिहासिक साक्षात्कार का विवरण दिया था—"देखा, नरेनको अपने शरीर पर कोई ध्यान नहीं है। सिर के बालों



स्वामी विवेकानन्द

तथा वेशभूषा के प्रति भी वह अन्यमनस्क है। बाहर की किसी वस्तु पर उसकी साधारण मनुष्य जैसी कोई चाह नहीं है। मानो वह सबसे अलग-थलग है। दोनों नेत्रों पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगता, मानों उसके मन का अधिक भाग जैसे कोई अंतर से खींच रहा है। विचार करने लगा का विषयी लोगों की नगरी कलकत्ता में इतने बड़े सत्वगुणी आधार का रहना क्या संभव है!"

ठाकुर के समक्ष नरेन ने उदास सुर में गाना आरंभ किया—

रे मन चल अपना देश,
अकारण भ्रमता क्यों तुम ?
विदेश वन विश्व-विदेश।
पंच विषय ओ पंच महाभूत,
सब ही तो पराए अपना ना एक।
पर प्रेम के कारण हुए अचेतन,
भूल रहे हो तुम निज जन।

अनायास ही नरेन ने यह कैसा गीत गा डाला ? जिसके पास से आये हैं, और जिसके समीप फिर वापस जाना होगा, यह तो परम आत्मीय परमात्मा की ही बात है।

उसी परमात्मा के ही आनन्दघन, ठाकुर रामकृष्ण यहाँ बैठे हुए हैं। नरेन ने उस दिन ठाकुर के वास्तविक रूप को नहीं पहचाना, परन्तु ठाकुर ने नरेन को उसी समय पहचान लिया था। नरेन के स्वर हृदय से निकले और ठाकुर भावाविष्ठ हो गये। क्रमशः उनका वाह्य ज्ञान लुप्त हो गया।

नव परिचित, रामकृष्ण ने उस दिन 'अपने आदमी' जैसा ही उनके साथ व्यवहार किया। लौकिक जीवन की जान पहचान से परे, इस आत्मीयता बोध की पृष्ठभूमि में जन्म-जन्मातर के योग सूत्र थे।

नरेन को बाहुओं में आबद्ध कर ठाकुर, उत्तर ओर के बरामदे के एकान्त स्थान की ओर ले गये। दोनों नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा अविरल गिर रही थी। घनिष्ट आत्मीय जैसे वे कहने लगे, "इतने दिनों के बाद आया जाता है ? मैं इतने दिनों से तुम्हारी अपेक्षा कर रहा हूँ, यह भी नहीं सोचा ? विषयी लोगों की अनर्गल बातें सुनते-सुनते मेरे कान झुलस जा रहे हैं। हृदय की बात निकालने में मौन का अवलम्बन करने से पेट भी फूल गया है।

उसके बाद ठाकुर का अविराम रुदन। नरेन तो विस्मय से हत्‌वाक हैं। उसके उपरान्त यह उन्माद ग्रस्त ब्राह्मण, हाथ जोर कर साश्रुनयनों से उनसे

कह रहे हैं, "जानता हूँ प्रभु, तुम वही ऋषि हो, जीवों की दुर्गति दूर करने के लिए तुम्हारा आगमन हुआ है।"

विश्वनाथ दत्त के पुत्र, ब्रह्म-समाज के सभ्य तथा आधुनिक शिक्षा-दीक्षा से उद्बुद्ध तरुण से यह ब्राह्मण क्या कहना चाह रहे हैं ? मानो किसी प्रच्छन्न देवता के उद्बोधन के लिए यह आतुरता है। अथवा यह कल्पना जनित है ? नरेन की चिंतनधारा को एक झटका सा लगा।

ठाकुर थोड़ी देर बाद अपने घर में घुसे। थोड़ा माखन-मिश्री और संदेश लाकर, अपने हाथों से नरेन को खिलाने लगे। नरेन की इच्छा उन सब वस्तुओं को अपने मित्रों के साथ बाँट कर खाने की है, परन्तु सुनता कौन है ?

रामकृष्ण ने स्नेह सिक्त स्वर में कहा, "वे सभी खायेंगे। पहले तुम तो खा लो।"

सारी वस्तुएँ खिलाकर ठाकुर उनके हाथ पकड़ कर विनीत स्वर में कहने लगे, "वादा करो शीघ्र ही एक दिन यहाँ आओगे और मेरे पास अकेले आओगे।" नरेन को वादा करना ही पड़ा। उसके बाद साथियों के पास वापस जाने पर उनके जान में जान आयी।

नरेन के हृदय में उस समय विचारों की आँधी चल रही थी। यह ब्राह्मण क्या उन्माद ग्रस्त है ? परन्तु उससे क्या होता है ? ईश्वर के लिए ही तो उन्होने अपना सर्वस्व त्याग कर दिया है। उत्तर काल में स्वयं ही उन्होंने इस घटना का वर्णन किया था, "अवाक्, सोचने लगा, उन्माद की अवस्था होने पर भी, ईश्वर के लिए जगत् में इस तरह का त्याग करने में बहुत ही कम लोग सक्षम हैं। पागल होने पर भी, यह व्यक्ति महापवित्र, महात्यागी है, और इसलिए मानव हृदय की श्रद्धा, पूजा एवं सम्मान पाने का यथार्थ अधिकारी है। इसी तरह सोचते-सोचते, उस दिन उनके चरणों की वन्दना कर मैंने उनसे विदा ली और कलकत्ता वापस आ गया।"

इधर नरेन के चले जाने पर ठाकुर की कैसी अवस्था है ? उन्ही के शब्दों में, "नरेन के चले जाने पर, उसे देखने के लिए हृदय में चौबीसो घंटे ऐसी व्याकुलता का अनुभव करता रहा जिसे वर्णन करना संभव नहीं है। समय-समय पर ऐसी यंत्रणा होती कि लगता जैसे हृदय को कोई गमछे के जैसा निचोड़ दे रहा है। इस समय अपने को संभाल पाना भी कठिन हो जाता। झाऊतला के निर्जन में जाकर बिलख-बिलख कर रोता—अरे, तू आ रे, तुझे बिना देखे अब नहीं रहा जाता है।"

यह आह्वान हृदय का था। यह आह्वान ईश्वरीय कर्म यज्ञ का था। यह

आह्वान धीरे-धीरे, नरेन को चुम्बक के जैसे अपनी ओर खींच ही लाया।

प्रायः एक मास बाद, नरेन फिर दक्षिणेश्वर आये। उस समय रामकृष्ण एक की तख्तपोष के ऊपर बैठे हुए हैं। नरेन को देखते ही वे आनन्द से अधीर हो उठे। परम स्नेह से उन्होंने नरेन को शय्या पर ही एक तरफ बैठाया। इसके बाद ही तुरंत भावाविष्ट हो गये। थोड़ी देर तक अस्फुट स्वर में पता नहीं क्या बोलते-बोलते उन्होंने नरेन का दाहिने पैर से स्पर्श किया। साथ ही साथ नरेन में एक दिव्य भावान्तर घटित हो गया।

उन्होंने स्वयं ही इसका विशद वर्णन किया है, "मुझे एक अपूर्व अनुभूति हुई। दिखाई पड़ा कि दिवार के साथ घर की सारी वस्तुएँ तेजी से चक्कर लगाती, पता नहीं कहाँ विलीन होती जा रही, एवं सारे विश्व के साथ मेरी अपनी सत्ता मानो एक सर्वग्रासी महाशून्य से एकाकार होने को भागी जा रही है। उस समय इतना आतंकित हो गया कि विचार आया कि अहं (अपनी सत्ता) का नाश ही तो मरना है, तथा यह मरण सामने है और अत्यन्त निकट है। अपने को संभाल न पाने पर चीख पड़ा, "तुमने मेरे साथ यह क्या कर डाला। मेरे माँ-बाप भी तो हैं। इस पर वह अद्भुत पागल खिलखिला कर हँसने लगे। अपने हाथों द्वारा मेरे सीने का स्पर्श करते हुए वे कहने लगे, फिर अभी रहने दो, एक व एक आवश्यकता नहीं समय आने पर होगा।"[1]

इसके बाद ही नरेन की वाह्य चेतना वापस लौट आयी। स्थिर होकर वे सोचने लगे, इस पगले ब्राह्मण के अन्दर किसी विराट् शक्ति का निवास है? नरेन जैसे स्वतंत्रतावादी, दृढ़चेतना, विचारशील युवक के इच्छा शक्ति को ये अनायास ही चूर्ण कर सकते हैं। मात्र इतना ही नहीं ये अपनी इच्छा से उन्हें जिस रूप में चाहें ढाल सकते हैं। ऐसे दिव्य शक्ति संपन्न मनुष्य को पागल कह कर टाल देना कैसे संभव है?

एक और दिन का भी अनुभव विचित्र रहा। दक्षिणेश्वर में यदु मल्लिक के बगीचे में ठाकुर तथा नरेन टहल रहे हैं। थोड़ी देर बाद ठाकुर ध्यानाविष्ट हो गये। उसके बाद अकस्मात् नरेन को स्पर्श मात्र करने से वे संज्ञाहीन हो गये।

वाह्य चेतना वापस आने पर नरेन ने देखा, कि रामकृष्ण उनके सीने पर धीरे-धीरे हाथ फेर रहे हैं तथा उनका मुख मंडल दिव्य आनन्द की आभा से समुज्वल है।

उस दिन वाह्य ज्ञान के लोप हो जाने की अवस्था में नरेन के साथ ठाकुर रामकृष्ण की एक अलौकिक वार्ता हो गई थी। अतीन्द्रिय राज्य के इस कथोप-

---

१ स्वामी शारदानन्द : लीला प्रसंग, पंचम खण्ड

कथन के सारांश को ठाकुर ने उत्तर काल में भक्तों के समक्ष स्वयं वर्णन किया था।

संज्ञाहीन नरेन से उस दिन उन्होंने उनके स्वरूप एवं परिचय के विषय में जिज्ञासा की थी। कहाँ से तथा क्यों वह आया है, तथा कौन सी कर्म साधना का उसका दायित्व है, ये प्रश्न भी उन्होंने पूछ लिया था। नरेन ने अचेतन अवस्था में ठाकुर के सारे प्रश्नों का उत्तर दे डाला था। ठाकुर कहते, "तभी से जान गया था, कि नरेन जिस दिन जान लेगा कि वह कौन है। उसी दिन इस लोक का त्याग कर देगा। दृढ़ संकल्प के माध्यम से योगमार्ग द्वारा वह अपना शरीर त्याग करके चला जायगा। नरेन तो ध्यानसिद्ध महापुरुष है।"

ठाकुर के दिव्य शरीर का किंचित स्पर्श, और उसके फलस्वरूप यह कैसी विचित्र आध्यात्मिक अनुभूति ! नरेन सोचने लगे, फिर क्या इस महासाधक की करुणा संपात से असंभव भी संभव हो सकता है ? मनुष्य के जन्म जन्मांतर की संस्कार राशि का क्या आहरण हो सकता है ? व्यक्तिगत रूप से उन्हें स्वयं अपने शरीर पर ही इसकी सत्यता प्रमाणित हो चुकी है।

इसके साथ ही युक्तिवादी मस्तिष्क में नाना संदेहों का भी उदय हुआ। क्या इस दिव्यकांति ब्राह्मण ने कोई सम्मोहन विद्या तो नहीं हस्तगत कर डाली है ? नरेन के आतमविश्वास के मूल में एक प्रचंड आघात लगा। उन्होंने निश्चय किया कि बिना कुछ दिनों तक छान-बीन किए तथा बिना परीक्षण-निरीक्षण किए, वे रामकृष्ण को ग्रहण नहीं करेंगे।

परन्तु ठाकुर दिव्यदृष्टि से जाने बैठे हुए हैं कि नरेन उनके ही संदेश वाहक हैं तथा उनकी ईश्वर निर्दिष्ट लीला के वे प्रधान पार्षद हैं। नरेन तो उनकी दृष्टि में एक सहस्त्रदल कमल है। कब वह रंग-रस तथा सुगन्ध के साथ प्रस्फुटित हो जायगा, इसी अपेक्षा में तो वे बैठे हुए हैं। बीच-बीच में इस तथ्य को उन्होंने लोगों के सामने प्रकट भी कर डाला।

एक दिन दक्षिणेश्वर में केशव सेन एवं विजयकृष्ण इत्यादि लोगों से घिरे हुए रामकृष्ण धार्मिक वार्त्ता कर रहे हैं। सहसा भावाविष्ट होकर वे केशव, विजय एवं नरेन की ओर देखने लगे। लगता जैसे वे इन लोगों में कुछ ढूढ़ रहे हैं।

सभा विसर्जित होने पर उन्होंने कहा, "देखा, केशव के भीतर एक शक्ति है, जिसके फलस्वरूप वह जगत् विख्यात हो गया है। परन्तु नरेन के भीतर वैसी अठारह शक्तियाँ वर्तमान हैं। फिर देखा, केशव तथा विजय के हृदय में प्रदीप के जैसे ज्ञान-लोक जल रहा है, परन्तु नरेन की ओर देखने पर लगा कि उसके भीतर ज्ञान सूर्य का

उदय हो चुका है। माया-मोह का लेश मात्र भी चिन्ह नहीं है।

नरेन चौंक पड़े। प्रतिवाद करते हुए उन्होंने कहा, "महाशय यह कैसी बातें कह रहे हैं? लोग तो आपको पागल कहेंगे। कहाँ जगत् विख्यात केशव एवं महामना विजयकृष्ण और कहाँ मेरे जैसा एक नगण्य बालक!"

ठाकुर ने असहाय जैसा उत्तर दिया, "मैं क्या करूँ रे, तू क्या सोचता है कि यह सब मैं कह रहा हूँ। माँ ने मुझे जो कुछ भी दिखाया वही तो मैंने कहा। माँ तो मुझे कभी सत्य के अलावा और कुछ दिखाती नहीं, इसी से तो मैंने ऐसी बात कही।"

तेजस्वी तथा तर्क कुशल नरेन सहज में छोड़ने वाले पात्र नहीं हैं। बोल ही बैठे, "वह सब अतीन्द्रिय रुप वगैरह, माँ काली का दर्शन तथा निर्देश, आपके अपने मस्तिष्क की उपज है। शरीर विज्ञान कहता है, हमारे इन्द्रियों का विकार अनेक समय हम लोगों को प्रभावित करता है।"

ठाकुर मानों छोटे बालक जैसे डर कर सोचने लगे-ठीक ही तो है! सत्यनिष्ठ नरेन उनको गलत बात क्यों समझाने लगा?

माँ जगदम्बा के पास सारी बातें पूछकर ही वे आश्वस्त हुए। कहने लगे, "माँ ने मुझसे कह दिया हैं, उसकी (नरेन की) बात क्यों सुनते हो! कुछ ही दिनों के बाद, वह सारी बातों को सत्य मानने लगेगा।"

तरुण भक्तों की बात चलते ही रामकृष्ण, नरेन की प्रशंसा के पुल बांध देते। कहते, "नरेन के जैसे एक भी लड़के को देख नहीं पाया। जिस तरह गाने-बजाने में, उसी तरह पढ़ने लिखने में भी। बातचीत तथा धार्मिक विषयों में भी वह उसी प्रकार पटु है। वह रात्रि भर ध्यान करता है, तथा ध्यान करते-करते कब प्रभात हो जाता है, इसका उसे होश ही नहीं रहता! मेरा नरेन सभी तरह से पूर्ण है। और लड़कों को देखता हूँ कि किसी तरह हाथ पैर मार कर दो तीन पास कर लेते हैं, और बस। इतना ही कर लेने से मानो उनकी सारी शक्ति समाप्त हो गयी है। परन्तु नरेन वैसा नहीं है, हँसते-खेलते सारा काम करता है और परीक्षाएँ पास करना तो उसके लिए खेल है! वह ब्रह्म समाज भी जाता है और वहाँ भी भजन गाता है, परन्तु वह अन्य सभी ब्राह्मों जैसा नहीं है—वह यथार्थ रुप में ब्रह्म ज्ञानी है। ध्यान करने बैठता है तो उसे ज्योति के दर्शन होते हैं। वैसे ही उससे प्यार थोड़े ही करता हूँ!"

नरेन के संबन्ध में ठाकुर की उक्ति बड़ी सहज थी। प्रायः ही वे कहते—"वह म्यान से निकली तलवार है, वह अखण्ड का घर एवं ध्यान सिद्ध ऋषि है।"

अपने आचार-व्यवहार में भी इस तरुण भक्त की असामान्यता को सभी

के समक्ष दर्शाने में संकोच नहीं करते थे। दक्षिणेश्वर में अनेक वणिक संप्रदाय के भक्त भी आते जाते रहते तथा ठाकुर के लिए फल-फूल एवं मिष्ठान ले आते। इन सभी सकाम निवेदन की वस्तुओं को ठाकुर नरेन को ही खिला डालते। कहा करते, "उसकी कोई हानि नहीं होगी।"

नरेन व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी थे, तथा गर्वोक्ति की भी कमी नहीं थी। एक दिन भक्त मण्डली परिवृत ठाकुर के सन्मुख आकर उन्होंने दर्पपूर्ण स्वर में कहा, "महाशय, आज होटल में, साधारण लोग जिसे अखाद्य कहते हैं, वही सब खाकर आ रहाहूँ।" ठाकुर ने इस बात को कोई अहमियत न देते हुए उत्तर दिया, "तुझे उन सब वस्तुओं से कोई दोष नहीं लगेगा। सूअर-गाय खाकर भी यदि कोई भगवान की ओर उन्मुख है, तो वह हविषान्न जैसा है, तथा शाक सब्जी खाकर यदि कोई विषय वासना में डूबा रहता है तो वह सूअर गाय के भक्षण के ही समान है।"

आये हुए भक्तों की ओर देखते हुए वे कहते, "कोई व्यक्तिक्रम हो जाने पर भी नरेन के लिए कोई दोष नहीं है। उसके भीतर ज्ञानाग्नि सर्वदा प्रज्वलित है जो कि आहार के दोषों को भस्म कर डालेगी। इन सब अनाचारों से उसका मन कलुषित नहीं होगा।"

उसके बाद सभी को विस्मित करते हुए ठाकुर ने इस चिह्नित भक्त के संबंध में कहा, "उसने ज्ञान खड्ग की सहायता से सभी मायामय बन्धनों को खण्ड-खण्ड कर दिया है। इसीलिए तो महामाया, उसे अपने अधीन नहीं कर पा रही है।"

परन्तु नरेन अपने मन के द्विधा-द्वन्द्व, मत विरोध, सभी कुछ, सब के सामने स्पष्ट रूप से व्यक्त करते। मात्र इतना ही नहीं, उनके तीव्र व्यंगों तथा वाक्य वाणों से सभी जर्जरित होते।

नरेन, साधारण ब्राह्म ससाज के सदस्य हैं, तथा वहाँ की नियमित प्रार्थनाओं में योगदान करते हैं। ठाकुर की साकार आराधना को उनके अद्वैत विचार हँस कर उड़ा देते। परन्तु रामकृष्ण का अपने उत्तराधिकारी साधक के ऊपर अटूट विश्वास है। इस राजकीय शिकार के लक्ष्य वस्तु इस सिंह को निशाने पर लाने की ताक में वे हैं।

शीघ्र ही एक आकस्मिक घटना से उनका तथा नरेन का संपर्क और भी प्रगाढ़ हो उठा। नरेन ने ब्राह्म समाज का त्याग कर डाला।

नरेन कुछ दिनों से दक्षिणेश्वर नहीं आ रहे हैं। ठाकुर उनसे साक्षात् न होने के कारण अधीर हैं। ऐसी स्थिति में एक रविवार को उनके साथ भेंट करने

हेतु, वे सीधा साधारण ब्राह्म समाज की सभा में जाकर उपस्थित हो गये। रामकृष्ण के संपर्क में आकर केशव, विजय, चिरंजीव इत्यादि, ब्राह्म नेताओं में स्पष्ट परिवर्तन हुआ है। १ इसीलिए, शिवनाथ इत्यादि, ब्राह्म आचार्यों का एक दल उनके संसर्ग को उतना पसन्द नहीं करते हैं। भरसक वे उनसे दूर रहने की ही चेष्टा करते हैं। परन्तु व्याकुल रामकृष्ण को इतना कुछ सोचने का अवसर ही कहाँ हैं? नरेन की खोज में, बछड़े से बिछुड़ी गाय जैसे, वे उस दिन समाज में आकर उपस्थित हो गये।

समाज मंदिर में घुसते ही ठाकुर भावाविष्ट हो गये। शरीर रोमांचिक है तथा दोनों पैर चल रहे हैं। इसी अवस्था में वे वेदी की ओर अग्रसर हुए। नरेन्द्र, प्रति रविवार समाज गृह में आते हैं। इस दिन भी वे उपस्थित हैं। ठाकुर क्यों वहाँ आये हैं, यह समझने में उन्हें विलम्ब नहीं हुआ।

परन्तु वेदी पर बैठे आचार्य अथवा किसी अन्य ब्राह्म आचार्य ने ठाकुर की अभ्यर्थना नहीं की। पूरा परिवेश ही अशिष्ट सा था। परन्तु ठाकुर को तो कोई होश ही नहीं था, शीघ्र ही वे समाधिस्थ हो गये। कौतूहली जनता की भीड़ से बचने के लिए मंदिर के अन्दर की गैस की बत्ती बुझा दी गयी। काफी कष्ट से ठाकुर को लेकर नरेन मंदिर से बाहर निकले, तथा दक्षिणेश्वर वापस आये।

उनके साथ साक्षात् करने हेतु ही ठाकुर ने इतना अपमान सहा! नरेन का हृदय इस घटना से अत्यन्त तीव्र रूप से आहत हो उठा। प्रेम के जागरण के साथ-साथ, उन्हें क्रोध भी कम नहीं हुआ। उन्होंने रामकृष्ण की इस दुर्बलता के कारण तीव्र भाषा में तिरस्कार किया। उसके बाद उन्हें धमकाते हुए उन्होंने कहा, "महाशय, अंत में इस माया के हेतु, ही आपको विपत्ति में पड़ना होगा। पुराण में वर्णित है, कि राजा भरत को हरिण की बात, सोचते-सोचते हरिण की योनि में जाना पड़ा। आपके भाग्य में भी लगता है वैसा ही परिणाम है!"

रामकृष्ण तो मानों जगदम्बा के पुत्र ही हैं। व्यथित हृदय से उसी समय माँ के पास दौड़ पड़े उनके आश्वासन युक्त वचन सुन कर जब वे वापस आये, तब उसका मुखमंडल आनंद की आमा से दमक रहा था। मुस्कराते हुए, वे नरेन से कहने लगे, "जा साला! मैं तुम्हारी बात नहीं सुनने का। माँ ने कह दिया है—कि तू उसके प्रति साक्षात् नारायण का भाव रखता है, इसीलिए इतना प्रेम करता है। जिस दिन तुझे उसके भीतर नारायण नहीं दिखायी पड़ेंगे उस दिन उसका मुख भी नहीं देख सकोगे।"

इस देव शिशु के समक्ष जगन्माता के चरणों में समर्पित-प्राण, सन्तान के

१ मैक्स मूलर : रामकृष्ण—हिज लाइफ एण्ड सेइंगस्

समक्ष, नरेन्द्रनाथ को उस दिन हार माननी ही पड़ी।

नरेन के दक्षिणेश्वर आते ही ठाकुर आनंद से उत्फुल्ल हो उठते। बीच-बीच में उसको देखकर उन्हें ऐसी उद्दीपना होती कि वे समाधिस्थ हो जाते।

बी. ए. की परीक्षा समागत है। तैयारी करने के लिए नरेन, कुछ दिनों के लिए व्यस्त हैं, तथा दक्षिणेश्वर नहीं आ पा रहे हैं। ठाकुर उनके लिए अधीर हो पड़े। एक दिन नरेन के साथ साक्षात्कार हेतु, वे स्वयं कलकत्ता आकर उपस्थित हो गये। पढ़ने-लिखने तथा ध्यान-धारण की सुविधा हेतु नरेन्द्र उन दिनों अपनी मातामही के घर के एक एकांत कमरे में निवास कर रहे थे। दुमंजिले पर इस छोटे से घर का उन्होंने नामकरण कर डाला है "ढः"। एक छोटे तख्तपोश के ऊपर दरी बिछी है तथा चारों ओर कापियों का ढ़ेर है। मेज के एक ओर तम्बाकू का ढ़ेर तथा राख है, दूसरी ओर तानपूरा तथा तबला है। मानों यह घर के मालिक के अशांत मन की हूबहू प्रतिच्छवि हो।

ठाकुर नीचे से ही 'नरेन' की पुकार लगाने लगे। नरेन दौड़ते हुए आकर, ठाकुर की अभ्यर्थना कर, ऊपर ले गये। साश्रु नयन, गद्‌गद् स्वर में ठाकुर कह रहे हैं, "तू इतने दिन, आया क्यों नहीं रे? तू इतने दिन आया क्यों नहीं रे?"

प्रेम लीला की समाप्ति इतने पर ही नहीं हुई। दक्षिणेश्वर से गमछे में बांधकर वे नरेन के लिए संदेश लाये हैं। व्यग्रता से उसे खोलते हुए कहने लगे, "लो, खाओ, खाओ।"

स्नेह पूर्ण स्वर में उन्होंने कहा, "एक गीत सुनाओ। काफी दिनों से तुम्हारा कण्ठ स्वर सुनने को नहीं मिला।"

यह आगमन अत्यन्त अयाचित था, तथा कृपा भी विलक्षण थी। नरेन अभिभूत हो गये हैं। तानपूरा लेकर धीर स्वर में उन्होने संगीत प्रारंभ किया—

कुल कुंडलिनी माँ तुम जागो
ब्रह्मानंद स्वरूपिणी हो तुम।
नित्यानंद स्वरूपिणी हो तुम,
प्रसुप्त भुजगाकारा हो तुम
आधार-पद्‌म-वासिनी हो तुम।

ठाकुर का मन उस समय उर्ध्वतर चेतना की ओर उन्मुख होने लगा है। धीरे-धीरे वे समाधि मग्न हो गये।

नरेन ने ठाकुर के आचार-व्यवहार को अब तक कुछ हद तक समझ लिया है। भजन गान के माध्यम से ही ठाकुर को वाह्य ग्यान की भूमि पर अवतरण कराना संभव हो सकेगा। इसी कारण गाने लागे, "एकबार तेमनि तेमनि तेमनि

करे नाच मा श्यामा।"

धीरे-धीरे ठाकुर सहज अवस्था में आगये। उसके बाद अपने आप तथा स्नेह के पात्र नरेन को दक्षिणेश्वर ले जाकर ही वे शांत हुए।

यह, स्वार्थ की गन्ध से रहित, अपार्थिव प्रेम का प्लावन दिन पर दिन मानों नरेन के जीवन के भित्तिमूल को शिथिल करने लगा। इसी का उल्लेख करते हुए उत्तर काल में स्वामी विवेकानन्द कहा करते, "ठाकुर का यह प्रेम ही उनको चिरबंधन में जकड़ गया। अकेले उन्ही को इस प्रेम करने की कला का ज्ञान था तथा संसार के अन्य सभी लोग तो मात्र स्वार्थसिद्धि के लिए प्रेम करने का ढोंग ही करते हैं।"

इस दिव्य प्रेम के आकर्षण से ठाकुर के पास चुम्बक जैसे खिचे चले आये और उनका व्यक्तिगत अस्तित्व ठाकुर के चरणों में विलीन होने लगा। परन्तु इसके बाद ही आयी ठाकुर की ओर से एक और परीक्षा। कुछ दिनों से वे नरेन में अधिक दिलचस्पी नहीं ले रहे हैं। मानो अहैतुकी कृपा की धारा को उन्होंने स्तब्ध कर दिया है। पहले नरेन्द्र को देखते ही प्रसन्नता से मत्त हो उठते थे, अब वह रूप दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। एक बार भी बुलाकर कोई बात तक नहीं पूछ रहे हैं। इस अवहेलना से नरेन पर भी कोई प्रतिक्रिया नहीं हो रही है, तथा वे पूर्ववत नियमित रूप से ठाकुर के पास जाकर उनका दर्शन कर आते हैं। उसके बाद भक्तों के साथ वार्तालाप करके घर वापस चले जाते हैं।

इस उदासीनता तथा अवहेलना का दौर प्रायः एक मास तक चला। ठाकुर ने एक दिन जिज्ञासा की, "मैं तो आजकल तुम्हें बुला कर कोई बात भी नहीं करता। फिर तू यहाँ क्यों आता रहा है, यह तो बता ?"

नरेन्द्र ने अनायास ही उत्तर दिया, "आपकी बातें सुनने के लिए तो आता नहीं। आपसे प्रेम करता हूँ और निरंतर देखने की इच्छा होती है, इसीलिए आता हूँ"

दुर्धर्ष सिंह, शिकारी के जाल में जकड़ चुका है। नरेन की इस स्पष्ट स्वीकारोक्ति से ठाकुर के आनंद की सीमा नहीं रही। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा "मैं तुम्हारी परीक्षा ले रहा था, कि रूखा व्यवहार करने से तू भाग तो नहीं जाता। तुम्हारे जैसा आधार ही ऐसी स्थिति को सहन कर सकता है।'

रामकृष्ण, एक दिन दक्षिणेश्वर में बैठें हुए नरेंन के समक्ष अद्वैत तत्व की व्याख्या कर रहे हैं। वह कह रहे हैं कि जीव तथा ब्रह्म में कोई पार्थक्य नहीं है। नरेंन स्वतः ब्राह्म समाज द्वारा प्रभावित हैं, तथा ऐसे कट्टर अद्वैतबाद की

बात उनके गले नहीं उतर रही है। मंदिर के मंडप के एक तरफ प्रताप हाजरा रहते हैं। कभी-कभी नरेन वहाँ बैठ कर गप-शप करते हैं तथा तम्बाकू खाते हैं। एक दिन बातचीत के सिलसिले में नरेन, हाजरा से कहने लगे, "क्यों महाशय, यह क्या कभी हो सकता है? घड़ा ईश्वर है, कटोरा ईश्वर है। जो कुछ आँखों के सामने है सभी ईश्वर है!"

हाजरा ने भी उस बात पर व्यंग करते हुए अपना मत प्रकट किया। दोनों ही हँसने लगे। उस समय ठाकुर अपने कक्ष में भावाविष्ट थे। नरेन की हँसी कानों में पड़ते ही वे बाहर निकल आये। नेत्र अर्ध निमीलित हैं, तथा शरीर के कपड़े, बच्चों जैसे बगल में दबाए हुए हैं। निकट आकर अस्फुट स्वर में उन्होंने प्रश्न किया, "तू क्या कह रहा है रे?" उसके बाद थोड़ा पास आकर नरेन को स्पर्श करते ही एक अद्‌भुत काण्ड घटित हो गया! नरेन समाधिस्थ हो गये।

यह मानो ऐन्द्रजालिक स्पर्श था! हास्य-परिहास रत नरेन की संपूर्ण सत्ता में मानों विप्लव घटित हो गया। क्षण भर में ही उनकी सारी चेतना तथा सारे अस्तित्व में एक विराट रूपान्तर घटित हो गया है। साथ ही साथ नरेन को ज्ञात हो गया, कि ईश्वर से भिन्न, सारे विश्व ब्रह्माण्ड में अन्य किसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह अपूर्व दिव्य अनुभूति सारे दिन उनके अंदर जाग्रत रही।

उसके बाद घर वापस आ जाने पर भी, यह चैतन्यमय अवस्था अक्षुण्ण रही। भोजन पर बैठने पर उन्हें दृष्टिगोचर होता, अन्न, थाली, परोसने वाले, सभी कुछ उसी एक परम ब्रह्म के ही रूप हैं। रास्ते, बाजार तथा कालेज में भी केवल वही ज्ञान रहता। मात्र एक-दो दिन ही नहीं, वरन् कई दिनों तक इस चिन्मय अनुभूति से उनकी समग्र सत्ता ओत-प्रोत रही।

स्वामी जी ने कहा था, "जब यह आच्छन्न भाव थोड़ा कम हो जाता, तब जगत् स्वप्नवत दृष्टिगोचर होता। हेदुआ पुकुर की तरफ घूमने जाता तो उसके चारों ओर लगी लोहे की रेलिंग पर माथा पटक कर देखता कि जो कुछ भी देखता हूँ वह वह स्वप्नमय है या वास्तविक है। हाथ-पैर की शिथिलता देख कर यह विचार उठता कि कहीं पक्षाघात तो नहीं हो जायगा? काफी लम्बी अवधि तक भाव की गंभीरता एवं आच्छन्नता से मुक्ति नहीं मिली। जब होश में आया, तब सोचने लगा—यही है अद्वैत विज्ञान का आभास। फिर तो जो शास्त्रों में लिखा है, वह मिथ्या नहीं है। उसी समय से अद्वैत तत्व के ऊपर संदेह नहीं जगा।"

शुद्धतम प्रेम के दुर्भेद्य दीवार से, ठाकुर ने नरेन को आवेष्ठित कर डाला है। अब वास्तविक अनुभूति एवं प्रत्यक्ष दर्शन के माध्यम से वे धीरे-धीरे उनको

चैतन्य के तोरण द्वार पर लाकर उपस्थित कर दिया। हँसी हँसी में ही तथा उन्हें अग्राह्य करते हुए ही, स्वाधीन चेता एवं मुक्तिवादी नरेन ने उनका अनुसंधान आरंभ किया था। आज उनमें ही पूर्ण स्वीकृति के माध्यम से धीरे-धीरे आत्म-प्रकाश का अभ्युदय हुआ।

सिंह अब एक छलांग में अपने लक्ष्य वस्तु पर टूट पड़ा है। रामकृष्ण अब नरेन की संपूर्ण सत्ता में व्याप्त हो चुके हैं।

नरेन की स्वीकृति एवं शरणागति का एक अपूर्व चित्र शरत् महाराज अंकित कर गये हैं। १८८४ ई० का शीत काल। शरत एवं शणीर के साथ हेदुआ में घूमते-घूमते, नरेन ने उनके समक्ष अपने अंतर की बात प्रकट की थी। रामकृष्ण की निर्दिष्ट, ईश्वरीय कार्य-लीला का आभास उन्हें उस समय मिल चुका था। उनकी कृपा के फलस्वरूप कितने शरणगत भक्तों के कितने संस्कार बंधन कट रहे हैं, तथा दिव्य आनंद के वे अधिकारी होते जा रहे हैं, इसका अपूर्व वर्णन उन्होंने किया। प्रत्यक्ष अनुभूति लाभ के माध्यम से वे स्वयं भी धन्य हो चुके हैं। यह वर्णन कर लेने के उपरान्त सजल नेत्रों से, प्रेम गद्‌गद् स्वर में नरेन ने गाना आरंभ किया—

बुला रहे हैं चाँद ओ निताई,
कह कर आओ भाई, आओ भाई।
श्री गौरांग प्रभु हैं प्रेम धन,
लुटा रहे हैं आज प्रेम-धन॥
(मेरे पास आओगे कौन ?)
उन्मुक्त लुटाने प्रेम कलश
फिर भी रहता सदा समस्त॥

तरुण साधक के हृदय कपाट उस दिन उन्मुक्त थे। स्वतः ही वे अस्फुट स्वर में कहने लगे।" हाँ सचमुच ही वे सभी कुछ आत्मसात् करते जा रहे हैं। जो कुछ भी श्रेय, प्रेम बल, भक्ति बल, ज्ञान बल, मुक्ति बल, अवशिष्ट है, गोरा राय जब भी चाहते है, एक-एक कर विनष्ट करते जा रहे हैं। यह कैसी अद्भुत शक्ति है! रात में बिस्तर पर सोया हुआ हूँ, अकस्मात आकर्षण कर वे दक्षिणेश्वर बुला डालते हैं–शरीर के भीतर जो कुछ भी है, उसी को। उसके बाद, कितनी बातें, कितने उपदेश देने के उपरान्त वापस जाने देते हैं। दक्षिणेश्वर के गोरा राय, निश्चित रूप से सब कुछ करने में सक्षम हैं। "

अतीन्द्रिय लोक के गहन में, मर्म चेतना एवं शक्ति के मर्मकेन्द्र पर, महा-

साधक रामकृष्ण समासीन हैं। नरेन्द्रनाथ का अब उनका वास्तविक परिचय मिलने लगा है। उस दिन की बातों में उसी अध्यात्म लोक की आश्चर्य जनक बातों का आभास स्पष्ट रूप से मिल गया।

साधन-पथ का मार्ग निर्देशन हो चुका है—नरेन्द्र ने रामकृष्ण को अपने जीवन प्रभु के रूप में स्वीकार कर लिया है। अब ठाकुर ने नरेन की परीक्षा एवं जीवन मंथन के अध्याय का आरंभ किया। बार-बार, दारिद्रय की पीड़ा सताने लगी। उसके बाद पिता की आकस्मिक मृत्यु हो गयी। इस दुर्भाग्यपूर्ण अध्याय का सूत्रपात हुआ १८८४ ई० के प्रथम चरण में। इसके कुछ पूर्व नरेन ने बी० ए० की परीक्षा दे डाली है।

पिता एक विशिष्ट एटर्नी थे, फिर भी थे शाहखर्च। संचय करना तो दूर की बात, कुछ ऋण का बोझ भी वे छोड़ गये थे। और उसके साथ ही था माँ तथा भाई-बहनों के खाने पहनने का दायित्व नरेन पर। माता तथा पुत्र, साहस के साथ, इस संग्राम में जूझ रहे हैं। जिस गृहस्थी का मासिक व्यय, एक हजार रुपये था, आज उसी को मात्र तीस रुपयों में चलाया जा रहा है। परन्तु इतने रुपये भी कहाँ से मिले ?

इन दिनों के संकट का वास्तविक चित्र, उत्तरकाल में विवेकानन्द ने स्वयं वर्णित किया था, "मृत्य शौच समाप्त होने से पूर्व ही काम करने के लिए सचेष्ट हो जाना पड़ा था। निराहार तथा नंगे पाँव, नौकरी की अर्जी, हाथ में लेकर, दोपहर की भयानक धूप में, एक आफिस से दूसरे आफिस घूमता फिरता था। अंतरंग बंधुओं में से कोई-कोई दुःख से द्रवित होकर साथ रहता तथा कभी-कभी कोई भी साथ नहीं रहता, तथा सब जगह विफल होकर ही वापस लौटना पड़ता। यह मेरा संसार के साथ प्रथम परिचय था। इतने में ही ज्ञात हो गया कि स्वार्थ शून्य सहानुभूति का मिल पाना यहाँ अत्यन्त कठिन है। दुर्बल तथा दरिद्र का यहाँ स्थान ही नहीं है। दो दिन पहले जो हमें सहायता करने में गर्व का अनुभव करते थे, आज वे ही समय देखकर मुँह फेरने लगे। जिस दिन यह समझ लेता कि घर में सबके लिए पर्याप्त भोजन सामग्री नहीं है, तथा हाथों में पैसा भी नहीं है, उस दिन माता से यह कह कर कि "आज मुझे निमंत्रण है" बाहर निकल पड़ता, एवं थोड़ा-बहुत खाकर तथा कभी निराहार रहकर ही काट लेता।"

इतना कुछ दुःख-कष्ट एवं अभाव होते हुए पहचान वालों ने फसाद करना आरंभ कर दिया। घर से निकालने के लिए लोगों ने मुकदमा भी शुरु कर दिया था।

इतने उत्पीड़न के अलावा एक और किस्म का उत्पात नरेन्द्र के जीवन में

आ गया। एक धनी महिला की दृष्टि सुन्दर तरुण नरेन के ऊपर पहले से ही थी। अवसर पाकर वे लोग दिखाने लगीं कि उन्हें ग्रहण कर लेने से शीघ्र ही नरेन इस अर्थ संकट से मुक्ति लाभ कर सकेंगे। परन्तु नरेन ने इस प्रस्ताव को घृणापूर्वक ठुकरा दिया।

इन्हीं दिनों उनका एक धनी बंधु आमोद-प्रमोद के लिए उन्हें अपने बगीचे वाले घर में ले गया। नरेन ने वहाँ जाकर देखा कि सुरा एवं वारांगनाओं की भी वहाँ व्यवस्था है। सभी ने साजिस करके स्त्रियों का नरेन के शयन कक्ष में प्रवेश करा दिया। युवती की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए तेजस्वी नरेन प्रश्न पर प्रश्न करने लगे।—क्यों वह इस पाप के मार्ग में उतर पड़ी है? वास्तविक सुख क्या उसके जीवन में कभी मिला है?

उसके बाद तीक्ष्ण, पौरुष पूर्ण स्वर में वे बोल उठे, "इस नश्वर शरीर की तृप्ति के लिए तो इतना कुछ किया, परन्तु मृत्यु क्या कभी तुम्हें छोड़ने वाली है? वह तो क्रमशः आगे बढ़ती ही आ रही है। उस पार की व्यवस्था क्या तुमने कुछ की है? इन सब बातों को त्याग कर भगवान को पुकारो।"

रमणी लज्जित एवं अनुतप्त हो उठी। वापस आकर वह शिकायत के लहजे में कहने लगी, "छिः, ऐसे लोगों के पास भी क्या मुझे भेजना चाहिये।"

साहस एवं कपट रहित आचरण नरेन का जन्मजात वैशिष्ठ्य था। बगीचे से वापस आकर, नरेन सभी से कहा करते, "जानते हो, बगीचे में जाकर आज कितना आमोद प्रमोद कर आया हूँ। वहाँ सुरा एवं सुन्दरी दोनों की ही व्यवस्था थी।

यह सब बातें फैलती हुई, परमहंस देव के कानों तक पहुँची। नरेन का अधःपतन हो गया है। रामकृष्ण क्रोध से फट पड़े, "सालों, चुप रहो! माँ ने कह रखा है, वह कभी ऐसा नहीं हो पावेगा। स्त्री संसर्ग उसे कभी नहीं होगा। फिर तुम लोगों ने ऐसी बातें की तो मैं तुम्हारा मुँह भी नहीं देखूँगा।"

नरेन के जीवन प्रभु अपने ज्योति प्लावन कारी तृतीय नयन को जो उनकी ओर सतत लगाये हुए हैं। उस नेत्र की दृष्टि सीमा को लांघ कर जाने का उनके पास उपाय ही क्या रह गया है।

कभी अभिमान से तथा कभी दारिद्रय के भीषण आघात से नरेन अपना रोष व्यक्त करते, तथा ईश्वर के अस्तित्व में भी संदेह व्यक्त करने लगते, परन्तु ठाकुर से साक्षात् के उपरान्त जिन प्रत्यक्ष अनुभूतियों का लाभ उन्होंने किया है, तथा जो अलौकिक दर्शन उन्हें प्राप्त हुए हैं, वे तो भूलने की वस्तु नहीं है अतः संचारी, आलोक स्रोत धीरे-धीरे उनके जीवन के मार्ग में प्रवाहित होने लगा

है। और वह प्रवाह ठाकुर रामकृष्ण की कृपा धारा से ही प्रवाहित हो रहा है, इसको अस्वीकार करने का भी उनके लिए क्या उपाय है ?

उन दिनों नरेन्द्रनाथ बेकार थे। भग्न हृदय तथा अवसन्न शरीर लिए वे घर वापस आये हैं। अंततः वे रास्ते के किनारे वाले बरामदे में निद्रित हो गये। चेतना लगभग लुप्त प्रायः थी। उसी समय उन्हें एक विस्मयकर अतीन्द्रिय अनुभूति हुई। उत्तर काल में उन्होंने स्वयं ही इसका वर्णन किया था,—सहसा, मुझे ज्ञान हुआ कि मानो किसी दैवी शक्ति के प्रभाव से, अंतर के एक के बाद एक पर्दे उठते जा रहे हैं। शिव के संसार में अशिव क्यों, तथा ईश्वर की कठोर न्यायपरता एवं अपार करुणा का सामंजस्य कहाँ है—ऐसे प्रश्नों का उत्तर जो इतने दिनों से नहीं मिल रहा था, जिसके कारण मन संदेहाकुल हो रहा था, उन सभी विषयों की स्थिर मीमांसा अंतर के निविड़तम प्रदेश में स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे। आनंद से उत्फुल्ल हो उठा। उसके बाद वाह्य ज्ञान लाभ होने पर भान हुआ कि शरीर में लेशमात्र भी क्लांति नहीं है, एवं मन प्रचुर बल एवं शांति से परिपूर्ण है, तथा रात शेष होने में अधिक समय नहीं है।"

इसके बाद अंतर में एक नवीन आलोड़न का समारंभ हुआ। तीव्र वैराग्य की झंझा प्रवाहित होने लगी। जीवन की क्षय-क्षति, निंदा-प्रशंशा से उसका क्या लेना देना है ? दृढ़ मान्यता का उदय होने लगा कि संसार के प्रपंच में आवद्ध रहने के लिए तो उनका जन्म नहीं हुआ। मुक्ति का रसास्वादन उन्हें करना ही होगा। निश्चय कर डाला कि संसार का त्याग कर वे सन्यास ग्रहण करेंगे।

कई दिन बाद रामकृष्ण, कलकत्ते में एक भक्त के निवास स्थान पर आये हुए हैं। नरेन को उस दिन एक तरह से जबरदस्ती करके ही दक्षिणेश्वर अपने साथ लेते गये। घर के भीतर बहुत से भक्तों का समागम है। ठाकुर भावाविष्ट हो बैठे हुए हैं। सहसा नरेन के निकट आकर अपलक उनकी ओर देखते रहे। उसके बाद साश्रु नयन, वे यह गीत गुनगुनाने लगे,–

कथा कहते होता भय,
न कहते होता भय।
मेरे मन होता सन्देह,
खो न जाओ तुम हे राधे।

इस प्रच्छन्न इंगित का मर्म समझने में नरेन को विलम्ब नहीं हुआ। सर्वज्ञ ठाकुर को, उनके सन्यास ग्रहण के संकल्प का ज्ञान हो गया है। इसी आसन्न विच्छेद की व्यथा, उनके इस गान में छिपी हुई है।

नरेन के मन का रुद्ध भाव प्रवाह मानों क्षण भर में ही बंधन मुक्त हो गया। ठाकुर के ही जैसे, उनके भी नेत्रद्वय अश्रुसजल हो उठे।

दोनों के इस रहस्यमय आचरण से विस्मित सभी नीरव बैठे हुए हैं। ठाकुर ने मुस्कराते हुए सभी की ओर देखकर कहा, "हम दोनों के बीच एक वार्तालाप हो गया।"

उसी रात नरेन को दक्षिणेश्वर बुला कर रामकृष्ण ने उनसे गोपन रुप से कहा, "अरे, मैं जानता हूँ, तू माँ के कार्य के लिए ही आया है। गृहस्थी में रहना तुझसे संभव नहीं होगा। परन्तु मैं जब तक विद्यमान हूँ, मेरे लिए ही तू रह।" बातें मानों नरेन्द्र नाथ के जीवन के लिए दिग्दर्शक संकेत जैसी थीं। वे पूरी तरह उनके हृदय के अंतस्तल को विद्ध कर गयीं। तथा इसके साथ ही साथ, उन्हें स्मरण हो आये ठाकुर के अश्रुसजल नेत्र तथा अंतर का प्रेम प्रवाह। यह प्रवाह नरेन्द्रनाथ जैसे ऐरावत को भी डुबा ले जाने के लिए यथेष्ट था।

घर की स्थिति क्रमशः और जटिल होती गयी। घर वाले मुकदमें में भी उनकी स्थिति जटिल होती गयी। पुस्तक प्रकाशन तथा एटौर्नी आफिस में अथक परिश्रम करने के उपरान्त इस समय कुछ द्रव्य का उपार्जन तो अवश्य हो जा रहा है, परन्तु इससे माँ तथा भाई-बहनों के लिए अन्न की व्यवस्था कर पाना भी संभव नहीं हो पा रहा है। क्रमशः अर्थाभाव चरम सीमा पर जा पहुँचा।

आत्म परिजनों का अन्न कष्ट अब सहन करना संभव नहीं हो पा रहा है। नरेन एक दिन घर से बाहर निकल पड़े। उन्होंने मन ही मन स्थिर किया कि जिस ठाकुर के ऊपर वे अपने जीवन का समस्त दायित्व डालकर बैठे हुए हैं। उन्हीं से आज माँ तथा भाई-बहनों के क्षुधा निवारण हेतु कृपा भिक्षा माँग लेंगे। हृदय टटोल कर उन्होंने देखा कि रामकृष्ण ही तो उनके जीवन के एक मात्र संबल हैं। सांसारिक तथा पारलौकिक जो कुछ भी माँगना है, उनको छोड़ कर वे और किससे मांगेंगे? अब सांसारिक तथा आध्यात्मिक दोनों जीवनों का बोझ ठाकुर के चरणों में ही समर्पित कर वह रक्षा पा सकेंगे। उनके अन्तर का आत्म विश्वास पूर्णतया विनष्ट हो चुका है।

उसी समय दक्षिणेश्वर जाकर उन्होंने ठाकुर को पकड़ा। कहा, "महाशय, गृहस्थी के झंझट की बात मैं अब नहीं सोचूँगा। आप माँ से कह कर, जो भी संभव हो व्यवस्था करें।"

"क्यों रे, मैं तो यह सब बातें कहने को सक्षम नहीं हूँ। तू स्वयं ही माँ से जाकर क्यों नहीं कहता? माँ को तू मानता नहीं, इसीलिए इतनी विपत्ति में पड़ा है। कालीघर में जाकर आज तू जो भी माँ से मांगेगा माँ, तुझे वह अवश्य देगी। मेरी माँ तो चिन्मयी है। ब्रह्म शक्ति है। इच्छा मात्र से वह सब कुछ कर सकती है। तू जा तो उसके पास।"

निशीथ रात्रि। नरेन धीरे-धीरे भवतारिणी मन्दिर में जाकर बैठ गये। गंभीर भावावेश से वे आविष्ठ हैं। उस दिन की अनुभूति के संबंध में विवेकानन्द ने बाद में कहा था, "जाते-जाते एक गंभीर नशे से अभिभूत हो गया, पैर डगमगाने लगे। माँ के सचमुच दर्शन कर सकूँगा तथा उनके श्री मुख की वाणी प्रत्यक्ष सुन सकूँगा, मन में यह स्थिर विश्वास आते ही अन्य सारी बातें भूल कर अत्यन्त एकाग्र एवं तन्मय हो मात्र इतनी ही बात सोचने लगा। मंदिर में उपस्थित होते ही दृष्टिगोचर हुआ, माँ सचमुच चिन्मयी तथा जीविता एवं असीम प्रेम तथा सौन्दर्य की प्रसवण रुपिणी है। भक्ति तथा प्रेम से हृदय उच्छवसित हो उठा। विह्वल होकर, बार-बार प्रणाम करते-करते कहने लगा, "माँ, विवेक दो, वैराग्य दो ज्ञान दो, भक्ति दो, जिससे मुझे तुम्हारे अवाध दर्शन का नित्य लाभ हो सके। इसी तरह र डालो। शांति से प्राण प्लावित हो उठे। जगत् संसार सर्वथा निःशेष होकर एकमात्र माँ ही हृदय पर पूर्णतया छायी रहे।"

पाषाण प्रतिमा में चिन्मयी जगज्जननी का दिव्य आविर्भाव घटित हो गया है। तथा नरेन की ससग्र सत्ता में प्रचन्ड आलोड़न जाग्रत हो चुका है। अन्न-वस्त्र की नगण्य समस्या का उन्हें बिल्कुल विस्मरण हो चुका है। इसीलिए माँ के पास उसे कह ही नहीं पाये। ठाकुर के निर्देश पर वे बार-बार मंदिर में जाकर बैठे, परन्तु वह प्रश्न उठाने में सक्षम ही नहीं हो सके।

बार-बार यही सोचने लगते कि किस मुँह से यह तुच्छ बात, जगज्जननी आद्या शक्ति से वे कहने जाँयगे? ठाकुर का निर्देश जो वे भक्तों से प्रायः ही कहते, स्मरण हो आयी, "राजा की प्रसन्नता लाभ के उपरान्त उसके पास से तुच्छ लौकी-कोहड़े की कामना—यह तो मूर्खों का कार्य है।"

माँ के पास से उस दिन मात्र ज्ञान-भक्ति की ही प्रार्थना कर, नरेन्द्रनाथ वापस आ गये।

सहसा इस घटना का अर्थ, उनके समक्ष स्पष्ट हो गया। वे समझ गये कि यह मात्र ठाकुर की एक रहस्यमय लीला है। नहीं तो जिस समस्या के लिए व्याकुल होकर वे दक्षिणेश्वर आये हैं, उसके लिए बार-बार मौन रह जाने की बात आयी ही क्यों?

घर के अन्न कष्ट निवारण हेतु, उन्होंने अब ठाकुर को ही पकड़ा। कोई चारा न देखकर अन्ततः उस दिन रामकृष्ण को कहना ही पड़ा, "अच्छा, जाओ मोटा भात तथा कपड़े का कष्ट कभी नहीं होगा।

अच्छा, बुरा सभी कुछ नरेन ने ठाकुर के चरणों में इससे पूर्व समर्पित कर दिया है। परन्तु माँ तथा भाई-बहन के प्रति कर्तव्य के बोझ को उन्हें समर्पित

करने की बात तो कभी सोची भी नहीं। रामकृष्ण ने मानों स्वयं ही कृपा करके वह बोझा अपने कंधों पर ले लिया है। दायित्वबोध एवं आत्म प्रत्यय के साथ भी एक सूक्ष्म अहं बोध विद्यमान रहता है। उसे भी ठाकुर ने नरेन के जीवन से बिल्कुल ही निकाल देने का उपक्रम किया।

चिन्मयी जननी का अपरूप दर्शन ! इस दर्शन ने नरेन के अन्तर में, उस दिन अविराम आनन्द की धारा बहा डाली। ठाकुर को पकड़ कर उसी समय उन्होंने जगज्जननी का स्तुति गान सीख लिया ! आनन्दावेश में सारी रात उन्हें नींद नहीं आयी। मात्र गान के पद वे सारी रात गुनगुनाते रहे—

दयामयी माँ तुम्हें तो जानता हूँ,
माँ मेरी तुम हो तारण हारा।
परात्परा ! तु तो त्रिगुण-धरा,
दयामयी माँ, जानता तुम्हें।
तुम हो दुर्गम दुख-हरा सर्वद्रा ।।

नरेन ने ब्रह्ममयी के दर्शन कर लिया हैं: तथा उन्हें ब्रह्म का साकार रूप मान लिया है, इसलिए आज रामकृष्ण के आनन्द की सीमा नहीं है। बालको जैसे वे हास्य मुखर हो उठे हैं। सभी को पुकार कर बार-बार कह रहे हैं, जानते हो, "नरेन ने माँ का आस्तित्व स्वीकार कर लिया है ! ठीक ही हुआ है, न ?"

दूसरे ही दिन नरेन कलकत्ता वापस जायेंगे। प्रणाम करते ही ठाकुर भावाविष्ट हो गये। बालक के जैसे वे नरेन की गोद में जाकर बैठ गये। भावविह्वल स्वर में उन्होने कहा, "स्पष्ट देख रहा हूँ मि यह (अपना शरीर) मैं हूँ, तथा वह भी (नरेन का शरीर) मैं ही हूँ। सच कह रहा हूँ, कोई पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। जिस तरह गंगा के जल में लाठी मारने पर दो भाग दिखलायी पड़ते हैं, परन्तु वास्तविक रूप में उसमें कोई भाग नहीं होता, वरन वह एक ही प्रवाह रहता है।—फिर माँ के सिवाय और कुछ है भी ?"

अर्ध वाह्य अवस्था में अब ठाकुर ने तम्बाकू खाना शुरु किया। उसके बाद बीड़ा नरेन के मुँह के सामने ले जाकर कहने लगे, "खा, मेरे हाथ से ही खा।" नरेन ने संकोच वश मुँह फेर लिया, परन्तु छूटने का उपाय कोई नहीं था। ठाकुर के हाथ से ही उन्हें यह तम्बाकू खाना पड़ा।

परन्तु ठाकुर, जब वही तम्बाकू अपने मुँह से लगाने लगे, तो नरेन सिहर उठे, और उन्होंने हाथ पकड़ लिया। खाद्य वस्तु का अग्र भाग किसी को दे देने

पर ठाकुर शेष को उच्छिष्ट समझ कर ग्रहण नहीं करते, परन्तु यहाँ पर तो विपरीत आचरण ही है।

ठाकुर क्रुद्ध होकर कहने लगे, "दूर साला ! तुम्हारे अंदर बहुत भेद बुद्धि है। तू या मै, क्या अलग-अलग हैं ?"

ठाकुर का यह आचरण जिस तरह गुरु एवं शिष्य की एकात्मकता एवं अभेदत्व प्रकट कर रहा है, उसी तरह अद्वैत अनुभूति का आदर्श भी प्रस्तुत कर रहा है।

एक अन्य दिन की बात। रामकृष्ण नरेन को बुलाकर दक्षिणेश्वर के पंचवटी के एक एकांत स्थान में ले गये। उसके बाद स्नेह पूर्ण स्वर में उन्होने कहा, "देखो, तपस्या के फलस्वरूप, मेरे भीतर काफी समय से अणिमाद्वि विभूतियाँ सभी आ गयी हैं। परन्तु मै उन्हें लेकर क्या करुँगा ? जिसके शरीर पर ठीक से कपड़ा भी नहीं रह पाता, वह इन सब को कौन से कार्य में लगा पायगा ? परन्तु मैंने स्पष्ट कहा है कि तुझे उनके अनेक कार्य करने हैं। इसलिए तुम्हारे भीतर शक्ति संचार करके यह सब दे देता हूँ, जिससे तू इन्हें कार्य में लगा सके। क्या कहता है ?"

तब तक नरेन के हृदय में ईश्वर लाभ का दृढ़ संकल्प जाग्रत हो चुका था। ऐसी दशा में योग विभूतियों के ऐश्वर्य का प्रलोभन क्यों कर विचलित करने लगा ? उन्होंने उत्तर दिया, "परन्तु महाशय, इन सबों से तो मेरे ईश्वर दर्शन के प्रयास में कोई सहायता नहीं होगी ! फिर इनके बाद इसकी बात सोची जायगी।

प्रिय भक्त की इस निःस्पृहता से ठाकुर के चेहरे पर अपार प्रसन्ता की दीप्ति फैल गयी।

भक्त जनों से परिवृत रामकृष्ण, अपने कमरे में धर्म की बाते कह रहे हैं। 'सर्व जीवों पर दया' की बातें कहते-कहते ही वे समाधिस्थ हो पड़े। उसके बाद वाह्य ज्ञान वापस आने पर, आवेश पूर्ण स्वर में वे कहने लगे, "जीवों पर दया-जीवों पर दया ? दूर साला ! तू एक नगण्य कीट है, जीव पर क्या करेगा ? दया करने वाला तू कौन ? नहीं, नहीं, जीव पर दया नहीं, वरन् शिवज्ञान से सेवा।"

नरेन सबके साथ बैठे, ठाकुर की अमृत वाणी का श्रवण कर रहे हैं। क्षण भर में ही उनके अंतर से मानों एक परदा सा उठ गया। ठाकुर की प्रज्ञान धन वाणी ने, सेवा धर्म की महिमा का उद्घाटन कर डाला।

उत्तर काल में, विवेकानन्द अपने मुमुक्षु गुरु भ्राताओं से कहा करते,

ठाकुर की उस दिन की वाणी में कैसा अलौकिक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ ! शुष्क, कठोर एवं निर्ममता के लिए प्रसिद्ध वेदान्त ज्ञान को उन्होंने भक्ति के साथ जोड़ कर कैसे सहज, सरस एवं मधुर आलोक का उन्होंने प्रदर्शन किया। अद्वैत ज्ञान लाभ करने हेतु, संसार एवं लोकालय सबको पूर्णतया परित्याग करके वन में जाना होगा तथा भक्ति एवं प्रेम इत्यादि के कोमल भावसमूहों को हृदय से बल-पूर्वक निकाल कर सर्वदा के लिए दूर फेंक देना होगा—यहीं बातें इतने दिनों तक सुनता आ रहा था। परन्तु ठाकुर ने जो भावावेश में कह डाला, उससे स्पष्ट हो गया, कि वन के वेदान्त को घर में लाना, तथा संसार के सभी कार्यो में उसका अवलम्बन करना संभव है। मनुष्य जो भी कार्य कर रहा है, उसे करता जाय, इसमें कोई हानि नहीं है। केवल हृदय से सामग्री। इस बात पर विश्वास एवं धारणा स्थापित कर लेने से ही काम हो जायगा, कि ईश्वर ही जीव एवं जगत् रूप में उसके समक्ष प्रकाशित हो रहे हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण में वह जिन लोगों के संपर्क में आ रहा है, जिनसे प्रेम कर रहा है, जिन्हें श्रद्धा, सम्मान एवं दया कर रहा है, वे सभी उसके अंश हैं, स्वयं वही हैं। संसार के सारे व्यक्तियों को अगर वह इस प्रकार शिवज्ञान से देख सकता है तो उसके फलस्वरूप अपने को बड़ा समझ कर उनके प्रति राग, द्वेष दंभ अथवा दया करने का उसे अवसर ही कहाँ है? इस प्रकार 'शिवज्ञान से जीव की सेवा' करते-करते चित्त की शुद्धि होकर वह अल्प काल में ही अपने को भी चिदानंद मय ईश्वर का अंश तथा शुद्ध-बुद्ध, मुक्त स्वभाव के रूप में धारणा कर सकेगा।

"ठाकुर की इस बात से भक्तिमार्ग में भी विशेष प्रकाश दृष्टिगोचर होता हैं। जितने दिनों तक सर्वभूतों में ईश्वर दृश्यमान नहीं होते, तब तक यथार्थ भक्ति अथवा पराभक्ति का लाभ साधक के लिए दूर की बात ही जाती है। शिव अथवा नारायण ज्ञान से जीव की सेवा करने से एवं ईश्वर का सभी के भीतर दर्शन करने से, भक्त-साधक शीघ्र ही भक्ति लाभ में कृतकार्य हो जाता है। जो साधक कर्म अथवा राज योग का अवलम्बन कर अग्रसर हो रहे हैं, वे भी इस तथ्य से लाभान्वित होंगे। कारण, कर्म न करते हुए जब देही एक क्षण भी नहीं रह पाता, तब 'शिवज्ञान से जीव सेवा'—रूप कर्मानुष्ठान ही उसका कर्त्तव्य है, तथा इसी के माध्यम से शीघ्रता से लक्ष्य पर पहुँच पाना संभव है, यह बात स्पष्ट हो गयी। जो भी हो, भगवान ने यदि कभी अवसर दिया, तो आज जो कुछ भी मैंने सुना, इस अद्भुत सत्य का संसार में सर्वत्र प्रचार करुँगा तथा पंडित-मूर्ख, धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-चाण्डाल, सभी को इस तथ्य से अवगत कराकर मुग्ध करुँगा।"[1]

---

१ स्वामी शारदानन्द : लीला प्रसंग पंचम खण्ड

भक्त शिष्यों को, ठाकुर प्रधानतः भक्ति शास्त्र पढ़ने को कहते। परन्तु नरेन के लिए दूसरी ही व्यवस्था थी। उन्हें ज्ञात था कि उत्तर काल में नरेन एक विश्वविख्यात आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होंगे, तथा समग्र विश्व में अद्वैत-वाद के व्याख्याता के रूप में प्रतिष्ठित होंगे। इसी कारण जब नरेन अद्वैतभाव के उद्दीपक शास्त्रों का अध्ययन करने बैठते, तब ठाकुर को परम आनंद प्राप्त होता। नरेन इन दिनों प्रायः उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र, योगवाशिष्ठ इत्यादि ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन करते हुए दृष्टिगोचर होते।

नरेन, सहजात ज्ञान वैराग्य के अधिकारी थे, परन्तु उनकी सत्ता के अतल में प्रेम-भक्ति का विराट स्रोत भी छिपा हुआ था। इसी लिए ठाकुर कहा करते, "इस तरह के नेत्र क्या शुष्क-ज्ञानी के कभी रह सकते हैं, रे ? ज्ञान के साथ ही भक्ति का भाव भी तुम्हारे भीतर प्रवाहित हो रहा है।" वाह्य रूप से ज्ञान मार्गी होने से क्या होता है ? ठाकुर जब कीर्तनानंद से उन्मत्त हो उठते, तब देखा जाता कि नरेन ने भी सबके साथ हाथ पकड़ कर भावावेग में नृत्य शुरू कर दिया है।

रामकृष्ण को यह पूर्णतया ज्ञात था, कि नरेन नित्य सिद्ध मुक्त पुरुष हैं, तथा समग्र मायामोह के ऊर्ध्व में उनकी स्थिति है। इसीलिए उन्हें सदैव यह डर बना रहता कि थोड़ा भी माया का प्रभाव नरेन के ऊपर न रहने से तो वह ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट कार्यों को संपन्न नहीं कर पायगा। अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर तो वह किसी क्षण शरीर का त्याग कर देगा और अपने स्वस्थान को वापस चला जायगा। इसीलिए उन्होंने साश्रुनयनों से जगज्जननी के समक्ष प्रार्थना की, "माँ, तू उसके भीतर थोड़ी सी माया का प्रवेश कर डाल, नहीं तो वह कोई कार्य ही नहीं कर पायगा।"

१८८४ ई० में नरेन एवं अन्यान्य भक्तों के जीवन में चरम दुर्दैव घटित हुआ। ठाकुर श्री रामकृष्ण के गले में असाध्य कैन्सर रोग का आक्रमण हुआ। चिकित्सा हेतु उन्हें, कुछ दिनों तक कलकत्ते में रखा गया, उसके बाद उन्हें काशीपुर के बगीचे में ले जाया गया।

ठाकुर की सेवा-सुश्रुषा हेतु उनके सान्निध्य के माध्यम से उन दिनों भक्त-मण्डली को परम प्रस्तुति का सुयोग अनायास ही मिल गया। तरुण साधक दल ने नरेन के नेतृत्व में ठाकुर की सेवा हेतु अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया। इसी अवधि में, गुरु की आध्यात्मिक शक्ति, धीरे-धीरे उनके भीतर प्रविष्ठ होती रही। बीज रूप में रामकृष्ण की मण्डली का श्रीगणेश यहीं से हुआ।

युवक भक्तगण बारी-बारी से ठाकुर की सेवा करते तथा अवसर मिलने पर जप, ध्यान एवं कीर्तन में निमग्न हो जाते। नरेन, इन दिनों ईश्वर लाभ हेतु, अत्यन्त व्यग्र थे। इन दिनों वे परमहंस देव की अनुमति लेकर, पंचवटी तले प्रायः साधन रत रहते। बिल्व वृक्ष के नीचे रात भर अनवरत धूनी जलती रहती, तथा नरेन धूनी के सम्मुख नेत्र निमीलित किए गंभीर ध्यान में निमग्न रहते। इन दिनों वे ध्यान करते-करते, प्रायः एक त्रिकोणाकृति ज्योति के दर्शन करते। इस दर्शन के संदर्भ में प्रश्न करने पर उन्होंने संक्षेप में यही उत्तर दिया था, "अरे, वह ब्रह्मयोनि है।"

दिन पर दिन नरेन की धूनी के किनारे, अतीन्द्रिय राज्य के अपूर्व दर्शन घटित, होते। चिन्मय लोक के अनेक देव-देवी गण वहाँ आविर्भूत हुए। इन दिनों के साधन काल में साधक नरेन के हृदय में अपूर्व शांति एवं स्थैर्य विराजमान था। शक्ति का प्रकाश भी बीच-बीच में दृष्टिगोचर होता।

एक दिन काली तपस्वी (स्वामी अभेदानन्द) और वे पास-पास ही बैठ कर ध्यान कर रहे हैं। सहसा, नरेन की इच्छा हुई कि काली का वे स्पर्श करें। इस इच्छा को कार्य रूप में परिणत करने के साथ-साथ, एक विस्मय कर काण्ड घटित हो गया। स्पर्श करते ही गुरुभ्राता के शरीर में विद्युत तेज जैसी एक शक्ति संचारित हो गयी, तथा वे वाह्य ज्ञान शून्य हो, दिव्य चेतना से आच्छन्न हो गये।

सतर्क दृष्टि रखने वाले, रामकृष्ण, ने उसी समय नरेन्द्रनाथ को पास बुलाया। उन्हें सतर्क करने की दृष्टि से, उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "तू क्या कर रहा है। यह तो जमा पूंजी से ही खर्च देख रहा हूँ।"

काशीपुर एवं दक्षिणेश्वर के पंचवटी में नरेन की साधना चल रही है। धीरे-धीरे वे ध्यान लोक के गंभीर स्तर में डूबते जा रहे हैं। दिन पर दिन विचित्र अनुभूति एवं अप्राकृत दर्शनादि हो रहे हैं । ध्यानावस्था के बाद एक दिन उन्होंने देखा, कि उन्हीं की एक अविकल प्रतिमूर्त्ति, चिन्मय देह धारण किए उन्हीं के समक्ष आविर्भूत है। यह मूर्त्ति प्रायः बहुत देर तक उनके सम्मुख खड़ी रहती। उन्हीं के हावभाव तथा बातचीत का वह अनुकरण करती। यह बात जब रामकृष्ण ने सुनी तो आश्वस्त करते हुए उन्होंने कहा, "यह तो ध्यान की उच्चावस्था का लक्षण है, रे!"

इन्हीं दिनों, एक दिन नरेन का मन, गौतम बुद्ध के तपस्या केन्द्र, बुद्ध गया के दर्शन हेतु व्याकुल हो उठा। उन्होंने स्थिर किया कि वहाँ जाकर, कुछ दिन साधना करेंगे। गुरु भाई, तारक एवं काली के साथ उन्होंने सहसा एक दिन दक्षिणेश्वर का त्याग कर डाला, तथा बिना किसी से कुछ कहे ही निकल

पड़े। व्यग्र होकर सभी ने ठाकुर को यह सूचना दी। मुस्कराते हुए, उन्होंने उत्तर दिया, "तुम लोग चिंता न करो, नरेन कहीं जाने का नहीं उसे यहाँ आना ही होगा। इधर-उधर, इन दिनों अवश्य रहा है, परन्तु उसे जो रस यहाँ उपलब्ध हुआ है, उसे छोड़ कर जायगा कहाँ ?"

बुद्ध गया के पवित्र परिवेश में ध्यान करते समय नरेन को एक दिव्य अनुभूति का लाभ हुआ। परन्तु इसके बावजूद उनका मन वहाँ नहीं लगा। थोड़े ही दिनों बाद परमहंस देव के लिए व्याकुल होकर, नवीन साधकगण, दक्षिणेश्वर वापस आ गये।

ठाकुर के भक्त बूड़ोगोपाल नाना तीर्थों का दर्शन कर काशीपुर वापस लौट आये हैं। इनकी अभिलाषा है कि इस उपलक्ष में साधुओं को भोजन करायेंगे। तथा कुछ दान करेंगे। अपनी यह इच्छा रामकृष्ण के समक्ष व्यक्त करते ही वे कह उठे, "कहाँ तू साधु खोजने में दौड़ता रहेगा ? इन्हीं सब लड़कों को खिला डाल। इसी से तुम्हारा कार्य हो जायगा।"

निर्देश के ही अनुसार सारी व्यवस्था की गयी। इस उपलक्ष में प्रत्येक तरुण भक्त को ठाकुर ने अपने हाथों, एक गैरिक वस्त्र, वहिर्वास, माला एवं कमण्डल का दान किया। उस दिन ठाकुर आनुष्ठानिक कृत्यों के झमेले में नहीं पड़े परन्तु इस गैरिक दान के माध्यम से उन्होंने प्रच्छन्न रूप से अपनी गैरिकधारी साधक वाहिनी का इंगित दिया।

अब नरेन समाधि के गंभीर स्तर में डुबकी लगाने के लिए व्याकुल हो उठे हैं। इन दिनों वे बार-बार निर्विकल्प समाधि के लिए ठाकुर को परेशान करने लगे।

परमहंस देव ने एक दिन आश्वासन दिया, "मुझे अच्छा हो लेने दे, उसके बाद तू जो चाहेगा, वही दूँगा।"

नरेन्द्रनाथ, उस समय, परम प्राप्ति हेतु अधीर तथा चंचल हो उठे थे। अबोध बालक जैसे वे कह उठे, "परन्तु, आप यदि अच्छे ही न हों, तो मेरी दशा क्या होगी ?"

अस्फुट स्वर में ठाकुर ने स्वगत कहा, "साला कहता क्या है ?"

देही अथवा विदेही, जिस किसी भी अवस्था में भी रहते हुए ठाकुर अपने आश्वासन को मूर्त्त रूप प्रदान करेंगे, यही विश्वास तो नरेन के लिए होना स्वाभाविक था ! परन्तु नरेन की बातचीत से इसमें व्यतिक्रम दृष्टगोचर हुआ। ठाकुर ने समझ लिया कि शिष्य की व्यग्रता सारी सीमाओं को लाँघ चुकी है।

धीर, प्रशांत कण्ठ से उन्होंने प्रश्न किया, "अच्छा ठीक से बता कि तू चाहता क्या है?

नरेन्द्रनाथ, उत्साह पूर्वक कह उठे, "मेरी यही इच्छा है कि शुकदेव के जैसे लगातार पाँच-छः दिनों तक समाधि में डूबा रहूँ। उसके बाद मात्र शरीर रक्षा के लिए थोड़ा नीचे आकर फिर समाधि में निमग्न हो जाऊँ।"

इतना सुनते ही रामकृष्ण उत्तेजित हो उठे। तिरस्कार के स्वर में उन्होंने नरेन से कहा, "छि ! छि ! तेरा इतना बड़ा आधार है और तेरे मुँह से ही ऐसी बात ? मैं तो सोचता था कि तू वट वृक्ष की तरह होगा और तेरी छाया में हजारों लोग आश्रय पायेंगे। ऐसा न करके मात्र तू अपनी ही मुक्ति चाहता है ! यह तो बड़ी तुच्छ बात है, अत्यन्त हीन बात है रे ! नहीं-नहीं इतनी छोटी नजर नहीं रख ! बेटा, मैं सभी से प्रेम करता हूँ—मछली खाना हैं तो भुनी हुई भी खाऊँगा, पकी हुई भी खाऊँगा और रसेदार भी खाऊँगा। उनकी समाधि की अवस्था में निर्गुण भाव से उपलब्धि करता हूँ, तथा नाना मूर्त्तियों के भीतर ऐहिक संवन्ध के बोध का भी योग करता हूँ। एक ही वस्तु बराबर अच्छी नहीं लगती——तू भी वही कर। एक ही आधार पर ज्ञानी तथा भक्त, तू दोनों ही हो।"

परन्तु इस तिरस्कार के कई दिन बाद, ठाकुर ने, पुरस्कार की व्यवस्था भी की थी। नरेन एक रात को काशीपुर के एकांत कक्ष में ध्यानमग्न बैठे हैं। साथ ही एक दूसरे भक्त भी वही साधन में निरत हैं। इन्हें नरेन गोपाल दा के नाम से पुकारते हैं। निविड़ ध्यान में आविष्ट, नरेन, सहसा चीखते हुए कहने लगे, "गोपाल दा ओ गोपाल दा, मेरा शरीर कहाँ गया ?

गोपाल दा, बारबार उनके शरीर पर हाथ मार रहे हैं, परन्तु शरीर में चेतना के कोई लक्षण ही नहीं हैं। क्रमशः और गुरुभ्रातागण भी वहाँ उपस्थित हुए।

इस संवाद को सुनने के उपरान्त परमहंस देव ने संक्षेप में अपने विचार प्रकट किए, ठीक ही हुआ है, कुछ देर तक ऐसी ही अवस्था रहे तो अच्छा है। इसी के लिए तो मुझे परेशान कर डाला था।"

गंभीर रात्रि वाह्य ज्ञान वापस आने पर, नरेन, धीरे-धीरे ठाकुर की शय्या के पास आकर उपस्थित हुए। ठाकुर ने कहा, "कैसे हो, माँ ने तो आज सभी कुछ तुम्हें दिखला दिया। परन्तु चाबी मेरे हाथ ही रही। अभी तुझे कार्य करने होंगे। जब मेरे ये कार्य शेष हो जायेंगे तभी फिर चाबी खोलूगी।

नरेन, निनिमेष दिव्य लोक के इस ऐन्द्रजालिक की ओर देखते ही रह गये। उसके बाद, असीम श्रद्धा पूर्वक उन्होंने शक्तिघर गुरु के चरणों में अपना प्रणाम एवं आत्म समर्पण निवेदित किया।

उत्तर काल में विवेकानन्द कहा करते, "उस दिन शरीर का भान एकदम

निःशेष हो गया था। और क्या ! प्रायः मेरा लय हो चुका था। थोड़ा 'अहं" शेष रह गया था, इसीलिए उस समाधि से वापस आ सका था। इस तरह की समाधि के काल में 'मैं' तथा ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है—सभी एक हो जाता है। जैसे महासमुद्र का जल, जल के सिवा और कुछ भी नहीं। भाव तथा भाषा सभी का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।"

समाधि भंग होने के बाद नरेन को ऐसा लगा रहा था मानो मस्तक के अलावा उनका देह बोध तथा सारी वस्तुओं का अस्तित्व अब लुप्त हो चुका है।

उसके बाद ही, अर्धवाह्य अवस्था में आने के साथ ही साथ पार्श्व में उपविष्ठ गोपालदा को व्याकुल स्वर में पुकार उठे थे।

एक अन्य दिन की बात ! गिरीश घोष के साथ नरेन, एक वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठे हुए हैं। मच्छरों के दर्शन से गिरीश चन्द्र व्याकुल हो रहे हैं। थोड़ी ही देर बाद उन्होंने आसन का त्याग कर डाला। तब तक नरेन्द्रनाथ गंभीर ध्यान में निमग्न हो चुके थे। शरीर पर इतने मच्छर बैंठे हुए थे, कि लगता था मानों शरीर काले कम्बल से ढका हुआ है। गिरीश उच्च स्वर में नरेन को पुकारते रहे परन्तु उनके शरीर में चेतना का कोई लक्षण ही नहीं था। अंततः आसन से उन्हें जबरदस्ती उठाना पड़ा। शरीर बिलकुल वाह्य ज्ञान-हीन था, और मृतक जसे अकड़ा हुआ। बहुत देर बाद, उस दिन नरेन के शरीर में ज्ञान का संचार हुआ।

साधन-भजन एवं ध्यान के माध्यम से, नरेन, गुरु कृपा के बहुत से निर्देश पा रहे हैं, तथा दिव्य आनन्द से परिपूर्ण हो रहे हैं। इस के साथ ही साथ उनके मन में एक प्रबल आशंका का भी उदय हो रहा है। परम कारुणिक श्री रामकृष्ण अब अधिक दिनों तक इस नश्वर शरीर में नहीं रुकेंगे, यह दुश्चिता उन्हें बार-बार सता रही है।

एक दिन उन्होंने मन ही मन एक दृढ़ संकल्प कर डाला। वे एक ऐसी ईश्वरीय शक्ति का आवाहन करने की चेष्टा करने लगे जो इस काल व्याधि से श्री रामकृष्ण का उद्धार कर सके। उस दिन संध्या के बाद से सारी रात वे पागलों की तरह 'रम' नाम का उच्चारण करते-करते बगीचें में चारों ओर प्रदक्षिणा करने लगे। उस समय उनका वाह्य ज्ञान लुप्तप्राय था।

उन्मत्त तथा अधीर, नरेन का 'राम राम' शब्द क्रमशः उच्चतर होता जा रहा है। गंभीर रात्रि में ठाकुर के कानों में यह ध्वनि पहुँची। उनके आदेशानुसार उसी अर्धवाह्य अवस्था में पकड़ कर उन्हें लाया गया। स्नेह मधुर स्वर

में परमहंस देव ने कहा, "क्यों रे, तू यह सब करके क्यों कष्ट झेल रहा हैं? तुम्हारी तरह ऐसी उन्मत्त दशा में मैं बारह वर्षों तक था। एक रात में तू और कितना कर सकेगा, बेटा?

ठाकुर के दिव्य सान्निध्य एवं प्रशांत मुखच्छवि ने नरेन के हृदय में सांत्वना के प्रलेप का कार्य किया, और वे शांत हो गये।

देह त्याग के कुछ दिन पूर्व से, प्रत्येक संध्या को रामकृष्ण नरेन के साथ एकांत में मुलाकात करते। गुरु शिष्य का यह मिलन अत्यन्त रहस्यमय था। दूसरे भक्तगण, उस समय ठाकुर के निर्देशानुसार कक्ष से बाहर चले जाते और बन्द कमरे में ठाकुर तथा नेरेन्द्रनाथ दो तीन घण्टों तक अध्यात्म चेतना के गंभीर स्तर पर निमज्जित रहते।

अंतिम समय आसान्न है। ठाकुर ने उस दिन नरेन का आवांहन करके उन्हें अपने सामने बैठाया अपलक नेत्रों से वे नरेन की ओर देखते रहे। धीरे-धीरे ठाकुर समाधिस्थ हो गये। नरेन के अंतर में अविराम मंथन चल रहा है। उन्हें अनुभूति हो रही हैं, कि श्री रामकृष्ण के शरीर से तड़ित् कंपन सदृश एक सूक्ष्म तेज रश्मि उनके देह के भीतर संचालित हो रही है।

क्रमशः नरेन वाह्य ज्ञान शून्य हो गये। चैतन्य लाभ करने के पश्चात् उन्होंने देखा कि नीरव बैठे हुए ठाकुर के नेत्रों में अश्रुधारा है।

"यह कैसा रहस्य है, मैं तो कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ?" नरेन्द्र नाथ ने प्रश्न किया।

ठाकुर ने धीर स्वर में कहा, "ओरे, आज अपना यथा सर्वस्व तुम्हें देकर मैं फकीर हो गया तू इस शक्ति से संसार के अनेक कार्य करेगा। कार्य समाप्त हो जाने पर वह फिर वापस चला जायगा।"

नरेन के भी दोनों नेत्र अश्रु सजल हो उठे हैं। जीवन प्रभु की ओर असहाय दृष्टि से देखते हुए बालक सदृश वे रोने लगे।

ठाकुर के नश्वर शरीर त्याग करने के दो दिन पूर्व की बात। ठाकुर ने व्यग्रता से नरेन को अपने कमरे में बुलाया। कहा, "देखो नरेन, तेरे हाथों मैं इन सभी को सौंप कर जा रहा हूँ। तू ही सबसे अधिक बुद्धिमान एवं शक्ति धर है। इन्हें प्रेम के बंधन से आबद्ध रखना। जिस तरह भी हो ये घर वापस न जाकर साधन भजन करते रहें, ऐसी व्यवस्था तुझे ही करनी होगी।"

नरेन्द्रनाथ स्तब्ध एवं नतमस्तक ठाकुर के निकट बैठे हुए हैं। उन्हें यह आभास मिल गया कि ठाकुर के देह त्याग का लग्न समागत है। जिस ईश्वरीय

कार्य की चर्चा वे बीच-बीच में करते रहे हैं, क्या उसी को आज ठाकुर ने स्पष्ट कर डाला है ? क्या वे उस के ऊपर अनेक दायित्वों का भार दे जा रहे हैं ? नरेन की कुछ दिन पहले ही बातें याद आने लगी। ठाकुर के सामने बैठकर डा० महेन्द्र लाल सरकार नरेन की प्रशंसा कर रहे थे। इसके उत्तर में श्री रामकृष्ण उत्साह पूर्वक कह उठे थे, "कहा जाता है कि अद्वैत के हुँकार के फलस्वरुप गौर का नदिया में आगमन हुआ था—उसी तरह, नरेन के लिए ही तो यह सारा उपक्रम है। इसी के लिए मेरा अबकी बार आगमन हुआ है,।

ठाकुर सोये हुए हैं। दर्शनार्थी तथा भक्तगण बीच-बीच में उनके कमरे में आना जाना लगाये हुए हैं। सहसा ठाकुर को क्या ख्याल आया एक टुकड़ा कागज मांग कर उन्होंने धीरे-धीरे लिखा—"नरेन लोकशिक्षा देगा।"

आध्यात्मिक मण्डली के नायक के रूप में अपने प्रियतम का स्वतः ही निर्वाचन कर गये। क्या इसी तथ्य को उस दिन उन्होंने भक्तों के समक्ष प्रकट कर दिया था ? परन्तु नरेन का अंतर क्या इसके लिए सम्मति देने को प्रस्तुत था ? वे कह उठे, "परन्तु मैं यह सब कर नही पाऊँगा।"

दृढ़ स्वर में रामकृष्ण का आदेश उच्चरित हुआ, "तुझे करना ही होगा, तुम्हारा शरीर करेगा !"

१८८६ ई० की १६ अगस्त। ठाकुर के महाप्रयाण का दिवस, भक्तों का दल चरम मूहुर्त की बात सोच-सोच कर स्तब्ध सा है। इस संकट काल में नरेन, चुपचाप विषाद-हृदय लिए बैठे हैं। सहसा उनके मन में विद्युत रेखा जैसे एक प्रश्न कोध सा गया। ठाकुर अपनी भगवत् सत्ता के संबन्ध में नाना प्रकार के इंगित समय-समय पर देते रहे हैं। परन्तु क्या वे नश्वर शरीर के त्याग से पूर्व अपना प्रकृत स्पट रूप से नहीं वता जायेंगे ? ये भक्तगण जिसके साथ निविड़ योगसूत्र से आबद्ध हैं, क्या अंतिम दिन उस देवमानव का परिचय उन्हीं के श्रीमुख से नहीं सुन सकेंगे, यही नरेन के आकुल अंतर की प्रार्थना थी।

सर्वज्ञ सद्गुरू को ये भाव समझने में देर नहीं लगी। रोग यंत्रणा को विस्मृत कर उन्होंने नरेन की ओर मुँह फेरा। धीर एवं स्पष्ट स्तर में उन्होंने कहा, "क्यों रे, अभी भी तुझे ज्ञान नहीं हुआ ? सच-सच कह रहा हूँ, जो राम तथा जो कृष्ण हैं उन्हीं का सम्मिलित रूप इस शरीर में रामकृष्ण हैं—मात्र तुम्हारे वेदान्त दृष्टिकोण से नहीं।"

नरेन तो विस्मय से हतवाक् हो उठे। भावावेग से उनके दोनों नेत्र आश्रु सहल हो उठे।

उत्तर काल में ठाकुर रामकृष्ण के मुख से उच्चरित यह बात महान

आचार्य, स्वामी विवेकानन्द के लिए प्रेरणा स्रोत बनी रही, तथा उन्हें विश्वव्यापी कर्मसाधना की ओर अग्रसर कराती रही।

ठाकुर का महाप्रयाण हो चुका है। शिष्यगण का तप्त हृदय मरू प्रान्तर की तरह धू-धू कर जल रहा है। जीवन का परमाश्रय उनसे छिन चुका है। किसी के भी हृदय में आशा, आनंद एवं उत्साह लेश मात्र भी विद्यमान नहीं है।

नरेन तथा उनके एक गुरुभाई एक दिन शोकाकुल हृदय काशीपुर के बगीचे में घूम रहे हैं। उनके हृदय में प्रचंड शून्यता का साम्राज्य है। सभी सोच रहे हैं कि ठाकुर ने अपने नश्वर शरीर का त्याग कर उन्हें कैसी असहाय अवस्था में डाल दिया है? इसी समय निकट ही अभावनीय दृश्य दिललाई पड़ा। नरेन ने देखा कि गुरुदेव की दिव्य देह निकट ही खड़ी है। उनका सारा शरीर एक अव्यक्त आनंद से सिहर उठा।। फिर, क्या महायप्राण के बाद भी ठाकुर अपने भक्तों के ऊपर पूर्ववत् कृपा दृष्टि रख रहे हैं! चिन्मय देह में आविर्भूत होकर वे अपना परम आश्वासन दे रहे हैं!

हृदय के चांचल्य का दमन कर नरेन मौन खड़े हैं। मन में आशंका भी कम नहीं है। यह अलौकिक दर्शन उनके अपने दुर्बल मन की भ्रांति तो नहीं है?

इन सारे संदेहों का निराकरण हो गया, जब साथ खड़े गुरु भाई चौंक उठे, "नरेन, यह देखो, यह देखो!"

ज्योतिर्मय शरीर से ठाकुर का यह आविर्भाव! अपने अध्यात्म सन्तानगण को इस आविर्भाव के माध्यम से उन्होंने समझा दिया—कि शिष्यगण जैसे हैं, उसी तरह उनके सद्गुरु भी हैं। आनन्द से अधीर होकर वे जोर-जोर से अपने अन्य गुरु भाइयों को पुकारने लगे। ठाकुर की अलौकिक मूक्ति तब तक अंतर्हित हो चुकी थी।

श्री रामकृष्ण के तिरोधाने के पश्चात् काशीपुर का बगीचा छोड़ दिया गया है। परन्तु अब तरुण संयानियों के लिए सिर छिपाने की जगह कहाँ मिल सकेगी?

ठाकुर के परम भक्त सुरेन मित्र इस दुर्दैव में सहायक हुए। उन्होंने कहा, "एक किराए का मकान लेकर एक साथ रहो, तथा ठाकुर की स्मृति हृदय में रखकर साधन-भजन करो। उसका मासिक भाड़ा मैं देता रहूँगा।" इस प्रस्ताव से नरेन इत्यादि युवक भक्तों के जान आयी।

वराहनगर में गंगा के किनारे सामान्य किराए पर एक मकान ले लिया गया।

जंगल-झाड़ियों से भरा मकान, पुराना था और लम्बी अवधि से किसीके व्यवहार में नहीं था। यही आगे चल कर वराहनगर मठ के नाम से विख्यात हुआ।

अब नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व का अध्याय आरंभ हुआ। भक्तों में से कोई-कोई उन दिनों परीक्षा की तैयारी के लिए अपने-अपने घरों में निवास कर रहे थे। नरेन एक एक दिन झंझा सदृश उनके घरों पर पहुँच जाते तथा तेजोदीप्त स्वर में कह उठते, "तुम लोग क्या इस अमूल्य जीवन को परीक्षा की तैयारी में ही काट दोगे। क्या यह ठीक कर रहे हो? यही क्या ठाकुर के उपदेश का पालन है? क्या, इसलिए वे इस संसार में आकर इतना कष्ट झेल गये? तुम संन्यासी हो, त्याग मन्त्र में दीक्षित—फिर भी परीक्षा में पास होकर सांसारिक उन्नति की कामना करते हो? त्याग और भोग- वासना क्या एक साथ टिक सकती है? तुम्हें धिक्कार है! जल्दी ही यह सब छोड़ कर मठ में वापस चलो।"

नरेन के साहस, प्रेरणा और वैराग्य के लिए आह्वान ने ,तरुण दल को प्रभावित किया। एक-एक कर वे मठ में योगदान करने लगे। अंततः इस विक्षिप्त दल को लेकर जिस नवगठित संघ का प्रकटन हुआ, नरेन उसके अधिनायक हुए।

इन गुरुभ्रातागणों के लिए नरेन के हाथों में आत्म समर्पण करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कारण वे सभी हृदय से यही विश्वास करते थे कि नरेन ठाकुर के ही प्रतिनिधि हैं। उनका नेतृत्व मान लेना तथा उनका आनुत्याग स्वीकार करना मानो स्वयं ठाकुर को ही संतुष्ट करना हुआ।

ईश्वर दर्शन हेतु व्याकुल भक्तों का दल अब घर छोड़ कर बाहर निकल पड़ा हैं। एकान्त निष्ठा तथा दुस्तर साधन पथ का अतिक्रमण करने के लिए वे कृत संकल्प हैं। इस मार्ग में किसी किस्म की बाधा तथा दुःख की उन्हें परवाह नहीं है।

विवेकानन्द उत्तर कौल में कहा करते, ',वराहनगर में कोई ऐसे दिन भी बीत गये जब खाने को कुछ भी नहीं था। भात का प्रबन्ध हो जाता तों नमक नहीं रहता। कोई दिन तो भात-नमक का जोगाड़ हो जाता, परन्तु वह भी किसी को ग्राह्य नहीं था। कारण, जप ध्यान के प्रबल तरंग में हम सभी डूब रहे थे। कभी-कभी मात्र सिद्ध शाक और नमक-भात यही महीनों चल रहा है। वे भी कैसे दिन थे! उन दिनों की कठोरता देखकर भूत भी भाग जाय।"

मात्र कौपीन-संबल इन भक्तों का एक साथ घर से बाहर जाने का भी कोई उपाय नहीं था। दीवार पर मात्र एक कपड़ा टंगा रहता, और जब भी जो मठ से बाहर जाता, यही कपड़ा उसकी कमर में बन्ध जाता।

इस चरम दुरवस्था के मध्य भी उनके बीच धर्मालोचना अथवा दर्शन के

कूट तर्क में कभी बाधा नहीं आती थी। कठोर साधन में कई रातें बीत जाती। तपस्या की अग्नि से प्रदीप्त एक-एक के नेत्र से मानो आग बरस रही हो। मठ में जाने पर, ईश्वरोन्माद में मत्त इस तरुण दल एवं उनके दलपति को देख कर सभी विस्मय से हतवाक् रहजाते।

इन दिनों कभी-कभी रामकृष्ण की स्मृति उद्दीपित हो नरेन कहते, सत्य के प्रचार के कार्य में अनेक लोग लगते हैं परन्तु वे सत्य से अनभिज्ञ रह कर ही करते हैं। मैं पहले सत्य को जान कर ही इम कार्य को करुँगा।"

इसके पश्चात् नरेन के जीवन में एक नवीन अध्याय का सूत्रपात हुआ। सारे भारत के पर्यटन एवं तीर्थ परिक्रमा की तीव्र आकांक्षा उन्हें होने लगी। गैरिक वस्त्रों में, हाथ में दण्ड कमण्डलु लेकर दिव्य कांति संन्यासी एक दिन मठ से बाहर निकल पड़े। कभी 'नारायण हरि' कहते हुए गृहस्थों के द्वार पर भिक्षा के लिए खड़े होते तो कभी मात्र आकाश वृत्ति का ही अवलम्बन रहता। इस परिव्राजन में अंभिज्ञता एवं अनुभूति के वैचित्र्य का दर्शन सतत रहा।

नरेन वृन्दावन की ओर जा रहे हैं। क्षुधा-पिपासा एवं परिश्रम से शरीर अवसन्न है। रास्ते के किनारे बैठा एक दरिद्र, नीच जाति का व्यक्ति धूम्र पान कर रहा है। नरेन के उससे मांगने पर वह तुरत बोल उठा, "महाराज, मैं भंगी हूँ।"

उत्तर सुन कर संन्यासीवर मौन हो गये, परन्तु कुछ दूर जाने पर वे सोचने लगे, "नहीं, यह तो ठीक नहीं है। ठाकुर के इतने आशीर्वाद, अद्वैतवाद के इतने विचार विश्लेषण के उपरान्त भी देखता हूँ कि मेरा भेद ज्ञान तिरोहित नहीं हो पाया है? जातिभेद का संस्कार आज भी मन के अन्तस्तल में उसी तरह विराजमान है।" वे तुरत वापस लौट आये। उसी मेहतर के हाथ से लेकर उन्होंने धूम्रपान किया। उसके बाद ही उनका हृदय शांत हो सका।

स्वामी जी वृन्दावन पहुँच गये हैं। राधाकुण्ड के तट पर अपना कौपीन रख कर वे नंगे होकर स्नान करने के लिए उतरे। जल से बाहर निकलते ही उन्होंने देखा, कि एक बानर कौपीन उठा कर दूर भाग गया है। बहुत चेष्टा करने पर उसका पुनरुद्धार तो हो गया, परन्तु तबतक कौपीन तार तार हो चुका था। लज्जा निवारण का उपाय नहीं था। स्वामी जी के मन में बहुत ग्लानि हुई। कुण्डेश्वरी, राधारानी, के समक्ष उन्होंने संकल्प किया कि वे जन समुदाय में वापस न जाकर वन के क्षेत्र में ही निवास करेंगे। देखा जाय, उसके लिए

कोई अच्छी व्यवस्था हो पाती है या नहीं ?

वन में प्रवेश करते ही एक अद्‌भुत काण्ड घटित हो गया। स्वामी जी ने देखा, कि कोई व्यक्ति उन्हें पीछे से पुकार रहा है, और द्रुत वेग से दौड़ता हुआ पास आ रहा है। नंगे स्वामी जी भी उससे पीछा छुड़ाने के लिए दौड़ने लगे। थोड़ी देर बाद किसी तरह नजदीक आकर वह व्यक्ति हाँफते-हाँफते निवेदन करने लगा, "महाराज, इस वन के पास ही मेरा घर है। कृपा कर आप वहाँ पदार्पण करें जिससे आपको नवीन वस्त्र तथा भोजन निवेदित कर हम लोग कृतार्थ हो सकें।

स्वामी जी ने इस प्रस्ताव को सानन्द स्वीकार कर लिया, और भोजन तथा नववस्त्र धारण के पश्चात् वे जन समाज में निकले।

और एक बार गाजीपुर के दूसरे किनारे वे एक स्टेशन पर बैठे हुए हैं। पथ श्रम तथा क्षुधा-तृष्णा से व्याकुल हैं एवं शरीर अब संभाल में नहीं आ रहा है। निकट के ही एक वृक्ष के नीचे बैठ कर एक सेठ जी, प्रचुर परिमाण में पूरी, कचौरी और हलुआ उदरस्थ करते जा रहे हैं। भोजन समाप्त कर के सेठ जी ने व्यंग वाण छोड़ना आरंभ किया। संन्यासी-त्यागी महाराज के पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं है, और उनके जैसे संसारी खा-खा कर किस तरह परम सुख से दिन यापन कर रहे हैं।

सहसा एक विस्मयजनक काण्ड घटित हुआ। एक व्यक्ति द्रुत वेग से पोटली में मिठाई तथा पात्र में जल लेकर स्वामी जी के समक्ष उपस्थित हुआ। श्रद्धापूर्वक स्वामीजी को खाद्य पदार्थ निवेदित करके वह तम्बाकू बनाने बैठ गया। स्वामी जी के प्रश्नों के उत्तर में उसने कहा, निकट ही उसकी मिठाई की दुकान है तथा जाति से वह हलवाई है। आज प्रभात वेला में उसने एक विचित्र स्वप्न देखा है। एक सन्यासी बाबा, उससे कह रहे हैं—स्टेशन पर एक किनारे एक साधु अनाहार बैठे हुए है। उसे अविलम्ब उनकी सेवा का निर्वाह करना है। प्रथम स्वप्न दर्शन को हलवाई ने अधिक महत्व नहीं दिया। उसके बाद शय्या पर सोये हुए उसको दो बार और वही स्वप्नादेश प्राप्त हुए। इसी कारण वह इस तरह दौड़-भाग कर आ गया है।

स्वामी जी के दोनों नेत्र अश्रुसजल हो उठे। परमाश्रय दाता, ठाकुर की कृपाधारा नश्वर जगत् के उस पार से भी उनके लिए इस तरह अक्षुण्ण बनी हुई है।

गाजीपुर आकर स्वामी जी पवहारी बाबा के सान्निध्य में आये। इस क्षेत्र में एक सिद्ध पुरुष के रुप में उनकी बहुत प्रसिद्धि थी। इसके अलावा, पवहारी बाबा की गुफा में श्रीरामकृष्ण का एक चित्र भी टंगा हुआ था, यह देख कर वे इस साधु के प्रति और भी अधिक आकृष्ट हो गये।

स्वामी जी इन दिनों अजीर्ण एवं कमर की वात व्यधि से भी पीड़ित थे। उन्होंने सोचा कि पवहारी बाबा से हठ योग तथा राजयोग की थोड़ी शिक्षा ले लेने में क्या क्षति है ? इस महात्मा से वे दीक्षा लेंगे, ऐसा भी उन्होंने स्थिर किया। पवहारी बाबा ने इस प्रस्ताव पर अपनी सहमति प्रकट की तथा इस अनुष्ठान का दिन तथा समय भी स्थिर हो गया।

दीक्षा से एक दिन पूर्व रात में एक विचित्र व्यापार हो गया। इस घटना का स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक जीवन में अपरिसीम महत्व है।

स्वामी जी शय्या पर निद्रित हैं। अकस्मात् उन्हें भान हुआ कि उनका कक्ष दिव्यलोक के शुभ्र ज्योति से उद्भासित हो उठा है। और इस ज्योति के मध्य श्री रामकृष्ण की मूर्ति का आविर्भाव हो गया है। ठाकुर के करुण नयन स्वामी जी की ओर निबद्ध हैं तथा इनसे अपरिमेय स्नेह एवं ममता झड़ रही है।

गुरुदेव के इस अलौकिक आविर्भाव ने उनकी समग्र सत्ता में प्रचंड आलोड़न का सृजन कर डाला। उनका हृदय आत्मग्लानि की अग्नि से दग्ध होने लगा। यह वे क्या करने जा रहे हैं ? ठाकुर के प्रति जो अचला भक्ति, जो आत्मसमर्पण, इतने दिनों तक था, उसका क्या आज लोप हो गया है ? क्या उनका गुरुदेव के प्रति अविश्वास हो गया है ? उत्तेजना से उनका शरीर पसीने से लथपथ हो गया तथा कांपने लगा। उसके बाद स्वामी जी उच्च स्वर में स्वगत ही बोल उठे, "नहीं, नहीं ऐसा कभी नहीं, होगा। श्री रामकृष्ण के अलावा अन्य किसी के लिए इस हृदय में स्थान नहीं है। प्रभु इस दास का सर्वदा के लिए तुम्हारे चरणों में ही समर्पण हो चुका है। जय रामकृष्ण।"

इसके बाद भी कई दिनों तक उन्हें ठाकुर का दर्शन प्राप्त होता रहा। विस्मय पूर्वक उनके हृदय में इस भावना का उदय हुआ, कि यथार्थ रुप से विदेही रामकृष्ण के सदा जाग्रत चक्षु आज भी अपने प्रिय शिष्य के लिए सतर्क प्रहरी के रुप में नियुक्त है ! स्वामी जी पुलक कम्प से भर उठे, ठाकुर की करुणा के स्वरूप का ज्ञान कर नेत्रों से पुलकाश्रु झड़ने लगे।

इसके बाद नैनीताल के निकट, हिमालय की गोद में, स्वामी जी की एक दुर्लभ आध्यात्मिक अमुभूति का लाभ हुआ। साथी गंगाधर भहाराज को पुकार कर उस दिन उन्होंने आनंदोछ्वल हृदय से कहा था, "गँगाधर, आज इस अश्वस्थ वृक्ष के तले मेंरे जीवन का एक अमूल्य क्षण उपस्थित हो गया था। इसके फलस्वरुप मेरे जीवन के एक प्रधान समस्या का समाधान हो गया है।"

उन दिनों की दैनन्दिनी में स्वामी जी ने अपनी निगूढ़ साधन अनुभूतियों का उल्लेख किया है—आज मैंने क्षुद्र देहपिण्ड तथा विराट् महासृष्टि की एका-

त्मकता का अनुभव किया है। विश्व में जो कुछ भी है, वह इस क्षुद्र देह के मध्य विराजमान है। मुझे इसका भी आभास मिल गया है कि प्रति परमाणु में ही विश्व-संसार विराजमान है।

ऋषिकेष के विख्यात साधु धनराज गिरि के आश्रम में भी स्वामी जी कुछ दिनों तक थे। उनके कई गुरुभ्राता भी इन दिनों उनके साथ रहते। स्वामीजी ने मन ही मन स्थिर किया कि हिमालय में रह कर कुछ दिन कठोर तपस्या में व्यतीत करेंगे। परन्तु पता नहीं कैसे एक आकस्मिक दुर्दैव आकर उपस्थित हो गया। वे एक दुश्चिकित्स्य किस्म के ज्वर से आक्रान्त हो गये। एक दिन तो संकट की भी स्थिति आ गयी। सारा शरीर हिमवत् हो उठा, तथा नाड़ी भी लुप्त प्राय थी। अंतिम काल आसन्न जान कर गुरुभ्राता गण शोक विह्वल हो उठे हैं तथा कोई-कोई इष्ट नाम का भी स्मरण कर रहे हैं।

सहसा उनके कुटीर के द्वार पर एक जटा-जूट मंडित वृद्ध साधु आकर उपस्थित हो गये। तरुण संन्यासियों के इस संकट की बात सुन कर उनका हृदय विगलित हो उठा। घर के भीतर घुस कर उन्होंने मृतकल्प स्वामी जी को मधु के साथ ढ़ेर सारा चूर्ण खिला दिया। उनकी यह अति साधारण ओषधि मानों एक आमोघ मंत्तोषधि जैसी हो उठी। रोगी धीरे-धीरे दोनों नेत्र खोलकर देखने लगे। तब तक वृद्ध साधु पहाड़ी के रास्ते पता नहीं कहाँ अदृश्य हो चुके हैं।

स्वस्थ होकर उठने पर स्वामी जी ने गुरु भाइयों को पास बुलाया और कहा, "वाह्य ज्ञान हीन अवस्था में पड़े रहने के समय मैंने क्या देखा, तुम लोग जानते हो ! मैंने देखा, मानो मैं इस संसार में विधाता के एक वृहत् कार्य का भार लेकर आया हूँ। यह ईश्वरीय कार्य जबतक समाप्त नहीं हो जाता मुझे विश्राम नहीं-शांति नहीं।"

इस समय से गुरुभ्राताओं को स्वामी जी के जीवन में एक उल्लेख योग्य परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ। उनके कर्म जीवन में एक नवीन उत्साह, प्राण चांचल्य तथा उद्दीपना का उदय हुआ एवं अध्यात्म जीवन आत्म-विश्वास से भरपूर हो उठा।

स्वामी जी तथा उनके गुरुभाईयों को यह स्पष्ठ अनुभूति हो गयी कि मृत्यु के द्वार पर भी जाकर, नरेन, एक अदृश्य नियन्ता-शक्ति के ही दूत थे। स्वामी जी के जीवन में इस घटना के माध्यम से एक नवीन परिवर्त्तन घटित हो गया।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने एकाकी समग्र भारत का परिव्राजन आरंभ किया। १८९१ ई० से आरंभ कर कई वर्षों तक उन्होंने अपने को गुरुभ्राताओं से अलग ही रखा तथा एकाकी जीवन ही व्यतीत करते रहे। इन दिनों उन्हें यह कहते भी सुना जाता, 'गुरु भाइयों की माया भी माया ही है—वरन् वह तो और भी प्रबल है। इस माया पंक में पड़ जाने के बाद साधन मार्ग में विघ्न ही होता है। मैं किसी और माया के बंधन में पड़ना ही नहीं चाहता।"

त्यागी, दण्डी संन्यासी के वेश में स्वामी जी भारत के चतुर्दिक घूमते रहे। इस देश के अगणित जनपदों में भंगी, दुसाध व मजदूरों के घर से लेकर नरेशों के राजप्रसाद तक भारत आत्मा के संधान हेतु ही उनका यह अभियान था। भारत की माटी पर कान पात कर उन्होंने उसका हृदय स्पन्दन सुना तथा भारत के लाख-लाख मनुष्यों के चेहरों पर उन्होंने परमात्मा की छाया को रुपायित देखा। अद्वैतवादी संन्यासी के मुक्ति संगीत में आया नवीन स्पन्दन नवीन गतिवेग।"

यह भारत परिक्रमा स्वामी जी के अध्यात्म जीवन के लिए एक बड़ी प्रस्तुति थी। वेदान्त वाद के नव प्रचारक, संन्यासी सैनिक विवेकानन्द के योद्धा जीवन का पाथेय इन्हीं दिनों संचित हो उठा।

अलवर, खेतड़ी, पोरबन्दर, रामनद इत्यादि राजाओं की श्रद्धा तथा आनुगत्य उन्हें इन्हीं दिनों प्राप्त हुआ। इस निस्पृह, तेजस्वी संन्यासी के समक्ष इन राजपुरुषों का सिर उन दिनों नत हो उठा।

स्वामी जी खेतड़ी के महाराज के अतिथि हैं। एक दिन महाराज के जयपुर स्थित राज उद्यान में बैठकर नाना धर्म चर्चाएँ हो रही थीं। उसी समय एक मधुर कण्ठ वाली बाईजी को वहाँ बुला कर लाया गया। उसे राज अतिथि के समक्ष भजन गाना होगा।

परन्तु स्वामी जी इस रमणी को देखते ही स्थान त्याग के लिए प्रस्तुत हो गये। तरुणी, संगीत-व्यवसायिनी, के समक्ष बैठ कर संगीत सुनने में उन्हें संकोच हुआ। खेतड़ी नरेश ने अनुनय पूर्वक कहा, "स्वामी जी, परन्तु यह अद्भुत भजन गाती है। इसका गायन सुन कर अनेक लोग मुग्ध हो चुके हैं आप दया करके थोड़ा सुनें तो।"

इस नारी के कण्ठ से वैष्णव साधक सूरदास की प्रार्थना झंकृत हो उठी—

प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो,
समदरशी है नाम तिहारो,
इक लोहा पूजा में राखत,
इक घर बधिक । पर्यो

पारस गुण अवगुण नहिं चितवत
कंचन करत खरो ।

सुर मूर्छना बार-बार एक ही तत्व को उद्घाटित करती जा रही है और कहती जा रही है—"अज्ञानों से भेद होय, ज्ञानी काहे भेद करो !"

स्वामी जी चौंक पड़े ! क्षण भर में ही नेत्रों के सामने से एक पर्दा सा खिसक गया । संस्कार परे हट गया । सच ही तो है ! वे काया-मनसा वाचा, समदर्शी हो नहीं पाये । अंतस्तल से भेद-बुद्धि तथा संस्कार के मूल का अबतक भी उत्पाटन हो नहीं पाया । सर्व भूतों में ब्रह्मानुभूति हेतु, तथा परम उपलब्धि हेतु उन्होंने तपस्या आरंभ की है, परन्तु उस तपस्या के मूल में ही वे अपनी भेद बुद्धि से कुठांराघात कर रहे हैं । क्या इन बाइजी के भजन के माध्यम से ठाकुर उनके जीवन में अभेद ज्ञान को नये सिरे से जगाने का उपक्रम कर रहे हैं ?

वे उसी समय गायिका रमणी की ओर-अग्रसर हुए और कहा, "माँ, मैंने तुम्हारे समक्ष घोर अपराध किया है । तुमसे घृणा करते हुए, मैं इस स्थान का त्याग करने जा रहा था । परन्तु तुमने इस गान के माध्यम से मेरे चैतन्य को जाग्रत कर दिया है ।"

देशी राजे महाराजे तथा अमात्य जब भी जो स्वामी जी के दर्शन हेतु आते, वे उनके सम्मुख अपने द्वारा आविष्कृत भारत की छवि का उन्हें दिग्दर्शन कराने का प्रयास करते ।

स्वदेश का परिचय उनके समक्ष दो रुपों में प्रस्फुटित हुआ । एक तो उसका शाश्वत रूप—जो प्राचीन परंपरा एवं आध्यात्मिक संपदा की गरिमा से भास्वर था । और दूसरा उसके वर्तमान का रूप, जो दारिद्र्य, कुसंस्कार एवं निपीड़ित आत्मा के हाहाकार से भरा था । देशी राजसभाओं के समक्ष उनके वक्तव्य का सारांश यही था, कि भारत के आत्मिक परिचय के माध्यम से देशात्मबोध एवं आत्ममर्यादा को जगाना होगा, तथा ऋषियों की शिक्षा-दीक्षा का पुनः प्रवर्तन करना होगा । वे आगे कहते, "धर्म, भारत की वर्तमान दुर्दशा का कारण नहीं है, वरन धर्म का अभाव ही इस दुर्दशा के लिए उत्तरदायी है । धर्म की शक्ति तभी बढ़ती है जब वह मनुष्य के कर्मजीवन में मुखरित हो उठता है ।

देशी राजाओं में अनेक की उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति थी, तथा कोई गुरु रूप में भी उनकी सेवा करते थे । परन्तु कभी भी वे, इस राज सेवा के मोह अथवा आकर्षण में लिप्त नहीं हुए । इन तेजस्वी अपरिग्रही राज संन्यासी के चरणों में राजाओं का मस्तक बार-बार नत हुआ है, तथा स्वामी जी की निर्लिप्तता एवं

वैराग्य से वे बार-बार विस्मित हुए हैं।

एक बार महीशूर के राजा स्वामी जी को एक उपहार ग्रहण करने के लिए बार-बार प्रार्थना करने लगे। संन्यासी को मूल्यवान द्रव्य नहीं ग्रहण करना चाहिए, यह कहकर स्वामी जी टाल देना चाहते थे, परन्तु महाराज भी छोड़ने वाले नहीं थे। शर्त यही हुइ कि उस वस्तु, में किसी धातु का संसर्ग नहीं रहेगा महाराज ने शीघ्र ही देशीय शिल्पियों द्वारा बनाया हुआ नकाशीदार हुक्का उपहार में दिया। परन्तु मद्रास पहुँचने के बाद ही इस हुक्के की सद्गति हो गयी। स्वामी जी ने एक सज्जन के घर पर आश्रय लिया। उन्होंने देखा कि उनका रसोइया ब्राह्मण उनके इस हुक्के की ओर बार-बार ललचाई दृष्टि से देख रहा है। स्वामी जी ने यह हुक्का तुरंत ही उसे दे डाला। मानो महाराज के उपहार का मूल्य, उनकी दृष्टि में एक फूटी कौड़ी के बराबर भी नही था।

गुजरात में पोरबन्दर की राज सभा, में स्वामी जी आये हुए हैं। शंकर पाडुरंग वहाँ के प्रख्यात पंडित हैं। वे उन दिनों वेद का अनुवाद कर रहे थे। स्वामी जी ने वहाँ नौ महीनों तक निवास कर उनके कार्य में सहायता की एवं वेद तथा पंतजलि के महाभाष्य दोनों का पांडुरंग की सहायता से गंभीर अध्ययन कर डाला।

नवीन संन्यासी की अपूर्व शक्ति का परिचय पाकर पंडित शिरोमणि पांडुरंग ने कहा था, "स्वामी जी, मेरा मत है कि आपकी विद्वत्ता एवं प्रतिभा की उपयुक्त मर्यादा मात्र पाश्चात्य देशों में ही ही सकेगी। आप वहीं जाकर हमारी सनातन सभ्यता के तत्व की व्याख्या करें। इससे पाश्चात्य एवं प्राच्य, दोनों देशों का ही कल्याण होगा।"

पाश्चात्य देशों के पर्यटन का विचार, यहीं से स्वामी जी के अंतर में अंकुरित हुआ।

ठाकुर रामकृष्ण की वाणी-जीवरुपी शिव की सेवा-उन्हें बार-बार स्मरण होने लगी। वे सोचने लगे कि भारत के कोटि-कोटि दरिद्र एवं शिक्षा-दीक्षा होनी मनुष्यों के लिए अन्न का प्रवन्ध करना होगा तथा उन्हें आध्यात्मिक चेतना में प्रतिष्ठित करना होगा। परन्तु उससे पूर्व आवश्यक है, जनगण के दारिद्र्य एवं तामसिकता को दूर करना।

परन्तु इस उद्देश्य को सफल करने हेतु उपकरण कहाँ है? मन में दृढ़ प्रतीति का उदय हुआ—पाश्चात्य देशों की ओर जाने के अलावा और कोई

उपाय नहीं है। भोग सर्वस्व, उदभ्रांत, जड़वाद के केन्द्र में वे भारत की अध्यात्म वाणी का प्रचार करेंगे और इसके बदल उस देश से सहायता ले आवेंगे जिससे यह देश समृद्ध हो सकेगा।

ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट व्रत के लिए श्री रामकृष्ण उनका चुनाव कर गये थे। उसी का उद्योग पर्व मानों इस समय अनुष्ठित होता दृष्टिगोचर हो रहा हैं। इन दिनों, गुरुभाई अभेदानन्द जी के साथ स्वामी जी का बम्बई में साक्षात्कार हुआ। स्वामी जी के अंतर की प्रस्तुति का वर्णन करते हुए स्वामी अभेदानन्द ने वर्णन किया है, "इन दिनों स्वामी जी का हृदय अग्नि कुण्ड के सदृश हो रहा था। मात्र यही चिंता थी कि किस तरह भारत के प्राचीन अध्यात्मवाद की पुनः प्रतिष्ठा हो सकेगी। अहर्निश उन्हें यही विचार संतप्त किए रहता। स्वामी जी को उन दिनों देखने से यही भान होता, मानो वे एक प्रचंड झंझावात के सदृश हैं! मुझसे उन्होंने एक दिन कहा था—देखो काली, मेरे भीतर एक ऐसी शक्ति एकत्रित हो गयी कि कभी-कभी लगता है कि जैसे मैं फट पड़ूँगा।"

इन्हीं दिनों मद्रास में स्वामी जी के इर्द गिर्द एक विशाल भक्तों का दल एकत्रित हो गया। इनके उत्साह तथा अपने अंतर की प्रेरणा से उन्होंने पाश्चात्य देशों में जाकर धर्म प्रचार करने का सिद्धान्त स्थिर किया। शिकागो में विश्व धर्म सम्मेलन अनुष्ठित होने जा रहा है। उन्हें वहाँ भेजने के लिए सभी अत्यन्त व्यग्र हो उठे हैं।

स्वामी जी के भक्त आलासिगा पेरुमल इत्यादि की चेष्टा से जन साधारण से कुछ चंदा भी जमा किया गया। मद्रासी शिष्यों के समक्ष स्वामी जी ने अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप से व्यक्त किया, "अब हिन्दू धर्म को संसार के वासियों के समक्ष प्रस्तुत करने का समय आ गया है। ऋषियों के इस महान धर्म को आज संकीर्ण वेष्ठनी में बाँध कर रखने से काम नहीं चलने का। इसे संसार में सर्वत्र फैलाना होगा। सनातन धर्म का प्राचीन दुर्ग, जीर्ण हो चुका है। मात्र विदेशी आक्रमण से उसकी किसी तरह रक्षा कर जड़ की तरह बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। इसका पुनः संस्कार कर संसार के समक्ष बाहर निकालना होगा, तथा पूर्ण उद्यम के साथ चारों ओर इसकी महिमा का प्रचार करना होगा।"

अमेरिका जाने के लिए चंदा इकट्ठा किया गया, परन्तु स्वामी जी के समक्ष एक बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। उनके अंतर में बार-बार यह प्रश्न उठने लगा कि वे क्यों विदेश जाने के लिए उद्यत हो रहे हैं? देश के कार्य से? अथवा धर्म के कार्य से? अथवा उनका प्रच्छन्न अहंबोध उन्हें इस ओर ढकेल रहा है?

इसमें अगर भगवान का कोई निगूढ़ उद्देश निहित हो तो उसे जा

उपाय ही क्या है ? यथार्थ रूप में उन्हें कोई स्पष्ट निर्देश तो मिला नहीं। इस दृष्टिकोण से विदेश यात्रा की परिकल्पना को स्थगित रखना ही उचित है। इस सिद्धान्त को उन्होंने भक्त तथा बन्धु बान्धवों के समक्ष स्पष्ट रूप से बता दिया। संग्रहित चन्दे की राशि का वितरण दरिद्रों के बीच कर दिया गया।

परन्तु मद्रास के भक्त शिष्य गण, चुप बैठने वाले नहीं थे। कुछ ही दिनों के बाद उनका प्रयास फिर से शुरू हुआ। इसके उत्साह को देखते हुए स्वामी जी पुनः विचार के लिए बाध्य हुए। ठाकुर सशरीर तो विद्यमान नहीं हैं, फिर उनका निर्देश पाने की आशा कहाँ से की जा सकती है ? परन्पु श्री माँ तो अभी जीवित हैं। वे तो उन्हीं की अंश स्वरूप हैं। माँ से अनुमति मांग लेने से तो सारी समस्याओं का समाधान हो जायगा। उन्होंने निश्चय किया कि उनसे निर्देश प्राप्त हेतु तुरत पत्र लिखेंगे। इसी समय उस दिन एक अलौकिक काण्ड घटित हो गया।

स्वामी जी रात में सोये हुए हैं, परन्तु नींद नहीं आ रही है। अवस्था में उनके नयनों के समक्ष एक अतीद्रित दृश्य उदघाटित हुआ। उन्होंने देखा, श्री रामकृष्ण की ज्योतिघन दिव्यमूर्ति भारत के सागर तट से देशांतर अभिमुख यात्रा कर रही है। सीधे-सीधे समुद्र के ऊपर से होकर ठाकुर दूसरे किनारे की ओर चले जा रहे हैं, तथा साथ ही साथ स्वामी जी को भी अपना अनुसरण करने का आदेश देते जा रहे हैं। विस्मित स्वामी जी शय्या से उठ कर बैठ गये। फिर क्या यही ठाकुर की अभिलाषा है ? ठाकुर की अस्फुट ध्वनि, उस समय भी उनके कानों में झंकृत होती जा रही हैं—"आओ, आओ।" अब द्विधा तथा द्वन्द का क्या प्रयोजन था ?

स्वामी जी ने सारदा देवी; को भी, तुरत पत्र लिखा। अब उन्हें उनका मत जानने की आवश्यकता नहीं है, वरन् ठाकुर के निर्देशानुसार उन्होंने संकल्प भी कर लिया है। अब उन्हें केवल माता ठकुरानी के आशीर्वाद की आवश्यकता है।

उन्होंने लिखा, "माँ, जिस तरह महावीर, राम नाम का स्मरण करके समुद्र के ऊपर छलांग लगा गये थे, उसी तरह मैं भी ठाकुर का नाम लेकर समुद्र के उस पार के लिए रवाना हो रहा हूँ।"

नरेन लम्बी अवधि से अकले नाना स्थानों का परिभ्रमण कर रहे हैं, तथा सारदामणि को बहुत दिनों से उनका कोई समाचार भी प्राप्त नहीं हुआ है। पर मिलने पर उनके आनंद की सीमा नहीं रही। नरेन उनकी दृष्टि में मात्र ठाकुर के प्रधान शिष्य ही नहीं है—वरन् सारदामणि हृदय से जानती हैं कि इस शिष्य के माध्यम से ठाकुर एक विराट ईश्वरीय कार्य सम्पन्न करेंगे। ठाकुर के नश्वर शरीर त्याग के पश्चात्, अलौकिक अनुभूति के माध्यम से यह बात उनके

समक्ष स्वतः प्रस्फुटित हो उठी थी। एक दिन स्वतः अपनी आँखों से ही उन्होंने देखा था कि ठाकुर का ज्योतिर्मय सूक्ष्म शरीर धीरे-धीरे नरेन के शरीर में प्रवेश कर रहा है। उनका अभी दृढ़ विश्वास हैं कि ठाकुर एक दिन नरेन के शरीर के माध्यम से ही अपनी महालीला के विस्तार का साधन करेंगे।

आज वही नरेन ठाकुर के कर्म यज्ञ के होता के रूप में पाश्चात्य देशों में जाने की अनुमति मांग रहा है। इस अवधि में इस सम्बन्ध में श्री माँ को भी प्रत्यादेश प्राप्त हो चुका है। उन्होंने भी ध्यानावेश में देखा है कि समुद्र तरंगों के ऊपर से ठाकुर अग्रसर हो रहे हैं, तथा नरेन्द्र उनका अनुगमन कर रहे हैं। अपने इस अलौकिक दर्शन की बात लिखते हुए उन्होंने भी नरेन को पत्र लिखा। साथ ही उन्होंने हृदय से आशीर्वाद भी दिया।

स्वामी जी ने अपने भक्त शिष्यों का आवाहन किया और कहा, "अमेरिका जाने के लिए अब मैं पूर्णरुपेण प्रस्तुत हूँ। माँ का आशीर्वाद भी मुझे मिल चुका है।

मद्रास के भक्तों का उत्साह एवं स्वामी जी के शिष्य खेतड़ी के राजा साहेब के आर्थिक योगदान के फलस्वरुप स्वामी जी की यात्रा का पूरा बन्दोवस्त हो गया। १

१८९३ ई० की ३० मई की तारीख। बम्बई से उन्होंने जहाज द्वारा, जन्म भूमि का त्याग किया। परिधान था, रंगीन रेशमी अंगरखा एवं उष्णीय। साथ ही परिचय के लिए एक नया नाम भी था, स्वामी विवेकानन्द।

श्री रामकृष्ण के देहान्तर के पश्चात् शिष्यों ने विरजा होम कर, संन्यास ग्रहण किया था। इस समय नरेद्रनाथ का नामकरण हुआ था, विविदिषानन्द। हिमालय तथा भारत के अन्य क्षेत्रों में परिव्राजन के समय स्वामी जी महाराज नाना समय पर नाना नाम ग्रहण कर लेते थे। अब विदेश जाने से पूर्व कौन सा नाम धारण करेंगे, इस पर विचार कर रहे थे। प्रिय शिष्य खेतड़ी राज ने कहा, "स्वामी जी, आप संसार के विवेक के उन्मेष हेतु प्रस्तुत हो रहे हैं, इसीलिए आप का इस बार का नाम ही विवेकानन्द।" २

शिकागो में उन दिनों विश्व मेले का आयोजन हो रहा था। वहीं पर विश्व धर्म सभा के अधिवेशन की बात थी। वहाँ पहुँच कर जानकारी करने पर स्वामी जी हताश से हो गये। प्रतिनिधियों के निर्वाचन की अंतिम तारीख बीत चुकी थी। इसके अलावा, जुलाई का महीना था और सितम्बर से पूर्व धर्म सभा का अधिवेशन आरंभ होने को नहीं था। वे अथवा उनके उत्साही भक्तगण, किसी

१ वेणीशंकर शर्मा : स्वामी विवेकानन्द—जीवनेर विस्मृत अध्याय
२ रोम्यां रोलां—लाइफ आफ विवेकानन्द

ने भी इस विषय में पहले से जानकारी कर लेने का कोई प्रयोजन ही नहीं समझा था। अब सबसे बड़ी समस्या यह थी कि आगामी कई मास तक जीवन निर्वाह के लिए व्यय की क्या व्यवस्था होगी।

अमेरिका में पदार्पण करते समय उनके पास मात्र १७९ पाउंड अवशिष्ट, थे। इतना व्ययसाध्य देश, तथा इतनी कम पूँजी। जमा पूँजी शीघ्र ही समाप्त हो जाने वाली थी। सामने अमेरिका का भयानक शीत काल भी आसन्न था। जाड़े के कपड़े भी उनके पास पर्याप्त नही थे। यह देश, भारत तो नहीं हैं, यह तो जड़वादी डालर पूँजीवाद का देश है। यहाँ सन्यासी को भिक्षा नहीं मिलती। स्वामी जी, भयानक विपत्ति में पड़ गये।

परन्तु ऐसी अवस्था में स्वामी जी प्रयास छोड़ने वाले नहीं थे। व्यय में कमी करने के लिए वे कुछ दिनों के लिए शिकागो छोड़कर बोष्टन नगर में निवास करने के लिए चले आये। इसी समय आकस्मिक रूप से उनका परिचय हारवर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापक मि० राइटर से हो गया। स्वामी जी की लोकोत्तर प्रतिभा एवं विद्वता से ये अध्यापक मुग्ध हो उठे। वे उसी समय से उनके धर्म सभा में प्रवेश दिलाने के लिए प्रयत्न शील हो गये।

राइटर साहब को उन्होंने पहले ही इस बात से अवगत करा दिया कि हिन्दू धर्म के प्रतिनिधित्व के लिए उनके पास कोई निदर्शन पत्र नहीं था। विद्वान अध्यापक ने तुरत उत्तर दिया था, "स्वामी जी, आपसे इस परिचय पत्र की मांग करना तथा सूर्य से उसकी किरणें प्रसारित करने के अधिकार के सम्बन्ध में प्रश्न करना, एक जैसा ही है।"

धर्म सभा के प्रतिनिधि को जो संस्था निर्वाचन करती थी, उसके सभापति मि० राइटर के मित्र थे। स्वामी जी के परिचय पत्र में उन्होंने उन्हीं बन्धु, को लिखा, "ये एक ऐसे मनीषी हैं, जो हमारे विश्वविद्यालयों में कई अध्यापकों की विद्या एकत्र कर डालने पर भी इनके समकक्ष नहीं हो सकती।"

स्वामी जी की प्रबल अर्थाभाव है, यह समझते हुए, सहृदय अध्यापक ने उनके लिए शिकागो स्टेशन का एक टिकट तथा मेला अभ्यर्थना कमेटी के नाम एक परिचय पत्र देकर रवाना कर दिया।

परन्तु स्वामी जी की परीक्षा तो समाप्त होने को ही नही थी। शिकागो पहुँचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि मेला-स्थान का पता उन्होंने खो दिया है। जाड़े की रात गहरी होती जा रही है, तथा इस अपरिचित स्थान में कोई आश्रय पाने की भी संभावना नहीं है।

धनी लोगों के दरवाजो पर जाते ही, परिचारक गण उन्हें नीग्रो समझ

कर द्वार बन्द कर देते हैं। रात भर के लिए उन्हें सिर छुपाने के लिए भी कोई स्थान नहीं मिल रहा है। अंतरतोगत्वा, उन्हें उस रात के लिए स्टेशन पर ही एक खाली पैकिंग बक्स के भीतर आश्रय लेना पड़ा। दूसरे दिन प्रातः क्षुधार्त होकर उन्होंने दो-एक जगह पर भिक्षा का भी प्रयास किया। परन्तु उस देश में भिक्षा देने की रीति ही नहीं है। श्रान्त, क्लान्त तथा मलिन वेश धारी इस विदेशी को बहुत से धनी गृहस्थों ने भगा दिया। एक वरीयसी महिला अपनी खिड़की से देख रही थी कि निराश्रय विदेशी तरुण पैसों के लिए याचना कर रहा है, परन्तु कहीं भी कुछ मिल नहीं पा रहा है। उसके मन में सहानुभूति का उदय हुआ। उन्होंने तुरत नीचे आकर स्वामी जी के लिए दरवाजा खोल दिया तथा उन्हें आहार एवं आश्रय प्रदान किया। इन महिला का नाम था मिसेज हेल।

स्वामी जी के स्वस्थ होने पर इन महिला ने उन्हें धर्म मेले में पहुँचा दिया। परम कारुणिक ठाकुर की दृष्टि, उनके ऊपर सतत निबद्ध है, इसकी अनुभूति स्वामी जी ने इस बार भी की।

१८९३ साल की ११ सितम्बर की तारीख। शिकागो की आर्ट इंस्टिट्यूट के प्रासादोपम भवन में विश्व धर्म महासम्मेलन का आरंभ आडंबर पूर्वक हो चुका है। कार्डिनल गिवन्स को केन्द्र करके सारे पृथ्वी के धर्म प्रतिनिधि गण उपस्थित हैं। श्रोताओं में योरप तथा अमेरिका के बहुत से मनीषी, अध्यापक एवं श्रेष्ठ नागरिक हैं।

तरुण सन्यासी स्वामी विवेकानन्द मंच के ऊपर बैठे हुए हैं। गैरिक रंग से रंजित रेशमी अंगरखा एवं उष्णींय से भूषित इस हिन्दू प्रतिनिधि का आकर्षण मानो सभी को हो गया है। सुन्दर, सुगठित शरीर, तथा चेहरे पर प्रतिभा की दीप्ति। अभीजात्य एवं आत्म प्रत्यय से परिपूर्ण यह सन्यासी मानो एक स्वतंत्र पुरुष है। दीप्त भंगी एवं तेज देखकर लगता कि आदर्शवाद एवं धर्म के क्षेत्र में ये एक दुर्धर्ष क्लान्तिहीन योद्धा एवं चिह्वत अधिनायक हों।

स्वामी जी को अबतक अपने जीवन में ऐसे गुरुगंभीर एवं गुरुत्व पूर्ण सभा मंच पर खड़े होने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। पाश्चात्य समाज के श्रेष्ठ दार्शनिक एवं धर्म–नेता गण इसमें भाषण देने को हैं। अपने-अपने संप्रदाय के मतवाद को वे अपूर्व पाण्डित्य एवं ओजस्वी वक्तृता से प्रस्तुत कर रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द को भी उनके धर्म के तत्व, पृथ्वी के प्राचीनतम एवं वृहत्तम धर्म के पक्ष को प्रस्तुत करना होगा और उसे अभी प्रस्तुत करना होगा। अन्यान्य प्रतिनिधियों की तरह वे पहले से कुछ लिख कर या तैयारी करके नहीं आये हैं। पृथ्वी के

श्रेष्ठ धर्माधिवेशन के सभामंच पर बैठ कर इस तीस वर्ष के दुःसाहसी युवक का हृदय आज सहसा कांप सा उठा।

अब स्वामी विवेकानन्द के भाषण की बारी है। सभापति ने उनका आह्वान किया। परन्तु स्वामी जी टाल गये, कहा, इसके बाद वे वक्तृता देंगे। थोड़ी ही देर बाद फिर उनकी पुकार हुई। घन्टी बजा कर उन्हें बुलाया गया। परन्तु इस बार भी विवेकानन्द ने उत्तर दिया—अभी नहीं। सभापति उन्हें अब और अधिक समय देने को प्रस्तुत नहीं थे। वे दृढ़ स्वर में कह उठे—इस प्रतिनिधि के लिए भाषण देने का यह अंतिम अवसर है। अब क्या किया जाय, अंततः इस बार स्वामी जी को खड़ा होना ही पड़ा।

इष्टनाम का स्मरण करके, समवेत नरनारियों का उन्होंने आह्वान किया, "अमेरिकावासी भाइयों एवं बहनों !" क्षण भर में ही मानो एक इन्द्रजाल का दृश्य उपस्थित हो गया। इस आह्वान के अपनत्व से सभा के प्रतिनिधि तथा दर्शक गण अभिभूत हो उठे। युवक संन्यासी के अभिनन्दन में बजती ताली मानो रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। सैकड़ों लोग उठ-उठ कर साधुवाद देने लगे।

क्षण भर में ही स्वामी जी की आत्म वस्मिृति कट गयी। उन्हें स्पष्ट रूप से समझ में आ गया कि यह अभिनन्दन तथा यह स्वीकृति श्री रामकृष्ण की इच्छा से ही है। इस लीला विलास के फलस्वरूप ही आज वे यहाँ खड़े होने में समर्थ हो सके हैं। स्वामी जी का स्वभाव सिद्ध साहस एवं नेतृत्व की भावना उनमें तुरत भर गयी। इसके बाद उनके अंतर की निर्झरणी से उनका चमत्कार पूर्ण भाषण प्रवाहित होने लगा।

उस दिन स्वामी जी ने अमोघ शक्ति से मंडित धर्म सभा का मन मोह लिया। सारे पृथ्वी के धर्म प्रचारक एवं दार्शनिकों के समक्ष यह मानो एक चांचल्यकर विस्फोट था ! श्रोताओं में अमरीकी बुद्धिजीवियों की संख्या अधिक थी। इन्हीं की स्वीकृति के माध्यम से अमरीकी देश के सम्मुख स्वामी जी की भास्वर मूर्ति प्रस्फुटित हो उठी। वेदान्त धृत सनातन हिन्दू धर्म के संवाहक के रूप में, पाश्चात्य देश के प्राण केन्द्र में उनका अभ्युदय हुआ। इसके द्वारा एक विराट् संभावना का इंगित मिला।

रामकृष्ण-विवेकानन्द के लीला-जीवन में उस दिन की यह घटना बड़ी ही तात्पर्य पूर्ण थी। रामकृष्ण थे, सच्चिदानंद सागर विहारी एक राज हंस। ध्यानमय प्रशान्त महाकारण से उनकी सत्ता सदा भासमान थी। और विवेकानन्द उसी राज हंस के ही पक्ष-विधुनन थे। धर्म महासभा में उस दिन का यह

आलोड़न-गति चंचलता क्या इस की ही प्रथम प्रथम प्रतिक्रिया थी ?१

विवेकानन्द ने अपने आनंद-चंचल श्रोताओं के निकट घोषणा की, "पृथ्वी के प्राचीनतम संन्यासी संघ की ओर से आज मैं आपको साधुवाद दे रहा हूँ। सर्व धर्मों की जननी स्वरूपा, सनातन धर्म के प्रतिनिधि के रूप में, सारी श्रेणियों तथा सारे मतों के कोटि-कोटि हिन्दुओं के पक्ष से आप लोग मेरा आंतरिक धन्यवाद ग्रहण करें।"

सनातन धर्म के समन्वयकारी रूप का उद्घाटन करते हुए उन्होंने आगे कहा, "जिस मत ने समग्र जगत् को पर धर्म सहिष्णुता एवं सारे मतों के सर्वजनीन स्वीकृति की शिक्षा दी है, मैं उसी धर्म का होकर गौरव अनुभव करता हूँ। हमलोग मात्र सर्वजनीन, परम सहिष्णुता के ही विश्वासी नहीं है, वरम् हम सारे धर्मों की सत्यता में भी विश्वास करते हैं। जिस जाति ने पृथ्वी के सभी देशों के उत्पीड़ित एवं आश्रय प्रार्थियों को जाति-वर्ण निर्विशेष होकर आश्रय प्रदान किया है, मैं उसी जाति का विशिष्ट मनुष्य होकर मन ही मन गर्व से भर उठता हूँ। मैं आप लोगों से गर्व के साथ कहूँगा, कि जिस वर्ष रोमन लोगों ने यहूदियों के पवित्र देवालयों का ध्वंस कर डाला था, उसी वर्ष उत्पीड़ित इसराईल वंशियों को हमी लोगों ने दक्षिण भारत में स्थान दिया था। जिस धर्म ने जरथुस्ट्र पंथी, महान पारसी जाति के अवशिष्टांश को आश्रय दिया है, तथा अबतक उनका लालन-पालन किया है, मैं उसी धर्म का होकर गौरव का बोध करता हूँ।"

धर्म सभा के विराट् कक्ष को प्रतिध्वनित करते हुए स्वामी के उच्च कण्ठ से वही पवित्र श्लोक निर्गत हुआ, जिसे अगणित भारतवासी शैशवकाल से ही दुहराते रहते हैं—

रुचीनां वैचित्र्यादृजु कुटिल
नानापथ जुषाम।
नृणामेको गम्यस्तमसि
पयसामर्णव इव ॥

नदी-नाले, सभी जैसे धाराओं तथा नाना मार्गों से, सागर अभिमुख होकर बहते हैं, उसी तरह रुचि के वैचित्र्य हेतु, सरल एवं कुटिल नानापथगामी मानव धारा के, हे प्रभु, तुम ही मात्र गतंव्य हो।

गीता द्वारा प्रचारित महान सत्य की बात भी उन्होंने सुनायी। पुरुषोत्तम कह गये हैं—कि जो भी मेरी जिस भाव से उपासना करता है, मैं उसके

---

१ रोम्यां रोलां : लाइफ आफ विवेकानन्द

निकट उसी भाव से ही प्रकाशित होता हूँ। हे पार्थ, मनुष्यगण सर्वलोभाव मेरे ही निर्दिष्ट मार्ग से चलते रहते हैं।

भारत के धर्म के मूल स्वर की व्याख्या करने के पश्चात् उन्होंने धर्म सभा के समक्ष अपूर्व आशा की वाणी भी ध्वनित की—"सांप्रदायिकता, गोंड़ामी एवं धर्माधंता का मृत्यु काल आसन्न है। मैं हृदय से विश्वास ,करता हूँ कि इस समिति के उद्बोधन हेतु आज प्रातः काल जो घंटा ध्वनि गूंज उठी थी वह धर्मोन्मत्तता के मृत्यु की घोषणा सारे संसार में करे। मानव जाति एक ही चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है, अब उसके भीतर का पारस्परिक संदेह एवं अविश्वास दूर हो, तथा तलवार वा लेखनी द्वारा परपीड़न के दुर्मति का सर्वदा के लिए अवसान हो जाय।"

मनीषी रोमाँ रोला की भाषा में—सम्मेलन के अन्य वक्तागण में प्रत्येक ने भगवान की ही बात कही थी—परन्तु वह भगवान उनके अपने संप्रदाय के भगवान थे। परन्तु, अकेले विवेकानन्द ने सभी के भगवान के विषय में बात की, तथा सभी के भगवान को विश्व सत्ता से एकाकार कर दिया। यह रामकृष्ण का ही ऊष्ण विश्वास था, जो आज समस्त बाधा-विघ्नों को पार कर उनके श्रेष्ठ शिष्य के माध्यम से उद्‌गत हुआ। तथा विश्वधर्म सम्मेलन से इस तरुण संन्यासी को अपनी स्वतः स्फूर्त श्रद्धांज्जलि अर्पित की।

इसके बाद स्वामी जी को लगभग दस-बारह वक्तृताएँ इस सम्मेलन में देनी पड़ी। युक्ति, प्रेरणा एवं आदर्शवादिता की शक्ति से ये वक्तव्य स्वतः प्रकाशित थे। सम्मेलन के सदस्यों को झकझोर कर उनके द्वारा प्रचारित शाश्वत सत्य की महावार्ता ने अविलम्ब जन मानस के हृदय को आलोड़ित कर डाला। बिश्वधर्म महासभा के प्रख्यात मनीषी एवं जन साधारण दोनों के ही हृदय पर एक साथ स्वामी विवेकानन्द ने अनायास ही अधिकार कर डाला। परन्तु यह विवेकानन्द उन्हीं के शिष्य थे जिन्हें व्यावहारिक शिक्षा का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं था, तथा अपने नाम का हस्ताक्षर करने पर मात्र 'रामकेष्ठ' लिख पाते। स्वामी जी के सभी प्रच्छन्न कर्मों के नियामक थे यही श्री रामकृष्ण। श्री रामकृष्ण के ही मानों वे स्वयं एक जादू की छड़ी हों। संभवतः जादू की छड़ी घुमाते हुए, ठाकुर उस दिन मन्द-मन्द मुस्करा रहे हों।

अमरीकी संवादपत्रों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया कि निःसन्देह, स्वामी विवेकानन्द धर्म मेला के श्रेष्ठतम ध्यक्तित्व हैं। न्यूयार्क हेरल्ड ने उस समय लिखा, "इनकी वक्तृता सुनने के बाद ऐसा लगता है कि भारत जैसे न्याय एवं ज्ञानेश्वैर्य मंडित देश में हमारे देशों के धर्म प्रचारकों का प्रेरणा प्रदान

करना, मूर्खता का कार्य है।"१

अमरीका के मनीषी, समाजनेता एवं धन कुवेर गण, स्वामी जी के प्रज्ञा, पांडित्य एवं व्यक्तित्व से बिलकुल मुग्ध हो उठे। धर्म सम्मेलन के सभापति भी उनकी इस जनप्रियता का उपयोग करने से नहीं चूके। नीरस तत्वालोचना के कारण जब श्रोतागण धैर्य खोने लगते तब उस समय वे घोषणा कर डालते कि अधिवेशन के अंत में स्वामी विवेकानन्द का भाषण होगा। श्रोता गण इतने आग्रही हो उठे थे कि स्वामी जी का भाषण सुनने के लोभ में वे घंटों धैर्य धारण कर के प्रतीक्षा करते रहते।

स्वामी जी के भक्त एवं अनुरागी पाश्चात्य देशीय जीवनीकार लिख गये हैं, "शिकागो की विराट् धर्म सभा में स्वामी जी ने जिस महासत्य का प्रचार किया तथा जिस विस्मयकर आश्वासन का श्रवण कराया, ईसा के पश्चात् और किसी प्राच्य देशवासी के मुख से पाश्चात्य देशों को ऐसी बात सुनने को नहीं मिली। ये विचार चिर दिन तक पाश्चात्य के धर्मोन्नति एवं धर्म विस्तार हेतु सहायक रूप में गण्य होंगे, तथा संसार के भविष्यत् अध्यात्म ज्ञान के प्रधान अवलम्बन के रूप में गृहीत होंगे।"२

केवल मात्र प्राण स्पर्शी भाषणों तथा व्यक्तित्व के बल से जनमानस का ऐसा दिग्विजय पृथ्वी पर बहुत ही कम दृष्टिगोचर होता है।

इस अप्रत्याशित सम्मान एवं ख्याति के प्लावन से स्वामी जी के अंतर में किस तरह की प्रतिक्रिया हुई ? प्रसिद्ध संवाद पत्रों के स्तंभ पर स्तंभ तरुण हिंदू संन्यासी के विजय गाथाओं से भरे रहते। परन्तु इस जय गौरव ने भीतर ही भीतर स्वामी जीं के हृदय को भाराक्रान्त कर डाला। वे सोचने लगे, ख्याति की यह कैसी विडंबना उनके जीवन में शुरु ही गयी है। अब तक वे त्यागी एवं एकांतचारी संन्यासी जीवन में मुक्त विहंग की भाँति स्वाधीन एवं स्वतंत्र थे। क्या वह जीवन उन्हें वापस नहीं मिलने का ? तपस्यामय जीवन ! ईश्वराधृत जीवन—उसका भी अवसान हो गया है, यही आशंका अंतर में उठने लगी। अमेरिका आकर अबतक उन्हें हर कदम पर दारिद्र्य एवं प्रत्याख्यान से जूझना पड़ा है—अब लगता है, ऐश्वर्य का प्राचुर्य, उनका ग्रास कर लेना चाहता हैं।

स्वामी जी रातो रात अमेरिका में प्रसिद्ध हो उठे हैं। करोड़पति गुण ग्राही गण, उनकी किसी भी आज्ञा के पालन हेतु सदैव प्रस्तुत हैं। एक रात एक धनी व्यक्ति के प्रासाद में उन्होंने आतिथ्य ग्रहण किया है। चारों ओर विलास

---

१ डा० आर० सी० मजूमदार : विवेकानन्द इन अमेरिका
२ ईस्टनर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्र्स : स्वामी विवेकानन्द

का प्राचुर्य है। सुस्वादु व्यंजनों की भी कमी नहीं है। भोजन के पश्चात् उन्होने एक कोमल शय्या पर शयन किया, परन्तु नींद नहीं आयी। इस विलास वैभव के परिवेश में उन्हें दुःखिनी जन्मभूमि की स्मृति बिच्छू के डंक के समान लगी। बिना अन्न के तथा शिक्षा दीक्षा हीन कोटि-कोटि देशवासियों का दुख उनके अंतर को शूल जैसा भेदने लगा। सारी रात वे जमीन पर ही लेटे रहे, परन्तु उन्हें नींद नहीं आयी।

उन दिनों स्वामी विवेकानन्द का व्यक्तित्व एवं भाषण निपुणता सम्मोहन जैसा कार्य कर रही थी। इन्हीं दिनों एक गुणग्राहिणी धनाढ़्य तरुणी, स्वामीजी के समक्ष अपना सारा धन-वैभव एवं रूप-यौवन अर्पित करने को व्यग्र हो उठी। शाँत स्वर में उन्होंने उतर दिया, "मेरे समक्ष ऐसे प्रस्ताव का कोई अर्थ नहीं है। मैं संन्यासी जो हूँ! समग्र विश्व की सारी नारियाँ ही मेरी 'माँ' हैं।"

अमरीका के वक्तृता प्रतिष्ठानों के माध्यम से स्वामीजी तूफान की तरह विभिन्न क्षेत्रों का दौरा करने लगे। उनके ओजस्वी भाषणों से वेदान्त तथा मानव धर्म का शाश्वत रूप प्रस्फुटित हो उठा। समाचार पत्रों में तो उनका नामकरण ही हो गया 'साइक्लोनिक हिंदू'।

गौतम बुद्ध के अढ़ाई हजार वर्ष बाद भारत ने विदेशों में अपना यह प्रथम प्रचारक तथा संदेश वाहक प्रेषित किया है। प्रतीच्य सभ्यता के अग्रदूत अमरीका ने उसकी वही वाणी कान खोल कर सुनी।

पृथ्वी का प्राचीनतम सभ्यता स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से अपने सत्याविष्कार का अपूर्व उपहार लेकर आज पश्चिम के द्वार पर उपस्थित है! और वे विवेकानन्द हैं श्री रामकृष्ण की संतान—श्री रामकृष्ण की अध्यात्म सत्ता के प्राणमय प्रकाश। इस शक्तिधर दूत को अनायास ही वापस भेज देने का उपाय ही कहाँ है?

प्रतीच्य सभ्यता के केन्द्र स्थल अमरीका ने विवेकानन्द को ग्रहण किया। मात्र उनके भाषण कला के लिए नहीं, वरन् व्यक्तित्व सत्यनिष्ठा एवं त्यागधृत जीवन के प्रति श्रद्धान्वित होकर ही उनहें ग्रहण किया।

इसके लिए थोड़ी प्राथमिक प्रस्तुति भी अमरीका में थी, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विवेकानन्द, उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में अमरीका में उपस्थित हुए थे। अमरीकी बुद्धिजीवियों के मध्य उन दिनों जो विचार अपनी छाप डाले हुए थे, वे स्वामीजी के धर्म प्रचार के लिए कुछ

अनुकूल ही थे। इससे पूर्व मनीषी एमर्सन एवं थोरो अपनी रचनाओं में भारतीय ब्रह्मवाद एवं अतीन्द्रिय अनुभूतियों को समर्थन दे चुके थे। क्रिश्चियन साइन्स के समर्थक गण तथा कवि ह्विटमैन की आध्यात्मिकता ने भी इसके लिए मानो कुछ पहले से ही तैयारी कर रखी थी।

लगता है कवि ह्विटमैन की कविता में भारत दूत विवेकानन्द की आसन्न पदध्वनि का इंगित फूट उठा था :—

हे मोर नगरी............।
आज मेरे द्वार पर
आ रही है आदि माता।
भाषा की प्रथम काकली
हुई थी ध्वनित जिसके नीड़ में।
है जो समस्त काव्यों का उत्स
वाणी है जिसकी अति प्राचीन
सुनो, सुनो हे, आ, रही है वह
—ब्रह्म की सन्तति।

दूसरी ओर यह भी दृष्टिगोचर हो रहा था, कि अमरीकी समाज में, साधारण मनुष्य, भोग सर्वस्व जीवन के पीछे भाग कर दिशाहारा हो रहा था, तथा मानसिक भावसाम्य खोता जा रहा था ? इन उद्भ्रान्त, स्रान्त, क्लान्त मनुष्यों के समक्ष स्वामीजी ने आत्मिक जीवन का आदर्श लाकर प्रस्तुत कर दिया, तथा भारत-आत्मा की शाश्वत वाणी का प्रचार कर डाला। रामकृष्ण की प्रत्यक्ष अध्यात्म शक्ति के स्पन्दन से वह प्राणवन्त था, तथा विवेकानन्द के अपने प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभूति से था प्रोज्वल—मंत्रचैतन्य मय !

स्वामी जी उन दिनों प्रचार के उत्साह से मत्त थे। प्रति सप्ताह उन्हें बारह-चौदह वक्तृताएँ देनी पड़ती। एक-एक दिन शरीर तथा मन क्लांति से निस्तेज होने लगता। नया वक्तव्य भी अनेक बार उनके लिए खोज पाना संभव नहीं हो पाता। भय होने लगता, कि क्या उनके ज्ञान की पूँजी समाप्त प्राय है ? फिर इन्हीं संशय एवं नैराश्य के क्षणों में, सहसा हृदय में अलौकिक अनुभूतियाँ उठ खड़ी होती, तथा प्रत्यय एवं हृदय के आवेग से वे उच्छल हो उठते। एक-एक दिन रात्रि में तन्द्रावस्था में सुनने लगते, मानो कोई उनके कानों में स्पष्ट रूप से अगले दिन का भाषण की स्मृति उन्हें सहायता प्रदान करती।

विवेकानन्द के चारों ओर अब और अधिक भीड़ इकट्ठी हो गयी। यह

भीड़ मुमुक्षु, अध्यात्म पंथी, संशयवादी और असंख्य कौतूहल प्रिय नर-नारियों की थी सत्यानुरागी तेजदीप्त संन्यासी के निकट। जन सभा में खड़े होकर वे प्रश्न करते, "तुम ईसाई कह कर अपना परिचय देते हो, परन्तु ईसा की आत्मा को क्या तुमने सम्मान दिया है? अगर यीशु दुबारा आज आवें तो उनके शयन के लिए क्या पत्थर का एक टुकड़ा भी जुट सकेगा?

तीव्र आघात से पादरियों का दल पागल हो जाता। श्रोताओं में किसी-किसी का चैतन्य सचमुच में जग उठता, और वह स्वामी जी के समक्ष आत्म-समर्पण कर बैठता।

स्वाधीन चेता स्वामी जी ने कुछ ही दिनों के अंदर अपने को वक्तृता प्रतिष्ठानों के चंगुल से मुक्त कर डाला। इसके फलस्वरूप प्रचुर आर्थिक क्षति हुई, परन्तु उन्होंने उस ओर दृष्टिपात भी नहीं किया। धनी बंधुगण उनके कार्य के लिए अजस्र अर्थ दान हेतु प्रस्तुत हैं, परन्तु शर्त है कि—उनके द्वारा अनुमोदित समाज के अलावा स्वामी जी दूसरे स्थानों पर नहीं जा सकेंगे। क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा: "शिव! शिव कभी तुमने यह भी देखा है कि पृथ्वी का कोई भी विराट कार्य धनी लोग करने में सक्षम हुए हैं? सृष्टि हृदय और मस्तिष्क ही करता है। रुपयों की थैली में वह क्षमता नहीं है।"

अब से उन्होंने संगठनात्मक कार्यों का आरंभ किया। यही स्थिर किया कि जो भी वास्तविक मुक्तिकामी नर-नारी हैं, उनके ही घनिष्ट सान्निध्य में रह कर उनके बीच तत्व उपदेश का वितरण करेंगे। कई दरिद्र भक्तों को आर्थिक सहायता से ही कार्य आरंभ हुआ।१ न्यूयार्क के एक साधारण क्षेत्र में कुछ घर भाड़े पर लिए गये। सामान से रहित कमरों में, पाश्चात्य भक्त गण पाँव मोड़ कर घंटों बैठे रहते। स्थान पर्याप्त न होने पर भी, बहुत से सीढी पर बैठ कर उनके भाषण एवं व्याख्या सुना करते। कुछ दिनों के बाद, वेदान्त शिक्षा का यह प्रतिष्ठान एक प्रशस्त भवन में स्थानांतरित कर दिया गया।

इन्हीं दिनों स्वामी जी के इर्द गिर्द धीरे-धीरे विश्वस्त भक्तों एवं कार्यकर्त्ताओं का दल आकर एकत्रित हो गया। इनमें उल्लेख योग्य थे— मेरी लुइस (स्वामी अभयानन्द), डा० सैन्डस्बर्द (स्वामी कृपानन्द), मिसेज विलि वूल, मिस वाल्डो गुडविन, मि० लिगेट, मिस मेरी फिलिप, मिसेज आर्थर स्मिथ, मिसेज गुडईयर, इत्यादि।

इनके लिए स्वामी जी ने जो भाषण दिया, उन्हीं से संकलित किया गया, उनका राजयोग, ज्ञानयोग एवं भक्ति योग। इन कई ग्रन्थों के प्रकाशन के पश्चात्,

१ मेरी लूई पार्क: स्वामी विवेकानन्द इन अमेरिका।

पाश्चात्य समाज में उथल-पुथल मच गयी।

शिष्य एवं शिष्याओं को मात्र प्रेरणा देकर ही शांत नहीं हो जाते वरन् आध्यात्मिक साधन के मार्ग-पर उन्हें वे सतर्क रुप से परिचालित करते। इन दिनों विवेकानन्द के जीवन में ईश्वरीय शक्तियों के नाना प्रकार दृष्टिगोचर होने लगे थे। सिस्टर क्रिस्टीन की स्मृति कथाओं में इसकी कुछ-कुछ उल्लेख प्राप्त है। स्वामी जी के विश्वस्त शिष्य एवं लिपिकार गुडविन से सम्बन्धित एक घटना में इसका प्रमाण मिलता है। एक दिन श्री गुडविन जड़बाद का समर्थन करते हुए स्वामी जी के साथ जोरदार तर्क में निमग्न थे। किसी तरह भी इस वार्ता में कमी नहीं आ रही है। सहसा स्वामी जी मानस चक्षु पर गुडविन के अतीत जीवन के चित्र एक के बाद एक उभरने लगे। स्वामी जी ने इन घटनाओं का उल्लेख करते हुए दृढ़ स्वर में कहा, "तुम तो इस तरह का जीवन यापन करने हेतु ही आये हुए हो। तुम्हारी बुद्धि से और क्या समझ में आवेगा ?"

अतीन्द्रिय शक्तिों के साक्षात परिचय से गुडविन को प्रचण्ड आघात पहुँचा। जड़वाद का समर्थन करते हुए वे जो इतनी देर से तर्क युद्ध कर रहे थे, वह एकदम शांत हो गया।

न्यूयार्क में स्वामी जी ने अपने स्थायी संगठन 'वेदान्त समिति' का स्थापन किया। कई विश्वस्त शिष्य एवं शिष्याओं पर इसका कार्यभार देने के उपरान्त वे प्रचार कार्य के लिए इंगलैण्ड के लिए रवाना हो गये। इंगलैण्ड सतर्क एवं परंपरा-वादी देश है। परन्तु वहाँ भी स्वामी जी के व्यक्तित्व ने यथेष्ट आलोड़न की सृष्टि की। बहुत से अंग्रेज साधक स्वामी जी से उपदेश लेकर अध्यात्म पथ पर अग्रसर हुए।

स्वनाम ख्यात राजनीतिक नेता एवं मनीषी विपिन चन्द्र पाल १८९६ ई० के फरवरी माह में इंगलैन्ड में निवास कर रहे थे। उनके पत्र से वहाँ के समाज पर विवेकानन्द के कर्म साफल्य का परिचय मिलता है। उन्होंने लिखा था; "मैं इससे पूर्व 'दि डेड पलपिट' नामक प्रबन्ध से 'विवेकानन्द इज्म' के सम्बन्ध में जो अंश उद्‌धृत कर चुका हूँ, उससे ही आप अवगत हो चुके हैं कि विवेकानन्द द्वारा प्रचारित मतवाद के प्रसार हेतु सैकड़ों व्यक्ति प्रकाश्य रूप से ईसाई चर्च के बंधन को छिन्न कर चुके हैं।.....................इसके अलावा, मैंने बहुत से शिक्षित अंग्रेज सज्जनों को देखा है जिन्होंने भारत की श्रद्धा करना सीख लिया है, एवं भारतीय धर्म मत तथा आध्यात्मिक तत्वों का श्रवण करने हेतु सतत आग्रहशील हो गये हैं।"

---

१ सिस्टर क्रिस्टीन : अन पाब्लिशड् रेमिनिसेन्सेज

इंगलैन्ड में अध्यापक मैक्समूलर तथा, जर्मनी में दार्शनिक पाल डायसन के साथ स्वामी जी का गंभीर सौहार्द्य स्थापित हो गया था। परन्तु स्वामी जी के योरोप भ्रमण का सबसे बड़ा फल था, उनके प्रति आत्म निष्ठ भक्तों के एक दल का आत्मनिवेदन। मिस मूलर, मिस नोबल (भगिनि निवेदिता) मि. स्टोर्डि एवं सेभियार दंपति, इनमें विशिष्ठ थे। ये शिष्य शिष्या गण स्वामी जी एवं भारतवर्ष के लिए अपने-अपने जीवन का उत्सर्ग कर धन्य हो गये।

अमेरिका के रामकृष्ण मिशन एवं शिक्षा केन्द्र का कार्य दिनों दिन बढ़ रहा था। प्रधान भक्त गण गुरु की पताका एकान्त निष्ठा से वहन करते हुए चल रहे थे। परन्तु विवेकानन्द के सम्मुख मानों नवीनतर जीवन के दृश्यपट खुलते जा रहे हैं। भारतवर्ष के दुःख दारिद्र्य के मोचन हेतु, विदेश से सहायता संग्रह करना ही उनके अमेरिका आगमन का कारण था। परन्तु उनका यह उद्देश्य तो सफल हुआ नहीं। इसीलिए वे स्वदेश जाने के लिए उद्यत हो उठे। भारत में ही रहकर, भारत को बचाना होगा। रोगी की संजीवनी शक्ति उसके अतः संचारी प्राणधारा में ही रहती है। उसी शक्ति के द्वारा उसे उज्जीवित करना होगा। विवेकानन्द ने अब भारत भूमि की ओर ही अपनी दृष्टि मोड़ी। परन्तु आज उस स्वभावतः योद्धा का अंतर्लोक मानो निगूढ़तर, नवीनतर जीवन के आस्वाद से परिपूर्ण है।

१८९६ ई० की ६ जुलाई को स्वामी जी ने अपने भक्त मि. फ्रांसिस लेगेट को एक पत्र लिखा। उनकी जीवनधारा के महत्वपूर्ण परिवर्तन का इंगित इसमें स्पष्ट हो गया है।—"प्रेममय भगवान लीलामय हैं; तथा मैं उनकी लीला का संगी हूँ। उनके इस जगत् में न युक्ति है, न छन्द और उनको बांधने की कौन सी युक्ति हो सकती है? वे लीलामय हैं, उनका खेल उत्थान-पतन, तथा हास्य-रुदन का खेल है। कितना मजा है, कैसा आनंद!..............इस पृथ्वी के खेल मैदान में स्कूल के बच्चों की तरह उन्होंने छोड़ दिया है। किसकी प्रशंसा करोगे तथा किसका तिरस्कार! उनके अंदर न मस्तिष्क है। न बुद्धि। वे हमारे माथे में थोड़ी बुद्धि ठूस कर हमारे साथ तमाशा कर रहे हैं। परन्तु अब यह तमाशा नहीं चलने का..........दो एक बातें मैंने इस बार सीखी है। ज्ञान एवं युक्ति तर्क से ऊपर है, 'अनुभूति', और 'प्रेममय'। उसी प्रेम रस से पात्र पूर्ण कर पाने पर सभी आनंद से भरपूर होंगे, पागल होंगे।"

विवेकानन्द स्वदेश वापस लौट आये। अबकी केन्द्र रहा भारतवर्ष। पाश्चात्य के शिक्षित समुदाय में चांचल्य की सृष्टि करने के उपरान्त वीर

संन्यासी ने भारत के निस्तरंग जीवन में एक प्रचण्ड लहर की सृष्टि कर डाली। निद्रामग्न जाति के ऊपर एक आँधी का आघात पड़ा। आत्म विस्मृत, पर-निर्भर भारतवर्ष के सम्मुख उस दिन के विवेकानन्द मानो एक परम विस्मय स्वरूप हों ! इस देश में ही एक विराट् पुरुष का अभ्युदय हो गया है जिसके कण्ठ घोष ने सारे पाश्चात्य देशों को कंपा डाला है, तथा जिसकी चरण धूलि लेने के लिए आधुनिक सभ्यता से गर्वित मनुष्यों का दल भीड़ लगाये खड़ा है। जय गौरवदीप्त इस संन्यासी के ललाट पर चिन्हित है भारतवर्ष के ही आत्म परिचय का तिलक चिन्ह। भारत के ही अध्यात्म चेतना की महिमा से वह समुज्वल है। त्यागी संन्यासी, वीर संन्यासी विवेकानन्द के जीवन के माध्यस से जीवन लाभ कर, समग्र देश उस दिन जाग पड़ा।

ऐन्द्रजालिक रामकृष्ण के जादू की छड़ी, देश तथा विदेश में नये-नये दृश्यपट उन्मोचित करती हुई चल रही थी।

अगणित देश वासी, उस दिन, विवेकानन्द की संवर्धना हेतु उन्मत्त थे। स्कूल-कालेजों के छात्र तथा देशी राजे महाराजे, सभी हाथ मिलाकर उनके शोभायात्रा की गाड़ी खींच रहे थे। वह एक अपूर्व दृश्य था। धनी-निर्धन, राजा प्रजा, सभी के भीतर उस दिन स्वत: स्फूर्त आनन्द का उच्छ्वास दृष्टिगोचर हो रहा था। इस संन्यासी प्रतिनिधि के जय-गौरव की भूमिका में भारतवासियों को अपना रूप, अपना परिचय मानो नवीन रूप से दृष्टिगोचर हो रहा था। उस दिन जातीय उल्लास तथा गर्व का जो दृश्य उपस्थित हुआ उसके माध्यम से हमारी नवजागृति के एक अध्याय का आरंभ हुआ।

इस राजोचित सम्मान तथा संवर्धना के उत्तर में विवेकानन्द ने कहा, "यह संवर्धना मेरी नहीं है, मेरे माध्यम से देशवासी आज भारत के संन्यास धर्म की संवर्धना कर रहे हैं, त्यागपूत जीवन की तथा अपनी अध्यात्म शक्ति की संवर्धना कर रहे हैं।

रुग्ण तथा कलान्त शरीर लेकर वे स्वदेश आये हैं। दीर्घ अवकाश तथा विश्राम उनके लिए प्रयोजनीय है। परन्तु योद्धा संन्यासी के लिए वास्तविक अवकाश है कहाँ ? जीर्ण तथा रुग्ण शरीर लेकर ही उन्हें कर्मस्त्रोत में कूद पड़ना पड़ा। उनका देश ही तो उनके ईश्वरीय व्रत के उद्यापन का प्रधान क्षेत्र था।

स्वामी जी का मंतव्य था, कि अमरीका जाकर भारत की अध्यात्म संपदा का वहाँ वितरण करेंगे, तथा पाश्चात्य के भोग सर्वस्व जीवन के सम्मुख आत्मिक जीवन की बात उठायेंगे। और इसके बदले में, व्यावहारिक जीवन में दक्ष, वित्तवान अमरीकी समाज से, इस देश के लिए आर्थिक प्रगति की चावी लेकर

आवेंगे। इस आदान-प्रदान से निरन्न, मृतकल्प जन गण को वे अन्न, वस्त्र तथा प्राण प्राचुर्य देकर बचा सकेंगे। वह उद्देश्य उनका व्यर्थ हुआ है अवश्य, परन्तु विराट् जय गौरव लेकर वे स्वदेश वापस आये हैं। पाश्चात्य देशों में वे अध्यात्म भारत की जय पताका फहरा कर वापस आये हैं। इससे जाति को दी बड़ी बातों का लाभ हुआ है। एक तो निद्रित भारत का जागरण तथा दूसरा धर्म महासभा में विजय तथा पाश्चात्य देशों में भ्रमण के माध्यम से आधुनिक भारत के जन समाज में विवेकानन्द के नेतृत्व की प्रतिष्ठा। पाश्चात्य जय माला लाभ के फलस्वरूप उनका देश के जन मानस पर, अनायास ही अधिकार हो गया है। जाति की आशा एवं आकांक्षा आज उसी पर केन्द्रीभूत होना चाहती है। और इसी केन्द्र स्थल से ही स्वामी जी ने अपने अध्यात्म शक्ति के ऊष्ण धारा स्रोत को समग्र समाज के शरीर पर संचालित कर डाला।

देश को गाने तथा उनकी प्राण शक्ति का उद्‌बोधन करने का जो प्रयास इतने दिनों से वे करते आरहे हैं, वह क्या इस बार सार्थक होगा? महान हिमगिरी का तुषार स्तूप क्या इस बार गल सकेगा?

देशवासियों ने उत्सुक होकर विवेकानन्द की वाणी को सुना। यह वाणी भारतात्मा की वाणी थी, रामकृष्ण के अध्यात्म संतान की वाणी थी, जो पाश्चात्य धर्म युद्ध की अभिज्ञाता से समृद्ध थी। भारतवर्व के प्रत्येक धूलि-कण के प्रति श्रद्धा से यह भरपूर थी, तथा आध्यात्मिक भारत के चेतना की महिमा से मंडित थी। आधुनिक भारत ने ऐसा शक्ति-दीप्त ऐसा उद्दीपन कारी भाषण कभी सुना ही नहीं था।

स्वापी जो ने आह्वान किया, "हे मेरे भारत ! जाग्रत हो! कहाँ है तुम्हारी जीवनी शक्ति ? वह शक्ति तो तुम्हरी आत्मा में ही है।……… प्रत्येक व्यक्ति के जैसे ही, प्रत्येक जाति के जीवन में एक मूल सुर वर्तमान रहता है। यही उसका प्रधान एवं केन्द्रीय सुर है। इसी को केन्द्रीत करके ही उसके महान जीवन का संगीत फूट पड़ता है। भारतवर्ष का यह मूल सुर, उसकी अध्यात्म सत्ता में है। इसी को धारण करके उन्होंने जाति के पुनरुज्जीवन के साधन का निर्देश दिया। कहा, "तुम्हें धर्म की प्राण शक्ति के माध्यम से ही समाज संस्कार एवं राजनीति की बात का प्रचार करना होगा। प्रत्येक मनुष्य को अपना व्यक्तिगत मार्ग चुन लेना होता है, उसी तरह प्रत्येक जाति भी अपना निजी मार्ग ग्रहण करे। हम भारतवासी हैं, तथा हमने अपने मार्ग का निर्धारण बहुत पहले ही कर लिया है। वह मार्ग है—अविनश्वर आत्मा के प्रति विश्वास।"

भाषण सुन कर ऐसा लगता कि जाति के चैतन्य उद्‌बोधन हेतु स्वामी

विवेकानन्द ने प्राचीन भारत की आत्मा के अंतर में डुबकी लगायी है। वहीं से प्राणरस को आकर्षित कर उसे लाकर नव जाग्रत भारतवासियों के मानस क्षेत्र में भारत धर्म के बीज का वपन करते जा रहे हैं।

भारत की इस आध्यात्मिक चेतना का विकास मात्र उसके अपने जागरण अपनी ऋद्धि-सिद्ध के लिए नहीं था, वरन् सारा पाश्चात्य जगत् भी इसी की प्रतीक्षा में था। इस चेतना को उद्‌बुद्ध करते हुए स्वामी जी ने आह्वान किया, "तुम्हारे हाथों जो शक्ति है, उसका व्यवहार करो। वह शक्ति इतनी विराट है कि यदि तुम हृदय से उसकी उपलब्धि कर डालों तथा अपने को उसके योग्य कर डालो, फिर तुम विश्व का आमूल, परिवर्तन करने को सक्षम हो सकोगे। कारण, भारतवर्ष है— विश्वजगत् की मानस गंगा।"

इस देश के सामाजिक जीवन में उन दिनों संस्कार आन्दोलन प्रबल वेग से चल रहा था। परन्तु यह आन्दोलन पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से उद्‌भूत था। स्वामी जी के अंतर में यह अनुभूति हो चुकी थी कि यह संस्कार आन्दोलन जाति के मर्मस्थान में प्रवेश कर पाने को समक्ष नहीं है। भारतवर्ष की ऐतिहासिक धारा एवं सनातन धर्म का विशेषत्व स्वतंत्र्य संस्कार कामियों के लिए समझ पाना संभव नहीं है। इसलिए इनसे अपना पार्थक्य जताते हुए उन्होंने अपने आदर्श की घोषणा की,—"समाज को तोड़ फोड़ कर संस्कारक गण उन्नति का जो मार्ग दिखा रहे हैं, वह सफलता का मार्ग नहीं है। इन संस्कारकों से मैं कहना चाहता हूँ, उनसे अधिक बड़ा संस्कारक मैं स्वयं हूँ। वे एक-आध संस्कार के इच्छुक हैं–और मैं उस स्थान पर आमूल संस्कार चाहता हूँ। मेरा तथा उनका पार्थक्य कर्म पद्धति में है। उनकी प्रणाली तोड़-फोड़ कर फेंक देने की है, और मैं संगठन का पक्षपाती हूँ। मैं संस्कार का विश्वासी नहीं हूँ, वरन् मैं स्वाभाविक तथा मूलगत् उन्नति में विश्वास रखता हूँ।"

यह ध्वंसमूलक संस्कार तथा युक्ति हीन रक्षणशीलता—इन दोनों से ही विवेकानन्द ने अपने को पृथक कर डाला। समाज के सभी स्तरों पर वेदान्त तत्व का प्रचार कर वे एक अखण्ड अध्यात्म समाज का निर्माण करने को इच्छुक थे। तामसिक जड़ बुद्धि एवं सामाजिक भेद-वैषम्य ने इस देश में एक चरम विर्पय की सृष्टि कर डाली थी। इसी के विरुद्ध, स्वामी जी ने वेदान्तिक अभेद-तत्व की घोषणा की। सर्व जीवों के भीतर अनुस्यूत हैं शिव। इन्हीं शिवकी पूजा के लिए अपना आह्वान प्रचारित किया, "जो तुम्हारे अंतर में तथा बाहर स्थित हैं, तुम जिनकी स्थूल देह हो तथा जो 'सर्वत् पाशिपादौ,' मात्र उन्हीं विराट आत्मा की पूजा करो।" जाति संगठन हेतु, आवश्यक है वैराग्यवान तेजस्वी कार्यकर्ताओं

का दल। इसके लिए भी उन्होंने अपना प्रबल आह्वान घोषित किया।

श्री रामकृष्ण के साधन तत्व में शक्ति, भक्ति एवं ज्ञान तीनों का ही समन्वय रहा है। ठाकुर ने सारे मत एवं मार्गो को भी मिला दिया था। परन्तु स्वामी जी के अन्दर मानों उसमें कुछ व्यतिक्रम दृष्टगोचर होता है। विवेकानन्द उनके परम प्रिय अध्यात्म संतान हैं। अद्वैतवाद के प्रति उनकी आंतरिक निष्ठा मानो एकांगीपन का परिचय देने लगी हो। क्या ठाकुर के समन्वय की वाणी की मूल बात, उनके श्रेष्ठ शिष्य भूल रहे हैं।

स्वामी जी का 'वेदान्तेर आदर्श' नामक भाषण एवं प्रश्नोत्तर में उन्होंने कहा, : "मेरे ऊपर अभियोग लगाया गया है कि मैं अद्वैतवाद की बात ही अधिक कहता हूँ तथा द्वैतवाद की बात बहुत कम कहता हूँ। मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि द्वैतवाद में कितनी अपरिमेय भाव-रस की उन्मादना तथा कितना असीम आनन्दोच्छ्वास विद्यमान है। ये सारी बातें मैं जानता हूँ। परन्तु इस समय हम लोगों के लिए रोने का समय नहीं है—आज कोमल बनने का समय नहीं है। यह कोमलता इस देश में युग-युग से वर्तमान है और हम लोग अत्यन्त नरम हो गये हैं। आज हमारे देश को आवश्यकता है, लोहे की पेशियां तथा इस्पात के स्नायु, इसके अलावा विपुल इच्छा शक्ति जो कोई भी मुकाबिला करने को तत्पर हो, अमोध हो। इसके लिए यदि समुद्र की गहराइयों में भी उतरना पड़ें, मृत्यु से भी साक्षात करना पड़े, तो इससे कोई नुकसान नहीं है। इसीलिए, आज हमारे लिए प्रयोजनीय है, केवल दृढ़ता। इस देश का पुनरुद्धार करने हेतु, शक्तिशाली एवं सूप्रतिष्ठित करने हेतु, आवश्यक है, अद्वैतवाद के आदर्श की उपलब्धि करना—एक्य के आदर्श को प्राप्त करना। हमें आवश्यकता हैं विश्वास की, -प्रबल आत्मविश्वास।"

१८९७ ई० की पहली मई को स्वामी जी ने बलराम बाबू के भवन में, श्री रामकृष्ण के गृही एवं साधु-भक्तों की एक सभा का आह्वान किया। सभी के अनु-मोदन करने पर 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की गयी। विवेकानन्द इसके मूल सभापति हुए, तथा स्वामी ब्रह्मानन्द कलकत्ता केन्द्र के सभापति बनाये गये।

मिशन प्रतिष्ठित तो हो गया, परन्तु गुरुभाइयों में से अनेक शुरु में स्वामी जी के आदर्श एवं कर्म सूची को उत्साह पूर्वक ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। किसी किसी के मन में नाना द्विधा-द्वन्द है, प्रश्न उठते हैं-'जीव सेवा, लोग शिक्षा, सभा-समिति, ये सब क्या श्री रामकृष्ण द्वारा अभिप्रेत थी? अपनी बात-चीत, उपदेश तथा आचरण में क्या ठाकुर सदैव ईश्वर उपलब्धि पर ही जोर नहीं देते थे? स्वामी जी द्वारा निर्देशित मार्ग पर चल कर क्या वे ठाकुर द्वारा बताये

हुए मार्ग दूर नहीं जा रहे हैं ?

विवेकानन्द, श्री रामकृष्ण के उपदेशों का नवीन भाष्य कर रहे हैं, और कुछ लोगों ने इसके विरुद्ध अपना मत प्रकट किया।

स्वामी जी उत्तेजना से फट पड़े। उन्होंने कहा, "अनन्त भावमयठाकुर को, मैं समझता हूँ, तुम अपनी बुद्धि से बांध कर रखना चाहते हो। ऐसा नहीं हो सकेगा। मैं इस बन्धन को तोड़ कर उनका भाव सारी पृथ्वी में बिखेर कर ही रहूँगा। मुझसे उन्होंने कभी भी अपनी पूजा के प्रचार का उपदेश नहीं दिया। ध्यान, धारणा तथा धर्म की जो ऊँची बातें वे हमें सिखा गये हैं, उनकी उपलब्धि कर हमें संसार को शिक्षा देनी होगी। यह न सोचना कि एक नवीन दल के स्थापनार्थ उद्यत हो गया हूँ। प्रभु के चरणों में आश्रय पाकर हम सभी धन्य हो चुके हैं। अब संसार के समग्र लोगों के लिए उनके भाव का वितरण करना होगा। इसी कार्य के लिए तो हमारा जन्म है !"

इसके बाद स्वामी जी ने दृढ़ स्वर में जो कुछ कहा, वह आत्मप्रत्यय की शक्ति से उद्बुद्ध तथा ठाकुर की साक्षात् प्रेरणा से समुज्वल था। उन्होंने कहा, "देखो, प्रभु की दया के बहुत से निर्देश मैंने इस जीवन में प्राप्त किए हैं। स्पष्ट अनुभव भी किया है, कि वे हमारे पीछे खड़े होकर ये सब कार्य करा ले रहे हैं।जब मैं निराहार वृक्ष के नीचे पड़ा रहता, जब मात्र कोपीन बांधने के लिए हमारे पास कपड़ा तक नहीं था, जब पास में एक पैसा भी नहीं था और सारी पृथ्वी का भ्रमण करने की इच्छा थी, उस समय भी मैंने देखा है कि उनकी दया से जहाँ भी गयाहूँ, वहाँ मुझे सहायता उपलब्ध हो गयी है। फिर जब विवेकानन्द को देखने के लिए शिकागो के रास्तों पर लड़कियों की भीड़ लग जाती, उस समय उन्हीं की दया से इतनी मान मर्यादा, जिसका शतांश भी पा जाने पर साधारण मनुष्य बिलकुल पागल हो जाय, उसे अनायास ही हजम कर गया हूँ। प्रभु की इच्छा से जहाँ भी गया हूँ, विजय का ही लाभ किया है। आज, इस देश के लिए कुछ करना आवश्यक है। तुम सभी संदेह का त्याग कर, मेरे कार्य में सहायता करो। तुम्हें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि उनकी इच्छा से सभी का कल्याफ होगा।

एक अन्य दिन के वाद-विवाद में भी स्वामी जी फट पड़े थे तथा ध्यान-भजन परायण, ईश्वर दर्शन हेतु व्याकुल गुरुभाइयों से कहा था, "सोच रहे हो कि इससे ही मुक्ति तुम्हारी मुट्ठी में आ रही है ? सोचते हो कि अंतिम दिन ठाकुर रामकृष्ण आकर, तुम्हारा हाथ पकड़ कर एक-दम गोलोक की ओर खीच ले जायँगे ! और ज्ञान की चर्चा ! लोक शिक्षा एवं आर्त अनाथों की सेवा, ये सब

माया हैं—क्या परमहंस देव ने यह सब नहीं किया। किससे-किससे नहीं कहा था, 'पहले भगवान का लाभ करो—उसके बाद ही और कुछ। दूसरे का उपकार करने के लिए जाना, यह अनाधिकार चर्चा है।' मानो भगवान लाभ करना कह देने से ही हो जायगा। भगवान क्या एक खिलौना है, कि खोजते ही मुट्ठी में आ जायेंगे"

विवेकानन्द हृदय से विश्वास करते कि ठाकुर श्री रामकृष्ण ईश्वरीय कार्यों के महानायक हैं। उनके अन्तर में ठाकुर की करुणाधन मूर्ति ही चिर भास्वर होकर रहती। इसी कारण, उनके श्री मुख की वाणी—शिव ज्ञान से जीव की सेवा—का स्मरण कर वे सेवा धर्म के अनुसरण हेतु व्याकुल हो गये हैं, मात्र कर्म योग की थोड़ी भित्ति निर्माण हेतु। करुणाघन ठाकुर के जीव-प्रेम की भित्तिपर स्वामी जी ने अपने सेवा धर्म की नई व्याख्या—कर्म योगानुष्ठान की नव परिकल्पना स्थिर की।

गुरु भ्राता गण यही विश्वास करते, कि ठाकुर अपने प्रियतम सन्तान, स्वामी जी के माध्यम से अपनी लीला प्रकट कर रहे है। अपार स्नेह-प्रेम एवं नेतृत्व शक्ति से स्वामी जी ने उन्हें बांध रखा है। फिर भी जो बीच-बीच में जो संदेह का प्रकटन हो जाता वह आज दूर हों गया।

इसके बाद दृष्टिगोचर हुआ की दृश्य-पट एकदम ही बदल गया है। जो रामकृष्ण ठाकुर की पूजा एवं भोगराग छोड़कर, बारह वर्षों में एक दिन भी मठ से बाहर नहीं निकले थे, वे मद्रास में प्रचार कार्य के लिए बाहर निकल गये। अखंडानन्द ने मुर्शिदाबाद के दुर्भिक्षा-त्राण कार्य में अपने को समर्पित कर डाला। शारदानन्द तथा अभेदानन्द इससे पूर्व ही, प्रचार के उद्देश्य से, भारत से बाहर चले गये थे। लोक हित व्रती 'मिशन' की वास्तविक भित्ति धीरे-धीरे निर्मित होती गयी।

स्वामी जी, अमेरीका से जो अर्थ संग्रह कर लाये थे, उससे मठ निर्माण हेतु, पैंतालिस बीघा जमीन खरीदी गयी। वे इस मठ एवं सेवा संस्थान के निर्माण को अनावश्यक होने के कारण टाल जाना चाहते थे। कलकत्ते में उन दिनों प्लेग की महामारी के कारण जनता आतंकित हो उठी थी। स्वामी जी, मठ के कार्यकर्त्ताओं को सेवा कार्य हेतु उद्बुद्ध कर रहे थे, उसी समय एकने प्रश्न उठाया कि प्रचुर अर्थ के अभाव में यह कार्य संभव नहीं है। इतने रुपयों का प्रयन्ध कहाँ से हो पावेगा ?

महाविरागी विवेकानन्द ने तुरन्त उत्तर दिया, "आवश्यक होने पर अभी मठ की सारी जमीन बेच कर कार्य चलाता रहूँगा। हमलोग फकीर हैं, भीख मांग कर तथा पेड़ के नीचे सोकर दिन काट सकते हैं। यह जगह जमीन

बेच कर सहस्रों लोगों के प्राण बचा सकता हूँ, तभी तो यह सब सार्थक है। नहीं तो, किस लिए यह जगह, किस लिए यह जमीन ?" सारे जीवन के आदर्श को इस तरह अवलुप्त कर देने का साहस तथा मनोवृत्ति कितनों में हैं ? भाग्यवश सेवाव्रती लोगों के कार्य आरंभ करने पर इस चरम व्यवस्था का प्रयोजन ही नहीं हुआ।

विवेकानन्द एक भक्त को वेदान्त पढ़ा रहे थे। इसी समय गिरीश घोष वहाँ आकर उपस्थित हुए। स्वामी जी ने उनसे रहस्य भरे स्वर में कहा, "गिरीश, तुमने तो यह सब कुछ पढ़ा नहीं, मात्र केष्टो, विष्ठू लेकर ही अपना समय व्यतीत कर डाला।"

गिरीशचन्द्र ने उत्तर दिया—"स्वामी जी, इन सब का तुम्हारे लिए ही अधिक प्रयोजन है। कारण, ठाकुर ने तुम्हारे ही माध्यम से लोकशिक्षा देने की इच्छाकी थी।"

उसके बाद गिरीशचन्द्र के कौशल से एक विचित्र दृश्य उपस्थित हो गया। गिरीश ने मुस्कराते हुए धीरे-धीरे बोलना आरंभ किया, अच्छा, नरेन तुमने तो वेदान्त का गंभीर अध्ययन किया है, परन्तु उससे अगणित दुःखी लोगों का दुःख वुभुक्षितों का आर्तनाद तथा पापाचरों का निवारण हो सका है क्या ?" साथ ही साथ प्रतिभावान नाट्यकार ने अपनी सुन्दर भाषा में दुःख-दारिद्र्य वेष्ठित वास्तविक जगत् का दुःसह वीभत्स चित्र प्रस्तुत करना आरंभ किया। स्वामीजी का हृदय वेदना तथा विक्षोभ से अधीर हो उठा। नरेन उद्‌गत् अश्रुओं को छिपाने के लिए जल्दी-जल्दी कक्ष से बाहर चले गये। उसके वाद गिरीश ने उपस्थित भक्त से जो बात कही, वह विवेकानन्द के जीवन के एक आश्चर्यजनक भाष्य के सदृश हैं। उन्होंने कहा, "अपने गुरु का हृदय तो तुमने देखा ! यह जो दूसरों के दुःख पर इस तरह अश्रुपात, यह महाप्राणता—इसी के लिए उसे मैं बड़ा मानता हूँ, उसकी विद्या-बुद्धि के लिए नहीं ! दुःख-दुर्दशा की बात सुनते ही, इस तरह वेद-वेदान्त को छोड़ कर उठ खड़ा होना। समस्त विद्या-बुद्धि, मानो पर-प्रेम में गल गयी हो। उनके स्वामी जी, जैसे ज्ञानी एवं पंडित हैं, वैसे ही ईश्वर-भक्त एवं लोक सेवक हैं।"

१८९८ ई० का जुलाई मास। उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने के पश्चात्, स्वामी जी, अमरनाथ के दर्शन हेतु, रवाना हुए। साथ में थीं, स्नेह धन्या शिष्या, निवेदिता। ब्रिटेन की कन्या मिस मार्गरेट नोबल, स्वामी जी की आत्मिक प्रेरणा से उद्‌बुद्ध होकर उनकी शिष्या हो गयी थीं। उसके बाद गुरु की मातृभूमि, भारत की सेवा में ही उन्होंने अपने को निवेदित

कर दिया। उनका नामकरण हुआ, निवेदिता। इस समय स्वामी जी शिक्षा एवं प्रेरणा से साधिका निवेदिता के आत्मनिवेदन का सार्थकतम रूप मानो मूर्त हो उठा था। विवेकानन्द की मानस-कन्या के रूप में उनका आत्म प्रकाश घटित हो गया।

निवेदिता से पूर्व किसी पाश्चात्य देशीय रमणी ने हिन्दू धर्म का संन्यासाश्रम नहीं ग्रहण किया था। इस दृष्टिकोण से वे सर्व प्रथम थीं। इन पाश्चात्य शिष्या के जीवन में जितना कुछ भी भावालुता का स्पर्श विद्यमान था, वह स्वामी जी के कठोर नियंत्रण एवं साधन निर्देश से वह निःशेष हो चुका था।

स्वामी जी की इच्छा थी, कि निवेदिता हिन्दू नारियों के शिक्षा के लिए व्रती हो, तथा मनसा-वाचा-कर्मणा, शुद्धाचारिणी हिन्दू नारी के रुप में विकसित हो। इस संबन्ध में उन्होंने स्पष्ट निर्देश भी दिया था—"तुम्हें अब चिन्ता, भाव, अभ्यास एवं प्रयोजन के दृष्टिकोण से संपूर्ण रूप से हिन्दू होना होगा। तुम्हारे जीवन को अब अंतर तथा वाह्य रूप से, नैष्ठिक ब्राह्मण व्रह्मचारिणी के आदर्श में गठित करना होगा। अगर तुम्हारा अत्यन्त प्रबल आग्रह होगा, फिर ठीक उपाय जुट ही जायगा। परन्तु तुम्हें अपने अतीत जीवन का विस्मरण करना होगा—यहाँ तक कि उसकी स्मृति तक परखने का तुम्हें निषेध होगा।" निवेदिता स्वामी जी के चरणो में उत्सर्गित पाश्चात्य की श्रेष्ठतम अर्घ्य थी। गुरु अपनी इस शिष्या को भारतीय धर्म एवं समाज की सेवा में एक योगिनी रूप के परिवर्तित कर रहे थे।

अमरनाथ जाने के समय स्वामी जी को एक अद्भुत रूपान्तर दृष्टिगोचर होने लगा। लगा, अद्वैतवाद का पताका वाही वह योद्धा संन्यासी अब नहीं हैं। आज वे तीर्थचारी भक्त साधक हैं; प्रभु अमरनाथ के निष्ठावान उपासक। मानो श्री रामकृष्ण की रस पूर्ण सत्ता अब उनके अंतर में प्रवाहित हो गयी हो। शिष्या निवेदिता को भी गुरुदेव की इस नूतन मूर्त्ति एवं दिव्य कमनीयता का दर्शन कर विस्मय की सीमा नहीं रही।

स्नान के पश्चात् स्वामी जी अमरनाथ तुषार लिंग के सम्मुख साष्टांग प्रणत हुए। गुहा के अंदर सैकड़ों-भक्तों के कण्ठ से स्तव गान प्रस्फुटित हो रहा है। यह स्तव गान दर्शनार्थियों के हृदय को झंकृत कर रहा है। भाग्यवान साधक गण शिव विग्रह के दर्शन कर दिव्य अनुभूति का लाभ कर रहे हैं।

प्रभु अमरनाथ का दिव्य दर्शन स्वामी जी को मिला तथा उनके ध्यानाविष्ट देह से वाह्य ज्ञान का लोप हो गया। बहुत देर बाद चेतना लाभ करने

पर दृष्टिगोचर हुआ कि उनका स्वर्गीय आनंद की छटा से उद्‌भासित है।

साथ के लोग बार-बार प्रश्न करने लगे, क्या स्वामी जी को अतीन्द्रिय लोक का कोई दर्शन वा अभिज्ञता हुई है? परन्तु इन प्रश्नों के उत्तर में वहाँ वे मौन ही रहे।

उत्तर काल में घनिष्ट गोष्ठी में स्वामी जी, इस प्रसंग में कहा करते, स्वयं अमरनाथ ने कृपा करके इस समय दर्शन दिया तथा प्रभु ने उन्हें इच्छा मृत्यु का दर भी प्रदान किया। समाधिमग्न शंकर, चिर दिन से ही विवेकानन्द के उपास्य हैं। उनके दिव्य दर्शन ने उस दिन स्वामी जी की समग्र सत्ता को आनंदमय अनुभूति की परंग से प्लावित कर दिया। अंतर्लोक से निरंतर 'शिव' 'शिव' ध्वनि धारा रूप स्पन्दित होने लगी।१

अमरनाथ से वापस आकर विवेकानन्द अब एक नवीनतर भावमय राज्य में प्रवेश कर गये। उस समय उनकी संपूर्ण सत्ता आद्‌या शक्ति के ध्यान में तन्मय हो चुकी है। वे स्पष्ट देख रहे हैं कि चारों ओर जगज्जननी-महामाया की लीला प्रकटित है, तथा स्वामी मानो उन्हीं की गोद में एक क्षुद्र शिशु के रूप में पड़े हैं। मुख से निरंतर रामप्रसादी सुरों की गुनगुनाहट, तथा अंतर में स्वर्गीय आनंद का उच्छ्वास।

शिष्यों से एक दिन उन्होंने कहा, "जिधर भी दृष्टि जाती है, केवल माँ की वराभय मूर्त्ति के दर्शन होते हैं। वे मुझे एक छोटे शिशु के समान, अपना हाथ पकड़ा कर घूम रही हैं।"

मातृ साधक के अंतर में उस समय भक्ति का प्रबल निर्झर प्रस्फुटित हो उठा था। कश्मीर के डल झील में हाउस वोट में वे निवास कर रहे हैं। मुसलमान माझी की कन्या भी उनकी दृष्टि में मानो आद्‌या शक्ति का ही एक कल्याण मय प्रकाश हो। जब वे जननी उमा के ज्ञान से इस बालिका मुसलमान कुमारी की अर्चना करने बैठते, तब भक्त एवं दर्शनार्थी गण के भी अश्रु-सजल हो उठते।

ध्यान तन्मयता के माध्यम से क्रमशः विवेकानन्द के हृदय में ब्रह्ममयी महाकाली की उपलब्धि का जागरण हो गया। उन दिनों उनकी लेखनी से 'जननी महाकाली' नामक एक काव्य वंदना निःसृत हुई। भाविष्ठ अवस्था में इस रचना को लिखने के पश्चात् ही स्वामी जी की वाह्य चेतना दीर्घ समय तक विलुप्त हो गयी थी।

अद्वैतवादी, वेदान्त केसरी स्वामी जी का अन्तर इस समय मातृध्यान से भरपूर था। आद्‌याशक्ति की प्रलयंकारी मुर्त्ति की उपासना, मानो उन दिनों

---

१ सिस्टर निवेदिता : द मास्टर ऐज आई सी हिम.

उन पर पूरी तरह छा गयी हो। इन दिनों वे प्रायः ही कहा करते, "भीमा की उपासना के द्वारा ही भय से परित्राण मिलता है तथा अनंत जीवन लाभ करना संभव होता है। मृत्यु की चिंता करो—सर्वदा काली का ध्यान करो। माँ ही स्वयं ब्रह्म हैं। उनका आघात, अभिशाप भी तो आशीर्वाद है ! हृदय को श्मशान बना डालो। तभी तो माँ से साक्षात् होगा !"

'नाचुक ताहाते शमा' कविता में स्वामी जी के अंतर्लोक' में उद्भासित, यह संहाररूपिणी तत्व प्रस्फुटित हो उठा है —

सत्य रुपा काली-तुम ही सत्य,
सुख रुपी वनमाली है तेरी छाया।
करालिनी तुम हे करो अब कंठच्छेद
हो जिससे अब माया-भेद
सुख स्वप्नों में डूबो पर-हो दया।

स्वामी जी एक दिन क्षीर भवानी, देवी विग्रह का दर्शन करने आये हुए हैं। पता नहीं किस देवी माया से वे इस प्राचीन विग्रह के प्रति खूब आकृष्ट हो गये। कई दिनों तक वे माँ के मंदिर में बैठ कर पूजा एवं ध्यान-जप में निविष्ट रहे।

वे मंदिर में बैठे, अनवरत जप कर रहे है। क्रमशः भग्न देवता की ओर उनकी दृष्टि निबद्ध हुई। विधर्मियों के आक्रमण एवं अत्याचार से जगह जगह पर यह टूट चुका है। साधक के अंतर में एक अव्यक्त व्यथा का उदय हुआ। मन में चिंता फैल गयी, "माँ के भक्त गणों ने माँ के मंदिर तथा विग्रह पर यह अत्याचार किस तरह सहन किया ? अगर मैं उस समय उपस्थित रहता तो किसी तरह भी ऐसा नहीं होने देता। अपने प्राणों की आहुति देकर भी माँ के मंदिर की रक्षा करता।"

सहसा एक अलौकिक कण्ठ स्वर सुनाई पड़ा !—"क्यों रे, मेरा मंदिर टूट गया है, उससे तुझे क्या ? तू क्या मेरी सर्वत्र रक्षा करता है,—अथवा मैं ही तुम्हारी रक्षा करती हूँ ? मेरी इच्छा से क्या अभी यहाँ सात मंजिला स्वर्ण रचित मंदिर नहीं तैयार हो सकता है ?"

विवेकानन्द चौंक पड़े। इस देव वाणी के आघात ने उनकी अंतर सत्ता में एक प्रचंड उथल पुथल की सृष्टि कर डाली। सच ही तो है। जो आद्या शक्ति जगज्जननी हैं, जो सारी शक्तियों की स्रोत हैं, उनकी शक्ति को इतना सीमित वे क्यों सोच रहे हैं ? उनकी यह धृष्टता क्यों ? माँ अपने निरापत्ता का

विधान स्वयं करेंगी। उनका यह अहंबोध क्यों? माँ का संसार माँ ही तो चलती रहती है। वे परा शक्ति है, उन्हीं की शक्ति से विश्व ब्रह्मांड विधृत है। ग्रह-ताराओं का दल उन्हीं के प्रेम सूत्र से गुँथे हुए हैं। उन्हीं के ज्ञान से सारी सृष्टि चैतन्यमय है और स्पन्दित है। विश्वब्रह्माण्ड के एक कोने में, क्षुद्र आंगन में क्रीड़ारत शिशु, इस विवेकानन्द की शक्ति वास्तव में है ही कितनी?

क्षीर भवानी मंदिर की अलौकिक अभिज्ञता ने स्वामी जी के जीवन में एक नूतन अध्याय की सृष्टि कर डाली। वे जब श्रीनर वापस आये, तब उनके साथी लोग उनके चेहरे पर दिव्य ज्योति की आभा देख कर चौंक पड़े थे।

देवी भवानी का प्रसाद फूल सभी के माथे पर छुला कर, भाव-गदगद स्वर में विवेकानन्द ने कहा, "अब और हरि ऊँ नहीं। अब मेरे लिए मात्र—'माँ' और 'माँ'। माँ ने जो वृहत्तम सत्य मुझे समझा दिया, कि अपना संसार वे स्वयं देख रही हैं, मुझे इसकी रक्षा करने की ऐसी स्पर्धा क्यों हो रही है। फिर स्वदेश की भावना से भी सोचने का मुझे क्या प्रयोजन है? ब्रह्ममयी माँ की गोद में मैं एक क्षुद्र संतान मात्र हूँ!"

उसके बाद विस्मयाविष्ट शिष्यों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, "और जो कुछ कहने की बातें हैं—उनका प्रकाश करना संभव नहीं है। कहने का आदेश नही है!"

विवेकानन्द जब सारे मायिक आवरणों के उर्ध्व में अपनी अध्यात्म सत्ता को प्रसारित करने हेतु प्रयत्नशील हैं। व्यावहारिक जीवन के चारों ओर बहुत सारे कर्म के बंधन जुड़े हुए थे। क्षीर-भवानी का कल्याण वाणी ने आज उन सारे बंधनों को शिथिल कर डाला।

अंतर के अन्तस्तल में स्वामी जी उपलब्धि करने का प्रयास कर रहे हैं, कि वे किसी धर्मान्दोलन के स्रष्टा नहीं, जन नेता नहीं, वरन् वे सर्व माया-मोह छिन्न सन्यासी हैं–जगज्जनी की गोद में बैठे हुए वे एक वैरागी बालक मात्र हैं!

ध्यान-तन्मय, स्वामी जी, इन दिनों प्राय: अकेला रहना ही पसन्द करते। मावावेश में बीच-बीच में कही किसी सुदूर प्रान्तर में अदृश्य भी हो जाते।

एक दिन संगियों ने देखा, पता नहीं कहाँ से मस्तक मुंडन करा कर, एक दीन संन्यासी के वेश में वे आकर उपस्थित हो गये। मुँह से स्वरचित 'जननी महाकाल' की श्लोक गाथा प्रस्फुटित हो रही थी। माँ की प्रलयंकरी शक्ति का वर्णन करते हुए वे बोल उठे, "देखो, इनमें प्रत्येक बात सत्य है। और मैं इसको प्रमाणित करता हूँ देखो; मैंने मृत्यु का वरण कर लिया है।"

माया के सूक्ष्मतम आवरण को उन्होंने दूर कर डाला है, तथा सारे बन्धन जालों को उन्होंने छिन्न कर डाला है,—यही क्या उनका मृत्यु-वरण है?

वेलूड़ में उस दिन मठ की स्थापना का उत्सव दिवस था। गंगा स्नान के उपरान्त, स्वामी की ठाकुर के भस्मास्थिपूर्ण ताम्र पात्र को सिर पर वहन कर अग्रसर हुए, तथा नूतन मठ में इनकी प्रतिष्ठा की गयी।

इस समय उन्होंने एक संन्यासी से कहा था, "ठाकुर ने मुझ से कहा था, 'तू कंधें पर जहाँ भी मुझे ले जायेगा, मैं वहाँ ही चला जाऊँगा, वहीं रहूँगा–उस वृक्ष के नीचे हों क्या ?'....इसीलिए आज मैं स्वयं ही उन्हें यहाँ ले आया।

मठ के ब्रम्हचारी शिष्यों के अन्तर में स्वामी जी, संन्यास जीवन के त्यागपूत महिमा का सर्वदा कीर्त्तन करते। जीव सेवा का मूल तत्व भी उनके अंतर में प्रवेश करा देते। उनकी तेजीद्दीप्त वाणी से तरुण शिष्यों के मध्य त्याग और आत्मविश्वास की अग्नि शिखा प्रज्वलित हो उठती।

वे स्वामी विवेकानन्द की अभय वाणी का श्रवण करते, -'अरे भय न करो। संसार का इतिहास कितने आत्मशक्ति के प्रति विश्वासवान लोगों का ही इतिहास है। प्रकृति विश्वास ही अन्तर के दैवीशक्ति को जाग्रत कर डालता है। याद रखना मात्र कुक्षेक शक्तिमान लोग संसार को हिला देने की शक्ति रखते हैं।"

स्वामी जी की दृष्टि में उनके गुरु का नामांकित मठ एवं मिशन, जीव सेवा एवं ईश्वरोपलब्धि के लिए पवित्र भूमि थी। इसके स्वातंत्र्य वैशिष्ठ्य एवं गौरव को वे किसी तरह भी कम करने को तैयार नहीं थे। इस विषय में एक दिन उन्होंने उत्तेजित स्वर में अपने मत की घोषणा की थी—"देखो, मठ के कार्य पद्धति में गृहस्थों की कोई कार्य पद्धति नहीं चलेगी। संन्यासी गण भी पैसे वाले लोगों से व्यक्तिगत संपर्क नहीं रखेंगे। उनका कार्यक्षेत्र गरीबों के ही साथ है। वे गरीबों की ही देखरेख करेंगे, उनसे प्रेम करेंगे तथा उनकी यथासाध्य सेवा करेंगे। इस देश के अधिकांश मठ एवं संन्यासी संप्रदायो ने बड़े लोगों का दासत्व स्वीकार कर लिया है। वे उनकी दया के ऊपर निर्भर करते हैं। इसी कारण तो उनका पतन हुआ है। वास्तविक संन्यासी उनके पास भी नहीं फटकेगा। जो काम—कांचन के दास हैं, वे किस तरह काम—कांचन त्यागी के प्रकृत शिष्य होंगे वा प्रकृत बंधु हो सकेंगे ?"

तरुण ब्रम्हचारियों की संन्यास निष्ठा के प्रति विवेकानन्द की सदा जाग्रत दृष्टि रहती, तथा शासन अत्यन्त कठोर था। वे कहा करते, "एक बात कभी न भूलना। जब तुम देखना कि संन्यास—आदर्श का पालन करने में तुम सक्षम नहीं हो रहे हो, तथा इस कठोर जीवन के लिए तुम अनुपयुक्त हो, तो उससे अच्छा है तुम गार्हस्थ्य जीवन में वापस चले जाओ। परन्तु संन्यास आश्रम को कलुषित करना अनुचित है। प्रातः उठ कर, ध्यान जप करोगे तथा तपस्या में

समय लगाओगे। स्वास्थ्य एवं समय से खाने-पीने पर भी अपनी दृष्टि रखोगे। तथा बातचीत भी केवल धर्म के ही संबन्ध में करोगे। साधन काल में समाचार पत्र पढ़ना अथवा गृहस्थों के साथ मेल जोल रखना भी समीचीन नहीं है।"

साधनार्थी, तरुण ब्रह्मचारियों के लिए ऐसे कठोर विधि-नियमों का प्रवर्तन वे उस समय कर गये थे।

काश्मीर तीर्थ दर्शन से वापस आने पर एक बार स्वामी जी ने देखा कि एक तरुण ब्रह्मचारी, माँ सारदामणि के आश्रम के काम काज की देख भाल कर रहा है। ब्रह्मचारी सत् एवं शुद्ध आचरण का था, परन्तु स्वामी जी किसी की बात को मानने वाले व्यक्ति नहीं थे। तुरत गरजते हुए वे तिरस्कार करने लगे। श्री माँ के आश्रम में नारी भक्त गण का निवास था, तथा श्री माँ के दर्शन हेतु वहाँ महिलाओ का समागम भी था। ब्रह्मचारी भक्तों के लिए इस नारी सान्निध्य को स्वामी जी क्षतिकारक मानते थे। ऐसा था, तरुण साधकों के प्रति उनका ब्रह्मचर्य का नैष्ठिक विधान। इस भर्त्सना के उपरान्त, शीघ्र ही माँ के आश्रम के कार्य में एक अधिक वयस के संन्यासी की नियुक्ति हुई।

'शिवबोध से जीव की सेवा' में मठ के कार्यकर्ताओं को विवेकानन्द सदा अनुप्राणित करते रहते। भावपूर्ण उदात्त कण्ठ से वे कहा करते,—"सर्वजीवों की समष्टि ही तो भगवान है। एक मात्र, उसी भगवान में मैं विश्वास करता हूँ। समग्र जाति में जो दुर्वृत्त, दरिद्र एवं निपीड़ित हैं, वे ही तो हमारे भगवान हैं। इन्हीं भगवान के लिए मैं बार-बार जन्म ग्रहण करना चाहूँगा। इसके लिए जन्म-जन्म तक दुःख पाने पर भी मुझे खेद नहीं होगा।"

युग युगान्तर से इस देश की नरम माटी पर भावुक एवं कोमल मनुष्यों ने जन्म ग्रहण किया हैं। कठोर संयम, निष्ठा एवं शक्ति के अभाव में अनेक महती चेष्टाएँ विफल हो गयी हैं। इसीलिए, नवीन संन्यासियों को संबोधित करते हुए स्वामी जी अपनी सतर्क वाणी का बार-बार उच्चारण कर गये हैं।

विवेकानन्द आजीवन एक स्वप्न देखते रहे और उस स्वप्न को पूर्ण करने के लिए उन्होंने जीवन का उत्सर्ग कर डाला। उनकी इच्छा थी, कि आत्मत्यागी, सर्वस्व-अर्पणकारी, शत-शत तरुण संन्यासी उनका अनुसरण करेंगे। भारत के आत्मिक उज्जीवन, तथा उनके सपनों के भारत के गठन में अपने प्राण निछावर कर देंगे। परन्तु उनका वह स्वप्न सफल नहीं हो सका ध्यानकल्पना रूपायित नहीं हो पायी। परन्तु विवेकानन्द का अभ्युदय क्या व्यर्थ हुआ है? ऐसा तो नहीं हुआ। उनकी विपुल अध्यात्मशक्ति एवं कर्म व्रत के माध्यम से भारतात्मा का उस दिन जागरण हो उठा था—धर्म एवं समाज में नवीनतर स्पन्दन का

अभ्युदय हुआ। इसके अलावा समाज के संस्कार एवं ध्वंस के स्थान पर सृष्टि-धर्मी दृष्टिकोण का उदय हुआ। सनातन अध्यात्म जीवन के स्रोत से प्राणशक्ति आहरण हेतु, जाति प्रवृत्त हो उठी। इस जागरण की परोक्ष रूप से छाप पड़ी बंगाल के अग्नि युग के मुक्ति संग्राम पर तथा तिलक एवं गाँधी जी के मुक्ति संग्राम पर। स्वामी विवेकानन्द के आन्दोलन के फलस्वरूप, भारत की अंतर्निहित एकता का बांध भी अनायास ही जातीय जीवन में भास्वर हो उठा।

श्री रामकृष्ण के विशिष्ठ श्रेष्ठ शिष्य, नाग महाशय, एक दिन बेलूड़ मठ में विवेकानन्द के दर्शन हेतु आये हुए हैं। नाग महाशय थे, भक्ति एवं दैन्य के मूर्त विग्रह। इन साधक के संबन्ध में स्वामी जी कहा करते, "देखो, सारी पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर आया, परन्तु नाग महाशय जैसा महापुरुष दृष्टिगोचर नहीं हुआ।"

विवेकानन्द और नाग महाशय की इस भेंट से स्वामी जी का अध्यात्म परिचय भक्त एवं दर्शनार्थी गण के सम्मुख उस दिन स्पष्ट तर हो उठा।

नाग महाशय, स्वामी जी की चरण वंदना हेतु साष्टांग जमीन पर लेट गये। "यह क्या किया, यह क्या किया"—कहते हुए स्वामी जी उठ कर खड़े हो गए। नाग महाशय हाथ जोड़ कर बोल उठे, 'मैंने जो दिव्य चक्षुओं से देखा है—आज साक्षात् ही शिव का दर्शन मिल गया। आपके दर्शन से मेरी भव क्षुधा बिलकुल समाप्त हो गयी है। जय ठाकुर रामकृष्ण।"

वेदान्त-पाठ निरत, ब्रह्मचारियों तथा संन्यासी गण को स्वामी जी ने बुलाया। उनकी एक मात्र अभिलाषा थी, कि मुक्तपुरुष नाग महाशय इन लोगों को ठाकुर की कुछ बातें बतायेंगे। परन्तु अहं बोध शून्य, साधु नाग महाशय से यह सब कहलाना अत्यन्त कठिन था। वे कह उठे, "मैं और क्या कहूँगा, मैं और क्या कहूँगा? मैं यहाँ पर मात्र देखने के लिए आया हूँ—ठाकुर की लीला के सहायक महावीर जी को जय रामकृष्ण!"

कुछ देर भावाविष्ट रहने के पश्चात्, नाग महाशय ने फिर कहा, "आपको कौन समझ पायगा? दिव्य दृष्टि न खुलने पर पहचानना संभव भी नहीं है। एक मात्र ठाकुर ने ही पहचाना था; और सभी, मात्र उनकी बातों का विश्वास भर करते हैं, किन्तु समझते नहीं।"

सिंह विक्रम भुवन विजयी योद्धा संन्यासी, क्षण भर में ही अपनी महिमा के उन्नत शिखर से नीचे उतर आये। चेहरे पर बालकों जैसी सरलता फूट पड़ी। विनय नम्र वचन से उन्होंने अपने पुराने गुरु भाई से कहा, "नाग महाशय, क्या कर रहा हूँ। कुछ समझ नहीं पाता, जब जिस तरफ झोंका आ जाता है, उसी तरह कार्य करता जाता हूँ इसका फल अच्छा होगा या बुरा—कुछ भी समझ नहीं पाता।

नाग महाशय ने कहा, 'याद नहीं है ? ठाकुर ने कहा जो था। चाबी, उन्होंने नहीं दी थी। इसीलिए समझने की शक्ति नहीं दे रहे हैं। समझते ही लीला समाप्त हो जायगी।"

गुरु के चरणों में समर्पित-प्राण नाग महाशय एक सिद्ध पुरुष थे। दैत्य एवं आत्मगोपनता के परदे में अवस्थित, इन महापुरुष को विवेकानन्द, अच्छी तरह पहचानते थे। इसीलिए अपने द्वारा आरंभ किए हुए कार्य हेतु, उन्होंने उनका आशीर्वाद मांग ही लिया।

१८९९ ई० के मध्यम भाग में स्वामी जी को एक बार और अमेरिका तथा योरोप जाना पड़ा। पाश्चात्य-विजय का वह पुराना उत्साह तथा उत्तेजना इस बार नहीं थी। इस बार केवल कर्म केन्द्रों की स्थापना एवं संगठन की ही बारी थी। पाश्चात्य के द्वार पर पिछली बार जिस आशा का पोषण कर वे आये थे, काफी दिनों से उस आशा का त्याग कर दिया था। प्राच्य एवं पाश्चात्य का प्रकृत स्वरुप आज उनके समक्ष उद्घाटित किया है। इसी का उल्लेख करते हुए, स्वामी जी ने एक दिन कहा था,—"पाश्चात्य की जीवन यात्रा एक अट्टाहास्य के सदृश्य है-परन्तु उसके अन्तर में छिपा हुआ है, मर्म भेदी रुदन। इसके विपरीत भारत के ऊपरी स्तर पर जितना ही अधिक विषाद एवं रुदन है —भीतर निर्विकार, एक परम चेतना एवं निरविच्छिन्न आनन्द !"

महान कर्म योगी विवेकानन्द के व्रत उद्यापन का समय मानो निकटतर होता आ रहा है। रामकृष्ण की प्रत्यंचा से मुक्त तीर क्या अब अपने गतिवेग के अंतिम चरण में पहुँच चुका है ? स्वामी जी की भक्त शिष्या मिस मैकलिअड को उनके द्वारा लिखे गये पत्र में, उनके तत्कालीन मानसिक स्थिति का कुछ-कुछ आभास मिलता है। उन्होंने लिखा था, "मैं अच्छी तरह हूँ। लड़ाई में हार जीत दोनों ही हुए, अब गठरी बांध कर उसी महान 'मुक्तिदाता' की प्रतिक्षा में बैठा हूँ। अब शिव पार कर मेरी नैया—हे शिव, मेरी तरी अब पार ले चलो प्रभु !.........जो भी हो, मैं तो इस समय पहले वाले उसी बालक के सिवा और कुछ भी नहीं हूं—जो बालक दक्षिणेश्वर की पंचवटी में श्री रामकृष्ण की अमृत-वाणी अवाक होकर सुनता था, और विभोर हो उठता था वही तो मेरा वास्तविक स्वभाव है ; कर्म और दूसरों का कल्याण, वह तो मेरा वाह्य रूप मात्र है। अब फिर उनकी पुकार सुन पा रहा हूँ, वही चिरपरिचित मधुर कण्ठ स्वर—जिसके स्मरण मात्र से मन नाच उठता है। —सभी बंधन टूट रहे है, मानव की

ममता भी समाप्त होती जा रही है, कर्म में भी अब कोई स्वाद नहीं रह गया है, जीवन का मोह कट चुका है—शेष है, उसके स्थान पर केवल मेरे प्रभु की आह्वान ध्वनि। आता हूँ, प्रभु, आता हूँ देखो वे कह रहे हैं, 'मृत्यु का सत्कार मृतों का दल ही करे, तू उस सब को छोड़ कर मेरे पीछे-पीछे चला आ।' आया, प्रभु आया!"

"हाँ इस बार मैं ठीक चला हूँ। सम्मुख, अनन्त शांतिमय निर्वाण सागर है! माया का लेश मात्र तरंग भंग और शांति में विघ्न नहीं डाल रहा है।.... वह शिक्षा दाता, गुरु नेता, आचार्य विवेकानन्द आज नहीं हैं। अवशेष मात्र है। पूर्व का वही बालक, प्रभु का चिर शिष्य, गुरु चरणाश्रित चिर भृत्य!.... इतने दिनों तक मेरे कर्मो में मान-यश का भाव उद्गत होता, प्रेम के भीतर पात्रापात्र के विचार का उदय होता, पवित्रता की पृष्ठभूमि में रहती फल-योग की सूक्ष्म आकांक्षा। मेरे नेतृत्व के भीतर प्रभुत्व की स्पृहा का भी उदय होता। अब वह सब अंतर्हित हो चुका है—में निर्लिप्त अंतर में डूबा चल रहा हूँ। आता हूँ माँ, , आता हूँ। तुम्हारी स्नेह कोमल गोद में बैठकर, तू जहाँ ले जाना चाह रही हो, उसी चिर नीरव,अरुप अज्ञात राज्य में। अभिनेता के भाव का पूर्णतया विसर्जन देकर, केवल मात्र द्रष्टा किंवा साक्षी के जैसे। खिसक जाने में आज मुझे और कोई द्विधा नहीं।"

विश्ववन्दित, पराक्रम शाली आचार्य की, योद्धा संन्यासी बीर विवेकानन्द का यह किस दुर्ज्ञेय पथ यात्रा की ओर संकेत है! रामकृष्ण की वह पहले जैसी 'चाबी' क्या पराशांति के तोरण द्वार को आज उन्मुक्त कर देना चाहती है?

स्वामी जी, स्वदेश, बेलूड़ मठ में वापस आ गये। कर्म मुखर जीवन की गति आज स्वर्गीय आनंद एवं चिर प्रशांति के द्वार पर आकर ठिठक कर खड़ी हो गयीं।

मठ के हंस, चौपाये, बकरी के बच्चे आज उनके खेल के साथी हैं। तथा कुत्ता 'बाघा' उनका विश्वस्त अनुचर है। यह तो मानो दिव्यसत्ता से मंडित एक मानव शिशु, अध्यात्म सिद्धि की परिपक्वता के फल स्वरूप पूर्ण एवं रसमधुर हो उठा है। ब्रह्मचारियों का दल एवं गुरुभ्रातागण उनके शरीर की स्वर्गीय आभा देख कर अवाक् देखते ही रह जाते हैं।

क्लांत शरीर में रोग का प्रकोप बढ़ता ही जा रहा है। अंत अब निकट प्राय है—तरंगों से भरी दुर्वार नदी अब महासागर में आत्मविलुप्ति के लिए अपेक्षमान है। स्वामी जी मानो अपनी परम सत्ता के साथ सीधा संपर्क कर चुके हैं, तथा प्रशांतहृदय से महामिलन की प्रतीक्षा में बैठें हुए है! सेवा रत भक्तों

की सहायता से पंजिका मांग कर उन्होंने एक विशिष्ठ दिन भी देख रखा है। अपराह्न में एक दिन वे धीरे-धीरे मठ के मैदान में टहल रहे हैं। सहसा वे रुक गये, गंभीर स्वर में उन्होंने अपने साथी भक्त को एक स्थान अंगुली से दिखाते हुए कहा, "तुम लोग यहीं मेरे शरीर का संस्कार करना।"

१९०२ ई० की ४ जुलाई। विवेकानन्द का प्रतीक्षित दिवस आ पहुँचा है। अब विदा का लग्न उपस्थित है। ध्यान मग्न महापुरुष, धीरे-धीरे महासमाधि में निमज्जित हो गये।

मनीषी रोम्या रोलां को उस दिन के इस महाप्रयाण में एक नूतन संभावना दृष्टिगोचर हुई थी, नवीन कल्याण का इंगित। अपनी विशिष्ठ भाषा में उन्होंने कहा था।

"विवेकानन्द के समक्ष जीवन एवं संग्राम एकार्थ वाचक ही था। उनके जीवन का समय भी अत्यन्त संक्षिप्त था। रामकृष्ण और उनके इन महान शिष्य की मृत्यु के मध्य मात्र सोलह वर्षों का ही व्यवधान था। किन्तु इस अल्प समय के व्यवधान में ही विवेकानन्द ने अग्निमय उद्दीपना प्रज्वलित कर डाली। उसके बाद चालीस वर्ष से भी कम वयस में इस महान योद्धा ने चिता शय्या ग्रहण की।

"परन्तु वह चिताग्नि आज भी बुझी नहीं है। प्राचीन काल के फिनिक्स पक्षी जैसे ही, उनकी चिताभस्म से भारत का विवेक नये सिरे से उदित हो रहा है—मानो यह किंवदन्ती का एक और इन्द्रजालमय पक्षी हो। इस विवेकमय में वाणी उद्‌गत हो रही है। भारत के शाश्वत, साधनमय जीवन तथा इसमें मानव की आशा एवं प्रत्यय निहित है। इसी वाणी की बात को भारत के प्राचीन ध्यानी एवं द्रष्टाओं का दल वैदिक युग से ममन करता आ रहा है। इसी वाणी का निहितार्थ आज भारतवासियों को उद्‌घाटित करना होगा, तथा अवशिष्ट मानव जाति में बिखेर देना होगा।"

●

शैवाचार्य अप्पर

बहुत पुराने जमाने की बात है। तमिलनाडु को तब तमिल देश कहते थे। इसी तमिलदेश के दक्षिण आर्काट जिला के एक छोटे से गाँव में आज से लगभग छः शताब्दी पहले एक विलक्षण शिशु ने जन्म दिया था। यही नन्हा-सा बालक बाद में जन्म लिया था जहाँ शैव-साधना की परम्परा चिर काल से विद्यमान थी। एक नैष्ठिक शिवभक्त के रूप में उस अंचल में अप्पर के पिता की यथेष्ट प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा थी।

भारत की अध्यात्म साधना एवं धर्म संस्कृति मय जीवन में दक्षिण भारत के शैव साधकों ने एक उज्वल अध्याय को जोड़ा था। कष्ट, त्याग, तितिक्षा, अनन्य इष्ट सेवा एवं कठोर योग साधना से युक्त शैवागम दर्शन को ज्ञान के प्रखर ऐश्वर्य से समन्वित कर उन्होंने जनजीवन को एक दिव्य आलोक प्रदान किया था। दिशाएँ उनकी कीर्त्ति एवं यश से सुरभित हो उठी थीं। इस धारा के ही धारक एवं वाहक थे महात्मा अप्पर के पूज्य पिता भी।

भाग्य के निर्मम एवं क्रूर आघात से अप्पर का किलकता बचपन कुंठित हो गया था। कुछ दिनों के बाद ही अपने इस नन्हें पुत्र के मोह-पाश को काट-कर माता एवं पिता दोनों ही इस लोक को छोड़ चुके थे। आश्रयहीन अप्पर का इस संसार में और कहीं कोई नहीं था। बस रह गई थी उनकी एक बालविधवा साध्वी बड़ी बहन। अब अप्पर का एक मात्र आश्रय थी दीदी की गोद। उस स्नेयमयी ने बड़े यत्न से उनका प्रतिपालन किया एवं उनके पढ़ने-लिखने की सुव्यवस्था की।

बाल्यकाल से ही इस बालक की असाधारण मेधा का परिचय प्राप्त होने लगा था। गाँव की पाठशाला में अप्पर पढ़ने जाने लगे। अल्पकाल में ही कठिन पाठों के शीघ्र ही अभ्यास करने की उनकी अपूर्व क्षमता से उनके सभी शिक्षक चमत्कृत हो उठते थे। भाई के इस कृतित्य को लक्ष्य कर दीदी के आनन्द की सीमा नहीं थी। वह उन्हें सदैव प्रोत्साहित करती रही।

प्रतिदिन पाठ समाप्त करते ही अप्पर दीदी की गोद में बैठकर उनसे प्राचीन पुराणों एवं शास्त्रों के मनोज्ञ उपाख्यानों एवं महात्माओं के जीवन की दिव्य, अलौकिक कथाएँ सुनते थे।

दीदी ने भक्तिसिद्ध शैवगुरु से दीक्षा ग्रहण की थी। छोटे भाई की देख-रेख एवं जागतिक कार्यों से अवकाश पा, अपने शेष समय को वह भगवान शिव की आराधना, ध्यान एवं जप में व्यतीत करती थी। दैनिक कार्यो से निवृत्त हो, शिव मंदिर के गर्भगृह में बैठकर वह निरासक्त साधिका सिद्धाचार्य माणिक्यवाचक के भक्तिपूर्ण तोत्रों की आवृत्ति करती थी। मन्दिर का कोना-कोना उन स्तोत्रों की सरस, मधुर, गंभीर अनुगूँज से भर उठता था। मन्दिर केचबूतरे पर क्रीड़ारत बालक अप्पर औचक ही एक अजाने आकर्षण से अभिभूत, पूजा की वेदी के समक्ष दीदी के भाव-प्रद्रीप्त, आनन्द से उमगते नेत्रों को निर्निमेष निहारा करते थे। शिवभक्ति के रस में डूबीदीदी का जीवन अप्पर को दिन-प्रतिदिन अपनी ओर सम्मोहित करता जा रहा था।

गाँव के पाठशाला की पढ़ाई शेष हो चुकी थी। अप्पर को अब किसी उच्चतर विद्याकेन्द्र में जाने की आवश्यकता थी। उस समय समस्त दक्षिण प्रदेश में काँची अपने विद्यागौरव के लिए सुविख्यात था। इस नगर से पल्लवराज महेन्द्र प्रथम को राजधानी तक यह उस समय भारतवर्ष का अन्यतम विद्याकेन्द्र था। सम्राट महेन्द्र जैन मतावलंबी थे। उनकी आस्था एवं अद्भुत उत्साह के कारण भारत के दिग्गज पंडित गण उनकी राजधानी में विद्यमान थे। इसी नगर में जैन शास्त्रविदों के एक प्रसिद्ध महाविद्यालय की स्थापना हुई थी। राज-सभा के प्रायः सारे शास्त्र-विचार, वाद-विवादों एवं तर्क-द्वन्दों की विवेचना यहाँ होती थी।

हिन्दू, बौद्ध, एवं जैन धर्मों के पंडित समवेत होकर अपने-अपने मतों की प्रधानता की स्थापना करते थे। अपने इन्हीं वैशिष्ट्यों के कारण काँची उसी समय सभी शास्त्रों के पृष्ठस्थान के रूप मान्य था।

काँची के इस गौरव एवं विद्या वैभव की कथा अप्पर ने गाँव की पाठ-शाला के पंडितों से ही सुन रखा था। सभी शास्त्रों में निष्णात होने की उच्चाकांक्षा ने उत्साही अप्पर को अधीर कर रखा था। श्रेष्ठ विद्यातीर्थ काँची में रह विद्याध्ययन के लिये अप्पर का किशोर मन चपल हो उठा था। श्रेष्ठ पंडितों का साहचर्य प्राप्त करने की अभिलाषा अप्पर को व्याकुल बना रही थी।

एक दिन बड़े प्यार से उन्होंने दीदी से कहा—"काँची में शिक्षा प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो उठा हूँ। वहाँ जाने एवं रहने की व्यवस्था कर दो

ना। विद्यार्जन के लिए जिस कष्ठ एवं त्याग की आवश्यकता है, मैं उससे विमुख नहीं होऊँगा। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि वहाँ रहकर सभी शास्त्रों का मर्मज्ञ हो मैं पुन: अपने देश लौट आऊँगा।"

स्नेह से विगलित हो दीदी ने कहा था–तुम्हारा यश और गौरव दिगंत में व्याप्त हो, तुम अपने वंश का मुख उज्वल करो-यही तो मेरी मोहक आशा है। इसी आशा एवं विश्वास ने तो मुझे अबतक जीवित रखा है। परन्तु काँची के विद्यापीठ में तुम्हें पढ़ा सकूँगी–यह क्या मेरे भाग्य में है ?" दीदी का स्वर करुण हो उठा था।

"ऐसा क्यों ? अप्पर ने पूछा था। दीदी ने कहा–सुना है कि काँची में सम्राट महेन्द्र का सम्प्रदाय ही अत्यन्त प्रबल है। जैन आचार्यो का ही वहाँ प्राधान्य है। न्याय शास्त्र के विचार विश्लेषण में ही सभी उलझे हुए हैं। ईश्वर का प्रश्न वहाँ गौण है। हमारे आराध्य शिव की कल्पना ही वहाँ अज्ञात है।"

यह तुम क्या कह रही हो दीदी-अप्पर ने अतीव आकुलता से पूछा था ? मैं स्वयं ठीक रहूँ, मेरा ध्यान एवं मेरी धारणा यदि सही है तो कोई मेरा अनिष्ट नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त एक सफलशास्त्रविद होने के लिये ईश्वरोन्मुखी एवं ईश्वर विमुखी दोनों ही शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ेगा। यह सुविधा काँचीके अतिरिक्त और कहाँ है ?"

"मैं कहती हूँ तू चिदम्बरम् चला जा। वहाँ शिवमन्दिरों में शैवागम दर्शन के प्रकांड पंडित एवं सिद्ध शैव महापुरुष रहते हैं" –दीदी ने कहा।

परन्तु दीदी वहाँ जाकर तो एक ही सम्प्रदायक की एक ही विद्याचर्चा करनी पड़ेगी। मेरी मनोराज्य के दस दिशाओं की दस खिड़कियाँ तो बन्द ही रहेंगी। दर्शन और साधना के बहुमुखी तत्वों को मैं अंगीकार नहीं कर सकूँगा। मुझे काँची जाना ही पड़ेगा। तुम रोको मत दीदी !"

छोटे भाई के इस दृढ संकल्प को दीदी ने तोड़ा नहीं। कुछ दिनों के पश्चात ही अप्पर ने काँची के लिए प्रस्थान किया।

काँची के प्रधान विद्यापीठ में जैन अध्यापकों का प्राधान्य था। वहाँ भारत के श्रेष्ठ जैन दार्शनिकों एवं शास्त्रविदों को आमंत्रित किया जाता था। इस विद्यापीठ में प्रविष्ट हो तरुण अप्पर ने सुविख्यात आचार्यों के चरणों में बैठकर अपने अध्ययन की साधना एवं तपस्या प्रारम्भ की।

ज्ञानपीठ में नवप्रविष्ट इस छात्र के ज्ञान की स्पृहा जितनी ही प्रबल थी, उतनी ही असाधारण थी उसकी अप्रितम मेधा। अल्पकाल में ही अप्पर बहु शास्त्रत्तविद् बन गये थे। विशेषत : जैन शास्त्र की अनुश्रुतियों एवं आगमों पर उनका असामान्य अधिकार था। विचार एवं तर्क के क्षेत्र में यह युवा आचार्य शीघ्र ही सुपरचित हो उठा था। सुप्रसिद्ध शास्त्र एवं दर्शन के

आधिकारिक विद्वान के रूप में उनकी प्रसिद्धि होने लगी थी। जैन धर्म नेताओं एवं साधकों ने एक विराट संभावना को देखा था इस तरुण साधक में।

अप्पर की यह असाधारण प्रतिभा सम्राट महेन्द्र से छिपी नहीं रही। बाद में उन्होंने राजगुरु से भी जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की। राजपंडितों ने स्पष्टतः भाँप लिया था कि यह मेधावी तरुण ही कालान्तर में जैन धर्म के आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करेगा।

बीच-बीच में अवकाश प्राप्त कर अप्पर काँची से अपने गाँव लौट आया करते थे। वहाँ दीदी के ममत्वपूर्ण सानिध्य में आनन्दमय दिन व्यतीत करते थे। अप्पर अब विद्या के उच्चासन पर अधिष्ठित थे। न्याय के गुढ़ तर्क दर्शन के सूक्ष्म विचार-विश्लेषण विशेषतः जैन धर्म के तत्तवानुसंधान में उनका अधिकांश समय कटता था।

दीदी की सतर्क, तीक्ष्ण दृष्टि भाई के इस नव परिवर्त्तित रूपपर पड़ी। विद्या के तीक्ष्ण अहंकार को उन्होंने अप्पर के मन में जगते देखा। जैन पंडितों के प्रभाव से उनकी आस्तिकता भी तिरोहित होती जा रही थी।

दीदी ने रोष से भर कर कहा—"काँची जाकर तुम दिग्गज पंडित बन गये हो, यह तो अच्छी बात है। परन्तु जो पांडित्य ईश्वर,दर्शन के पथ में व्यवधान उपस्थित करता है, उसका मूल्य तो कानी कौड़ी भी नहीं-यह क्या तुम्हें ज्ञात नहीं ?" दीदी का रोष अप्पर को दूर तक बेध गया था। उन्होंने दीदी के रोष का कारण पूछा।

दीदी ने कहा—"तुम्हारे भीतर ज्ञान का प्रचंड गर्व जाग्रत हो उठा है। जैन पंडितों के शुष्क तर्कवाद से प्रभावित हो तुम जैनमताबलम्वी हो गये हो। और सब से दुःखद बात तो यह कि अब तुम ईश्वर विमुख और नास्तिक हो गये हो। हमारे पूर्वज उच्च कोटि के शैव-साधक थे। उनके पथ से आज तुम विमुख हो गये हो। इसका परिणाम क्या कभी सुखद हो सकता है ? दीदी की आँखें मान से भीग उठी थी।

कुछ दिनों के बाद ही अप्पर मारात्मक शूल की व्यथा से पीड़ित हो शय्याशायी हो उठे। कुशल चिकित्सकों के अनेकों उपक्रम से भी रोग का निदान ढूँढ़ा नहीं जा रहा था। शूल की तीव्र वेदना से मुमूर्ष अप्पर को बचाना असाध्य लग रहा था। इसी समय दीदी का गुरु का आगमन होता है। सिद्ध शैव साधक के रूप में सम्पूर्ण अंचल में उनका यथेष्ट समादार था। उनके योग की विभूति एवं महिमा से सभी परिचित थे। उनके आगमन से सभी प्रफुल्लित हो उठे। रोगी की मरणासन्न अवस्था का परिचय उन्हें दिया गया।

धीर, प्रशान्त स्वर से सबों को आश्वस्त करते हुए गुरु ने कहा—"रोगी के स्वस्थ होने का एक ही उपाय है। उसे देवाधिदेव शिव से अपने प्राणों की भिक्षा माँगनी पड़ेगी। शिव तुम्हारे इष्टदेव हैं। उनसे विमुख होने से ही तो इन विपत्तियों की सृष्टि हुई है। तुम्हारे पूर्वजों ने इस प्रतिष्ठित शिव-मंदिर में जाग्रत शिवलिंग की स्थापना की है। अप्पर को आज उनके समक्ष आत्मसमर्पण करना होगा।

अपने आशीर्वचनों से सबों को सिक्त करते हुए उस महापुरुष ने वहाँ से प्रस्थान किया। दीदी के मन में अब कोई दुश्चिन्ता नहीं थी। गुरु की वाणी निष्फल नहीं होगी, महाप्रभु शिव के कृपा उसके भाई की प्राण-रक्षा करेगी।

स्नेहसिक्त स्वरों में दीदी ने भाई से कहा जैन साधु, पंडितों से प्रभावित हो तुम अपने इष्टदेव को ही विस्मृत कर बैठे थे। इस घोर अपराध के कारण ही तो आज तुम्हें यह कष्ट है। हम सब तुम्हें उठाकर शिवमंदिर में ले जा रहे हैं। वहाँ शिव के चरणों में बैठकर, उनकी स्तुति कर शिव को प्रसन्न कर। शारीरिक एवं जागतिक कष्टों से तुम्हें निश्चय ही मुक्ति मिलेगी। गुरु ने इसे विशेष रूप से कहा है। उस वाक्सिद्ध महात्मा के वचन कभी निष्फल नहीं होंगे।

प्रचण्ड, भीषण शूल की वेदना से अप्पर मृतप्राय थे। ईश्वर की कृपा ही उनका अभिष्ट था।

गंभीर रात धीरे-धीरे गहराती जा रही थी। चारो ओर बिखरा था गहरा घना अंधकार। मंदिर के भीतरी प्रकोष्ठ में प्रदीप्त प्रदीप के क्षीण आलोक में अप्पर सो रहे थे। स्फुट स्वरों में शिव नाम जप रहे थे। अचानक अप्पर ने देखा एक अलौकिक, स्वर्गीय ज्योति की दिप्ति से मंदिर का समस्त गर्भ गृह आलोकित हो उठा था। उस प्रकार के साथ ही देवी भगवती का शीतल अमृत स्वर सुनाई पड़ा-"वत्स अप्पर ! मैं तुम से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। सारे रोग विकारों से मुक्त हो तुमने नव-जन्म प्राप्त किया है। तुममे नवीन ईश्वरीय चेतना का आविर्भाव हुआ है।

विस्मय विस्फारित नेत्रों से अप्पर ने उस अलौकिक दृश्य को देखा। देवी के शीतल स्वर के साथ ही अप्पर की मर्मान्तक वेदना तिरोहित हो चुकी थी, एक नूतन चेतना के ज्वार का अतिरेक उन्हें अभिभूत कर गया था। सुसुप्तिमय रात्रि के निःशेष होते ही एक स्वर्णिम प्रभात में अप्पर का नव जागरण हुआ था।

दिव्य आनन्द के अलौकिक रस से उत्फुल्ल अप्पर शिववेदी के पास भावाविष्ट हो शिवमहिमा का गान करने लगे। फिर एक गुरु, गंभीर देववाणी से अप्पर चमत्कृत हो उठें —वत्स ! तुम्हारे स्तोत्रों की निर्मलता ने मुझे अतीव

प्रसन्नता दी है। आज से शिवभक्त तुम्हें तिरुनावक के नाम से जानेंगे। ईश्वर के आशीषपुत्र, वाक्पति के रूप में इस समस्त अंचल में तुम्हारी प्रसिद्धि रहेगी। युक्त-पाणि, कातर अप्पर ने निवेदन किया—"प्रभु ! तुम्हारे सेवक के रूप में इस जीवन का उत्सर्ग कर दूँ, तुम्हारे चरणों में इस काया, इस मन-प्राण को उत्सर्जित कर दूँ, तुम्हारी महिमा का ध्यान ही मेरा एकमात्र व्रत हो।"

मन्दिर की वह स्वर्गीय ज्योति धारा अन्तर्हित हो उठी थी। दिव्य उत्साह के अतिरेक से भर अप्पर ने मन्दिर के कक्षसे बाहर आकर देखा-दीदी भावाकुल हो बड़े वेग से दौड़ती आ रही है। अश्रुपूरित उनके दोनों नयन छल-छल कर रहे थे मुख पर अपार तृप्ति की हास्य-रेखा कौंध रही थी। भाई ने पुनर्जीवन प्राप्त किया है, अपने धर्म की ओर उन्मुख हो उठा है, प्रभु की अनन्य कृपा से कृतार्थ हो चुका है-यह सोचकर ही दीदी का मन कृतज्ञता से भर उठा था।

शिव के प्रत्यादेश की कथा अप्पर के मुख से सुनकर दीदी व्यथित हो उठती थी। व्यग्र हो उसने कहा—"अब और बिलम्ब मत करो भाई। अपने कुलगुरु सिद्ध शैवाचार्य से तुम्हें दिक्षा लेनी होगी। शिव ने इसीलिए यह कृपा की है तुम पर। शिव की साधना ही तुम्हारी सिद्धि हो-बस यही मेरी कामना है।

गुरु से दीक्षित होने के पश्चात् अप्पर ने अपनी कठोर साधना प्रारम्भ की। इष्टदेव शिव के ध्यान-जप में निरन्तर रत अप्पर के दिन और रात कैसे कट जाते थे कहा नहीं जा सकता। गुरु द्वारा निर्देशित पथ पर अपूर्व निष्ठा से भर, निगूढ़ साधना के एक-एक परतों को भेदते हुए नवीन प्रेरणा और नूतन शक्ति से अप्पर उद्बुद्ध हो उठे थे।

गुरु ने एक दिन कृपायुक्त स्वरों से कहा—"वत्स ! साधना की जिस कठोरता का वरण तुमने किया है—उससे मैं आह्लादित हूँ। गंभीर शास्त्रज्ञानके साथ तुम्हारी साधना संयुक्त होकर असाधारण शिव भक्ति की दिव्य अनुभूति बन गई है। ईश्वर ने तुम्हारे द्वारा जनकल्याण करना चाहा है। मेरी इच्छा है कि सिद्ध महात्मा माणिक्यवाचक की साधना एवं शिवभक्ति के प्रचार में तुम सहयोग करो। उनकी स्तुति-गाथाओं के साथ तुम अपने जीवन को एकाकार कर लो। इसके परिणाम से तुम्हारे कर्मो एवं तुम्हारी साधना का सहज ही उद्यापन हो जायगा।

सिद्ध शैवयोगी मणिक्यवाचक का पवित्र जीवन, उनकी साधना एवं उनकी स्तुतियों ने दक्षिणदेश के हजारों-हजारों शैव संन्यासियों एवं गृहस्थ भक्तों को उद्दीप्त एवं आकृष्ट किया था। अपने गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर अप्पर ने माणिक्यवाचक का शिष्यत्व ग्रहण किया। उनकी शिक्षा एवं साधना के पथ को अंगीकार किया।

मदुराई के निकट बादबुर गाँव में एक शुद्धाचारी ब्राह्मण वंश में माणिक्य वाचक का आविर्भाव हुआ था। युवावस्था से ही उनकी असामान्य प्रतिभा का परिचय प्राप्त होने लगा था। सर्वशास्त्रविद एवं परम धार्मिक पंडित के रूप में वे प्रख्यात थे। उनके समकालीन पाण्ड्यराज महान धर्मप्राण एवं विद्वान थे। दूत भेजकर उस तरुण पंडित को उन्होंने आमंत्रित किया। कुछ दिनों में ही पाण्ड्यराय उनकी अद्वितीय विद्वता से अत्यन्त आकृष्ट हो उठे। माणिक्यवाचक से उन्होंने साग्रह कहा—"तरुणावस्था में ही तुमने इतनी विद्वता अर्जित कर ली है। बादबुर ग्राम के उस छोटे-से चतुष्पाठी के संचालन के लिये तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है। तुम्हारे लिये उपयुक्त स्थान मेरी राजधानी है। तुम अपनी प्रतिभा का उपयोग राष्ट्र के कल्याणार्थ करो। मेरे राजकार्य में तुम मेरी सहायता करो। तुम्हें मैं अपने राज्य का मंत्री नियुक्ति करता हूँ।"

"महाराज! शास्त्रानुशीलन मेरा उपजीव्य है, सत्य का अनुसंधान ही मेरे जीवन का एकमात्र व्रत है। राजकर्मो में लगकर मुझे उस व्रत के पालन करने में वाधा होगी—माणिक्य वाचक ने विनयपूर्वक कहा था।"

"नहीं पंडित यह कार्य तुम्हारे सत्य के अनुसन्धान के पथ में बाधक नहीं होगा। मेरी राजधानी में प्रतिदिन अनेकों प्रख्यात शास्त्रविद्, अनेकों सिद्ध-साधक गण आते हैं। उनके सानिध्य को पाकर तुम उपकृत ही रहोगे। मेरा प्रशासन तुम्हारे सरीखे कर्मनिष्ठ, शुद्धाचारी एवं विज्ञ सचिव की सहायता से लाभान्वित होगा। लाखों लाख व्यक्तियों के हितार्थ तुम्हें यह कार्य-भार ग्रहण करना ही होगा।

पाण्ड्यराज सत्यप्रिय, गुणग्राही एवं परम धार्मिक थे। प्रजा के हित की रक्षा के लिये सदैव तत्पर रहते थे। पाण्ड्यराज के इस अनुरोध को टालना सहज नहीं था। माणिक्य राज ने मंत्रिपद को स्वीकार कर लिया।

प्रशासन के दायित्वपूर्ण कार्यो को सम्पन्न कर शेष समय को वे शास्त्र चर्चा, संत समागम एवं साधन-भजन में व्यतीत करते थे।

तत्त्वज्ञान एवं परममोक्ष की प्रवल तृष्णा उनके मन में सदैव प्रज्वलित रहती थी। कभी-कभी यह तृष्णा प्रवलतर हो उन्हें उद्विग्न, उन्मन बना देती थी। राजधानी में रहने से उन्हें प्रकांड विद्वानों, शास्त्राचार्यों एवं साधकों का सामीप्य प्राप्त था। इससे शास्त्रों के अनुशीलन एवं मनन का पर्याप्त सुयोग था। परंतु इस अनुशीलन, साधन-भजन का चरम लक्ष्य तो उस परब्रह्म का साक्षात्कार है। वह साक्षात्कार कहाँ हो सका? उसके दर्शन की प्रत्यक्ष

अनुभूति आज तक नहीं हो सकी। फिर यह जीवन तो व्यर्थ और निष्फल है। समर्थ सद्‌गुरु की कृपा के अभाव में तो अपने इष्टदेव का साक्षात्कार असंभव है। किंतु वह सद्‌गुरु कौन है ? कहाँ है ? उसकी अनन्तकृपावृष्टि कब होगी ? माणिक्यवाचक का हर पल, हर क्षण चिन्ता से व्याकुल था।

एक दिन पाण्ड्यराज ने माणिक्य वाचक को एकान्त में बुलाकर कहा—"देखिये, हमारे प्रतिवेशी राज्य का रुख मुझे अच्छा नहीं लगता। राज्य और प्रजा को निरापद रखने की व्यवस्था करनी पड़ेगी, अश्वारोही सैनिकों के संगठन को सुदृढ करना पड़ेगा। इसके लिये प्रथम श्रेणी के अश्वों का संग्रह करना पड़ेगा। उत्कृष्ट अश्वों को क्रय करने के लिये राज्य-कोषागार से आवश्यक धन लेकर आप तिरुप्पेरुन्दराई चले जाइये।

पर्याप्त धन एवं उपयुक्त सामग्रियों के साथ माणिक्यवाचक ने प्रस्थान किया। किन्तु नियति की विडम्बना ही कुछ और थी। तिरुप्पेरुन्दराई तो वे पहुँच गये। परन्तु उनके जीवन में परिवर्त्तन की सूचना के आसार प्रकट होने लगे थे। जिस सद्‌गुरु के लिये माणिक्यवाचक विकल थे, हठात उनसे भेंट हो गई। उनके गुरु थे एक सिद्ध शैवयोगी। उनकी असीम कृपा से तरुण साधक का अल्पकाल में ही रूपान्तरण हो चुका था। इष्टदेव के साक्षात्कार एवं दिव्य अनुभूति को प्राप्त कर उनका जीवन धन्य एवं कृतार्थ हो गया था।

माणिक्यवाचक के साथ कुछ दिन रहकर गुरु महाराज ने वहाँ से प्रस्थान करना चाहा। विदा के क्षण उन्होंने कहा—"वत्स ! मैंने ईश्वर के आदेश को पूर्ण किया है। अब मुझे सन्यास लेना है। पुनः विशेष प्रयोजन से तुम्हारा साथ होगा। तुम्हारे लिये मेरा एक ही निर्देश है। यह स्थान अत्यन्त पवित्र एवं जाग्रत है। प्रस्थान काल में तुम एक शिव मन्दिर की स्थापना करो। अनेकों शिवभक्त इस क्षेत्र के आस-पास ही रहते हैं। यह नव स्थापित मन्दिर उन सबों का साधन केन्द्र बन जायगा। अनेकों नर-नारी इसके फल से उपकृत रहेंगे। एक बात और—अभी से ही तुम शिव-स्तुतियों की रचना का व्रत धारण करो। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा यह शिवस्तोत्रमाला अनन्तकाल तक अगणित मनुष्यों को प्रेरित करता रहेगा, मोक्षपथ का पाथेय बना रहेगा।"

गुरु के निर्देश का पालन माणिक्य वाचक ने अविलम्ब किया। राजा के अश्वों के क्रय करने के लिये जो पैसे थे, उससे मन्दिर का निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ। मन्दिर को स्थापित कर वे पाण्ड्यराज के पास उपस्थित हुए। अत्यन्त सरल भाव से अपनी अपराध कथा को उन्होंने निवेदित किया—"महाराज आपकी अनुमति लिये बिना ही

मैंने आपके रुपयों का व्यय कर दिया है। मेरे इस अक्षम्य अपराध के लिये मुझे समुचित दंड दीजिये।"

पाण्डयराज अतिशय क्रोध से थर-थर कर रहे थे। माणिक्य वाचक को मन्त्रिपद से विरमित कर कारागार में भेज दिया गया था। निर्धारित तिथि पर माणिक्य वाचक के अपराध पर विमर्श करने के लिये बन्दी माणिक्य वाचक को सभा में लाया गया। घटना को आद्योपांत सुनने पर राजा का क्रोध कुछ कम हुआ था। राजा ने कहा—"माणिक्य वाचक! राजमंत्री होकर तुमने जिस गुरु अपराध को किया है उसकी सजा प्राणदंड ही है। परन्तु मैं तुम्हें प्राणदंड नहीं दूँगा। तुमने भावावेग में स्वाभाविक विचार बुद्धि का परित्याग किया है। राजकोष के धन का दुरुपयोग कर तुमने शिव मन्दिर का निर्माण किया है। परन्तु यह कार्य तुमने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये नहीं किया है। एक बात और मन्त्री के रूप में तुमने मेरे राज्य के कल्याणार्थ अनेकों कार्य किये हैं। एक महान शिवसाधक के रूप में तुम्हें हमलोगों ने पर्याप्त आदर दिया है। इन सारी बातों को स्मरण रखते हुए मैं तुम्हें प्राणदण्ड नहीं दूँगा। कारागार में बन्दी रहने से तुम्हारी सजा कम हो गई है। परन्तु तुमने राज्य के धन का स्वेच्छा से दुरुपयोग किया है। इस अपराध के कारण तुम्हारी अर्जित सम्पत्ति को राजकोष में दे दिया जायगा। अब तुम मुक्त हो। स्वेच्छा से कहीं जा सकते हो।"

पाण्ड्यराज के आदेश को सुनकर माणिक्य वाचक के आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। युक्तपाणि हो उन्होंने कहा—"महाराज! इसी मुक्ति की चाह में भटक रहा था। मेरी समस्त धन सम्पति को राज-कोष में देकर आपने मुझे सांसारिक विषय बन्धनों से मुक्त कर दिया है। अब उन्मुक्त होकर मैं अपने इष्टदेव शिव का स्तुतिगान करते हुए देश के प्रमुख मंदिरों का भ्रमण करूँगा।"

माणिक्यवाचक ने भावाविष्ट हो जिस अपरूप स्तवमाला की रचना की, उसकी गणना भक्तों एवं अध्यात्म रस के रसिकों ने मणि-माणिक्य की तरह की। जन साधारण में उसकी व्याख्या माणिक्यवाचक के रूप में की गई—माणिक्यवाचक अर्थात उनके वाक्य माणिक्य की तरह द्युतिवान एवं मूल्यवान है।

शैवसाधकों के अन्यतम तीर्थ चिदम्बरम् में माणिक्यवाचक ने अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी। जनश्रुतियाँ हैं कि दिव्य भावावेश में शिव की स्तुति करते-करते ही यह सिद्ध महात्मा चिदम्बरम् में नटराज के विग्रह में लीन हो गये थे।

माणिक्यवाचक का जीवन दिव्य चेतना से उद्‌बुद्ध एवं शिवचैतन्यमय था। उनका अमर स्तोत्रग्रंथ तिरुवाचकम् अनुपम कीर्ति थी उस काल में। उच्चतम दार्शनिक तत्वों के साथ प्रेमभक्ति के मधुर रस से युक्त था यह स्तवमाला।

साधक के जीवन के जिस स्तर पर दिव्य अनुभूतियाँ फूट पड़ी थीं, जिस दिव्य चेतना के मव्य साधक ने चरम पर्याय—भगवान का साक्षात्कार किया था 'तिरू-वाचकम्' उसकी अपूर्व व्यंजना था। आज भी तमिल देश के शैव साधक एवं मुमुक्षु साधक इन स्तोत्रों में परम पथ का पाथेय प्राप्त करते हैं।

परम सिद्ध माणिक्यवाचक का यह आदर्श आचार्य अप्पर के जीवन का ध्रुवतारा था। तिरुवाचकम' के स्तोत्रों की प्रेरणा से वे उद्बुद्ध हो उठते थे। निगूढ़ चैतन्यमय जीवन के एक-एक परत उनके समक्ष उन्मोचित हो उठते थे। भावाविष्ट अप्पर के कंठ से शिव महात्म्य को प्रकाशित करने वाले स्तोत्र फूट पड़े थे। बाद में ये स्तोत्र जनप्रिय हो उठे।

इष्ट दर्शन एवं मोक्ष की आकांक्षा ने अप्पर को व्याकुल कर रखा था। नवीन साधन निर्देश को प्राप्त करने के लिये अप्पर ने गुरु महाराज के पास पुनः प्रस्थान किया। शिव साधना के कितने निगूढ़ तत्वों का उद्घाटन गुरु ने किया। प्रसन्न कंठ से आश्वस्त करते हुए उन्होंने कहा—'वत्स, साधना के इस क्रम को अब समाप्त करो। इसके साथ ही अपने स्वबोध को प्रोत्साहित करो। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि सदैव तुम्हें अपने आराध्यदेव का साक्षात्कार होता रहेगा। इष्ट की कृपा से तुम परममोक्ष को प्राप्त करोगे।

इस काल तक साधना की गंभीर कठोरता से अप्पर निमज्जित हो उठे थे। नित्य साधन-भजन को समाप्त कर बाकी समय मन ही मन स्वरचित स्तोत्रों का गान करते थे। सर्वत्यागी साधक अप्पर एक छोटे जीर्ण, भग्न झोपड़ी में रहते थे। उनके हाथों में रहती थी एक खुरपी। ग्राम के सीमान्त पर बने शिवमंदिर की स्वच्छता का ध्यान उनका नैत्यिक कर्म था।

महाशिव के एकान्त सेवक के रूप में अप्पर की प्रसिद्धि समस्त तमिलदेश में हो गई थी। शिव की शरणागति ही उनकी एकमात्र साधना थी। आत्म-अहंकार का निष्कासन ही उनका एकमात्र व्रत था। इष्टदेव शिव के साक्षात्कार से अप्पर का जीवन इस बार धन्य हो गया था। शिव ने उनकी साधना से प्रसन्न हो स्वेच्छा से वर माँगने का आग्रह किया।

त्यागव्रती, धीर अप्पर ने हाथ जोड़कर कहा प्रभु ! दास ने जिस सेवा के बल पर तुम्हारी दुर्लभ साक्षात्कार प्राप्त किया है वह चिरकाल तक बना रहे बस तुम्हारी इसी कृपा की आकांक्षा है। स्मितहास्य से शिव ने कहा तथास्तु।"

अप्पर के जीवन का एक नवीन अध्याय खुल गया था। दैन्यमय, त्यागव्रती अप्पर के चरणों में प्रतिदिन सैकड़ों नर-नारी समवेत रूप से उपस्थित होते थे। घर का आँगन शिव भक्तों के स्तुति गान की अनुगूँज से मुखरित हो उठता था।

काँची, मदुराई, चिदम्बरम् आदि सभी नगरों में अप्पर की ख्याति, कीर्त्ति और यश फैल गई थी।

अप्पर की इस ख्याति ने काँची के जैन साधकों एवं शास्त्राचार्यों की ईर्ष्या को जगा दिया था। अप्पर जैन सम्प्रदाय के एक प्रतिभाशाली आचार्य थे। उनके ऊपर उनकी अनन्त आशाएँ थी। जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिये अप्पर ने प्राण मन से प्रयास किया था। परन्तु जाने किस दुर्योग से दुर्बुद्धि के कारण शैव धर्म का नवीन अभ्युदय कर उन्होंने जैन धर्म को गौण बना दिया था।

राजपंडित गण पाण्ड्यराज के पास इस अभियोग को लेकर गये—"महाराज! जैन धर्म के विकास के लिये अप्पर ने महान त्याग किया है। इतना ही नहीं सरकारी विद्यापीठ में विद्याध्ययन कर उपकृत हुए हैं। परन्तु अब इन सबों को विस्मृत कर बैठे हैं। जैन धर्म का प्रचार न कर शैवधर्म का प्रचार किया है। उन्हें अविलम्ब दंडित किया जाय अन्यथा राजधर्म का अस्तित्व संकटमय हो जायगा।"

राजा क्रोध से जल उठा। उनके आदेशानुस,र जैन धर्म का परित्याग करने वाले इस नवीन आचार्य को शीघ्र ही राजसभा में उपस्थित किया गया। उन्हें समुचित दंड देने के लिए विचार किया जाने लगा।

अप्पर को राजा के निकट लाया गया, राजपंडितों के अभियोग पर उन्होंने धीर, प्रशान्त स्वर से कहा—"महाराज! मैं चिरकाल से सत्य का उपासक हूँ। मैंने जैन धर्म का ग्रहण अवश्य किया है, परन्तु प्रभु की करुणा के परम तत्व को मैंने हृदयंगम कर लिया है। भगवान शिव का साक्षात्कार ही मेरा सायुज्य है। इससे मेरा जीवन धन्य हो उठा है। मुझसे क्या अपराध हो गया है स्वयं नहीं समझ पा रहा हूँ।"

पाण्ड्यराज ने सरोष गर्जन करते हुए कहा—"जैनधर्म राजधर्म है। उस धर्म को अंगीकार कर तुमने उसका परित्याग किया है। इसका कठोर दंड तुम्ह ग्रहण करना पड़ेगा। तुमने राजकीय विद्यापीठ में अध्ययन किया है। राज्य का पर्याप्त धन तुम पर व्यय हुआ है।"

अप्पर ने दृढ़ता से कहा—"महाराज, आपने सत्य कहा है। परन्तु मैंने कोई अधर्माचरण नहीं किया है। सत्य ही धर्म का चरम लक्ष्य है। उस परम सत्य का अन्वेषण कर मैंने उसका वरण किया है। शैव धर्म की स्निग्ध छाया में, परमपुरुष शिव के आश्रम में मैंने सत्य को प्राप्त किया है। मेरा संपूर्ण जीवन धन्य हो उठा।"

"राजधर्म जैनधर्म असत्य है केवल शैव धर्म ही सत्य है—तुम यही कहना चाहते हो क्या?" क्रोध के ज्वार से अभिभूत हो राजा ने कहा

सभा में उपस्थित जैन पंडितों ने कोलाहल करना प्रारंभ किया–"महाराज, राजधर्म की अवज्ञा करने वाले इस दुष्ट को आप घोर दंड दें, अन्यथा इस राज्य का अमंगल होगा।

राजा ने घोर क्रोध से कहा—"आचार्य अप्पर, राज धर्म का परित्याग कर तुमने उसके विरुद्ध आपत्तिजनक बातें कहकर गुरुतर अपराध किया है। पंडित होकर तुमने ऐसा किया है, इससे तुम्हारे अपराध का गुरुत्व और बढ़ जाता है। मैं तुम्हें प्राणदंड देता हूँ।"

अप्पर को पहाड़ की चोटी से नीचे फेंककर वध करने का निर्देश दिया गया। नियत समय पर फौजदार ऐसा करने के लिए उपस्थित हुआ। जनता की अपार भीड़ इस लोमहर्षक दृश्य के अवलोकन के लिए उमड़ पड़ी थी। परन्तु यह क्या? अपूर्व विस्मय से भर लोगों ने देखा पहाड़ की चोटी से फेंके जाने पर अप्पर के प्राण बचे ही रहे। निचे गिरते समय अप्पर की देह एक वृक्ष के ऊपर गिर कर बच गई थी।

जनता अपार आनन्द से प्रफुल्लित हो उठी। आचार्य अप्पर के जयघोष से दिशाएँ झंकृत हो उठी। लोगों ने कहा "सिद्धपुरुष अप्पर शिव के एकान्त भक्त हैं। साक्षात शिव ने ही उनकी रक्षा की है।

राजपंडितों ने इस अलौकिक घटना का वर्णन राजा के समक्ष किया। पुनः यह प्रश्न उपस्थित था कि अप्पर को क्या फिर पहाड़ की चोटी से नीचे फेंक दिया जाय?

'इस प्रकार उसका प्राणवध करना उचित नहीं। हजारों की उत्तेजित भीड़ के समक्ष ऐसा करना ठीक नहीं। अप्पर को तुमलोग समुद्र तठ पर ले जाओ। उसके गले में एक भारी पत्थर बाध कर अतल जल में फेंक दो।

''राजा के आदेशानुसार इस कार्य को संपन्न कर लोग कांँची आगये। परन्तु यह क्या? सागर के गर्भ में जाकर भी अप्पर के प्राण गये नहीं। शिव की अलौकिक कृपा से उनके गले में बँधा वह भारी प्रस्तरखण्ड खिसक कर गिर गया था। उनकी संज्ञाशून्य देह तरंगों के आघात से तट पर आकर थम गई थी। मल्लाहों ने चेतना-शून्य अप्पर को उठाया। उनकी सेवा-सुश्रुषा की उष्णता से अप्पर की लुप्त चेतना लौट आई थी।

सहज होने पर अप्पर ने धीवरों से सारी कथा कही। फिर धीर पदों से राज प्रसाद के द्वार पर उपस्थित हुए। पल भर में यह अलौकिक घटना घर–आँगन की बात वन गई थी। अप्पर के पोंछे जनता की विराट भीड़ थी। लोगों ने जाकर राजा से कहा—"महाराज, शिव की असीम अनुकम्पा से पुनः अप्पर को नवजीवन प्राप्त हुआँ है। अप्पर सिद्ध पुरुष हैं, इस युग के प्रह्लाद

हैं। उन्हें मुक्त कर आप जन-मन को संतुष्ट करें।

प्राणदंड से अप्पर का अलौकिक भाव से उद्धार हुआ था। पाण्ड्यराज का मनोभाव नमित हो उठा था। अप्पर को उनके समक्ष लाया गया। अप्पर से उन्होंने प्रश्न किया—"लगता है किसी विराट शक्ति ने तुम्हारी रक्षा की है गोपन रहस्य को मुझे स्पष्ट करो।"

उद्धारक शिव की कृपा का स्मरण कर अप्पर भावाविष्ट हो गये। उनके दोनों नयन उन्मीलित थे, चेहरे पर दिव्य ज्योति बिखरी थी, कपोल पर आनन्दाश्रु छलक रहे थे। युक्तपाणि कप्पर ने स्वरचित श्लोकों द्वारा शिव की स्तुति की—

माला अनन्त कोटि अगणित ब्रह्माण्ड की,
पहने हुए हैं गले में हमारे प्रभु आदि देव,
सृष्टि और प्रलयों की लहरों की लीला मे,
कभी तो मंगलमय शिव रूप होते वे,
और कभी रुद्र रूप धारण कर,
करते है कामरूप अपने को वे अनेक।
ये जो हैं आदि से अतीत,
और अन्त से असीम अन्तहीन विभु,
कर लोगे उनको तुम धारण क्या ?
क्षुद्र मानवीय इस अन्तर के पट में ?
पाओगे कैसे उद्धार ?
ओ भयार्त्त, बोलो तो,
मृत्यु और ध्वंस के कठोर, क्रूर हाथों से ?
मूर्ख हैं हम भी औ तुम भी,
हमलोग सभी मूर्ख निरे,
तभी तो दंभ के खड़े हैं कर लिये ये,
अपने प्राचीर,
और कैद करना हैं चाहते, उन्हीं से घेर,
ज्योति त्रिनयन की।
चाहते हैं सत्य शिव सुन्दर को,
औरों से दूर कर अपना बना लेना !
तोड़ो प्राचीर ये, अपने अभिमान के,
आगे बढ़ो दैन्य के शिकंज को व्यर्थ कर,
तेरे निजस्व के साधन एकान्त,

प्रभु होंगे कैसे वे सबके शरण्य जो,
आश्रयदाता, अनन्त, जो हैं सभी जीवों के ?
अपने को कर दो विलीन, निःशेष कर,
सेवक ओ प्रभु के,
पूछो मत—'कि करोमि' ?
किंकर बने रहो।
प्रभु को करुणा सम्पति, तभी देखोगे।
देखोगे तभी आशुतोष प्रभु,
करते हैं वे आत्मसात,
अपने प्रिय दास को
और तभी देखोगे धारा पीयूष की,
कल्याणकारिणी, अहेतुकी,
उतरती है कैसे सब ओर से
जीवन के एक-एक स्तर को भिगोती हुई,
होकर सहस्र-धार

—'तेवरम्'

दिव्य भावावेश एवं प्राणों को बेधने वाली मधुर झंकार से पाण्ड्यराज विगलित हो उठे। अप्पर के चरणों में लोट-लोट कर पाण्ड्यराज ने उनकी कृपा एवं आश्रय की कामना की।

शैवाचार्य अप्पर से पाण्ड्यराज दीक्षित हुए। समस्त तमिलदेश की संस्कृति में शैव-साधना जड़ कर उसका मुख्य अंग बन गई। मदुराई, काँची, चिदम्बरम् सर्वत्र शैव संन्यासियों एवं आचार्यों की प्रमुखता रही।

नये शैव आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण करने के लिये अप्पर का सादर आह्वान किया गया। इस आह्वान का प्रत्याख्यान करते हुए अप्पर ने विनीत होकर कहा—"मैं तो शिव का दास हूं, शिव की परम कृपा का दीन भिखारी। अपने हाथों से शिव-लिंग की सेवा-पूजा करना एवं दिशाओं में उनकी महिमा का गान करना ही मेरे जीवन का व्रत है। शिव की चाकरी कर, शिव की कृपा को इस मर्त्यलोक में उतार दूं—बस यही मेरा इष्ट है।"

राजगुरु, लोकगुरु के रूप में समाहृत, शैव आन्दोलन के पूज्यनेता कितने दीन एवं विनीत थे। कमर में बँधा हुआ एक जीर्ण वस्त्र, हाथों में एक झोली और खुरपी। इसी वेश में अप्पर ने शैव तीर्थों एवं जनपदों का परिभ्रमण किया। उनके साथ चलती थी हाथों में कुदाली और खुरपी लेकर जनता की अपार भीड़।

शैव मंदिरों को स्वच्छ करते हुए भीड़ आगे बढ़ती रहती थी। रास्तों, घाटों एवं मन्दिरों के आँगन में इनके भजन एवं शिव स्तुतियाँ झंकृत होते रहते थे। त्याग, तितिक्षा एवं विनम्रता की प्रति-मूर्त्ति अप्पर जिस मन्दिर में उपस्थित होते असंख्य लोगों की भीड़ जम जाती थी। उनके द्वारा प्रचारित दासमार्गीय शैव साधना की जय जयकार होने लगी थी।

इसी प्रकार की एक पदयात्रा के क्रम में चिदम्बरम् के शैवपीठ में अप्पर का परिचय एक किशोर शैवसाधक ज्ञानसम्बन्धर के साथ हुआ। जनसाधारण में सम्बन्धर की यथेष्ट प्रसिद्धि थी। दोनों के अद्‌भुत मिलन से तमिलदेश में शैव आन्दोलन और सशक्त हो उठा। भक्त समाज एक नवीन चेतना से उद्‌बुद्ध हो उठा था।

मन्दिर के प्रांगन में उस दिन अप्पर खुरपी से घास-फूस एवं गंदगी हटा रहे थे। सैकड़ों अनुयायियों के मुख से शिव के महात्म्य का गायन हो रहा था।

इसी समय भक्तप्रवर सम्बन्धर वहाँ उपस्थित होते हैं। अप्पर को देखते ही भावाविष्ट हो सम्वन्धर उनके चरणों पर लोट कर अप्पर-अप्पर की आकुल पुकार कर उठे हैं।

प्रगाढ़ स्नेह से अप्पर ने सम्बन्धर को धरती से उठाकर अपने निविड़ आलिंगन में उन्हें बाँध लिया। दोनों विश्रुत शिवभक्तों के मिलन ने मन्दिर के चारो ओर आनन्द की तरंगों को प्रवाहित कर दिया था।

सिद्ध साधक किशोर सम्बन्धर पर शिव पार्वती की कृपावृष्टि बाल्यकाल में ही हुई थी। अलौकिक आत्म प्रकाश, ज्ञान और योग की विभूति से सम्बन्धर बाल्यकाल से ही दीपित हो उठा था। कहते हैं उस दिन बालक सम्बन्धर अपने पिता के साथ गाँव के शिवालय में घूमने गया था। स्नान, तर्पण समाप्त कर पिता पवित्र कुण्ड के जल में खड़े होकर मन्त्र-पाठ कर रहे थे और बालक सम्बन्धर तट पर दंडायमान था। औचक ही पिता ने देखा कि पुत्र दिव्यभाव से आविष्ट हो गया है, आखें रक्तिम हैं, देह थर-थर काँप रही है। गद्‌गद् हो बार-बार शिवमन्दिर के शीर्ष की ओर निर्देश कर कह रहा है—"यही मेरे पितामाता हैं।"

भयत्रस्त पिता ने शीघ्रता से बच्चे को गोद में उठा लिया। बालक कहीं डर तो नहीं गया, विषाक्त भोजत कहीं खाकर अनर्गल तो नही प्रलाप कर रहा है—पिता का मन सोच-सोचकर आकुल हो रहा था। बालक धीरे-धीरे स्थिर हो गया था। उसकी वाह्य चेतना लौट आई थी। उसने कहा—"कुण्ड के तट पर खड़े होकर उसने अद्‌भुत दृश्य देखा है। मन्दिर के शीर्ष पर अवस्थित ज्योतिर्मय मूर्त्ति से शिव-पार्वती आविर्भूत हो उठे है। माँ पार्वती हाथों में एक सुवर्ण पात्र को लेकर नीचे

पात्र को लेकर नीचे उतर रही है। अत्यन्त स्नेह से उस पात्र से लेकर कुछ बालक को पान करा रही हैं। वह अभी भी उसके मुख से गिर रहा है। शिव-पार्वती की मूर्ति क्षण भर में ही आकाश में विलीन हो गई थी। उस अहेतुक कृपाधारा की वृष्टि से बालक के भीतर दिव्यज्ञान स्फुरित हो उठा।

कुंड के तट पर इस घटना को देख असंख्य भक्तों एवं स्नानार्थियों की भीड़ उमड़ पड़ी। इस भीड़ को लक्षित कर वह बालक अपने स्वरचित अपरूप शिव-स्तुतियों की आवृत्ति करने लगा। दावानल की तरह इस कृपासिद्ध बालक की विस्मयपूर्ण कथा चतुर्दिक फैल उठी। शिव की कृपा से बाल्यकाल में ही उसे दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। इसी कारण भक्तों ने उसका नाम रखा ज्ञान सम्बन्धर। अर्थात् दिव्य ज्ञान से जो नित्य संबंधयुक्त है वही ज्ञान सम्बन्धर है।

सम्बन्धर ने जिस प्रकार अप्पर को पिता रूप में ग्रहण किया था उसी प्रकार अप्पर ने सम्बन्धर को पुत्ररूप एवं बन्धुरूप में स्वीकार किया था। इस प्रकार ये दोनों भक्तिसिद्ध शैव साधक एक निगूढ़ आत्मिक बन्धन में आबद्ध हो दक्षिण प्रदेश में शैवधर्म का एक साथ ही प्रचार करने लगे। देश के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में ये दोनों परिव्राजक एक साथ ही परिभ्रमण करते रह। सैकड़ों नर-नारी उनका अनुसरण कर रहे थे।

इष्टदेव शिव की उपासना अप्पर ने गुरु भाव से एवं सम्बन्धर ने पितृभाव से की थी। पृथक दृष्टिकोण से अपने इष्ट की आराधना करने पर भी एक ही साधना पथ के पथिक थे दोनों। त्याग, तितिक्षा और शरणागति ही उनके जीवन का लक्ष्य था। अप्पर और सम्बन्धर द्वारा विरचित शिव महिमा के सैकड़ों-सैकड़ों स्तोत्र आज भी तमिल देश के साधकों द्वारा मठों और मन्दिरों में गाये जाते हैं। भक्तों के हृदय में शिव भक्ति की धारा को प्रवाहित करते हैं ये स्तोत्र।

भक्तप्रवर सम्बन्धर को कुछ दिनों के लिये शैवधर्म के प्रचारार्थ अन्यत्र जाना था। महात्मा अप्पर ने स्वयं को निगूढ़ साधना में निमज्जित करते हुए एकान्तवास करना चाहा। तिरुप्पुगालूर का प्रसिद्ध मन्दिर और साधनपीठ उनके रास्ते में ही पड़ा। अप्पर वहीं ठहर गये।

सिद्ध पुरुष की विपुल प्रतिष्ठा उनके विरोधियों को सह्य नहीं थी। उन्हें हेय सिद्ध करने के लिये उन्होंने प्रपंच रचना चाहा। तिरुप्पुगालूर में अप्पर जब एकान्तवास कर रहे थे, तब इस षड्यंत्र के रचने का सुयोग उपस्थिय हुआ।

नीरव, गंभीर रात्रि में साधनारत अप्पर के पास उन विरोधियों ने अनेक श्रेष्ठ सुन्दरियों को भेजा, उन्हें प्रचुर धन एवं रत्न का प्रलोभन दिखाया। परन्तु उस महासिद्ध को प्रलुब्ध करना सहज नहीं था। उस वीतरागी की अलौकिक

शक्ति एवं प्रचंड तेज से अभिभूत हो ये सुन्दरी स्त्रियाँ लज्जित हो उनके पैरों पर गिर पड़ीं।

चक्रान्तकारी आदि अनेक विरोधी अनुतप्त हो अप्पर के समक्ष आत्मसमर्पण कर उठे। सभी उनकी अपार महिमा से परिचित हो उठे थे।

दक्षिण भारत में शैव साधकों एवं आचार्यों की अति प्राचीन परम्परा है। कहते हैं पहले महर्षि अगस्त्य इसी शैव साधना के प्रधान धारक एवं वाहक थे। तमिल देश के पुराणों में शिव और मुरुण (सुब्रह्मण्य या कार्तिकेय) की सिद्ध साधक अगस्त्य के सम्पर्क की अनेकों अलौकिक कहानियाँ प्रचलित हैं।

इसी परम्परा में ईसा की पहली सदी में पाण्ड्यराज की सभा में आचार्य नक्किड़ का नाम भी उल्लेखनीय है। इनके बहुत सारे सिद्धान्त आज भी महत्त्व पूर्ण माने जाते हैं। बाद के शतकों में अरण्यचारी राजा कन्नप एक सिद्ध शिव भक्त के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। कहते हैं कन्नप एक बार भावोद्वेलित हो शिव के चरणों में पुष्पों का अर्घ्य चढ़ा रहे थे। जैसे ही उन्होंने अपनी आँखों को खोलना चाहा, उसी समय शिव की वह ज्योतिर्मय मूर्त्ति उनके समक्ष आविर्भूत हो उठी। शिव से प्रचुर वरदान प्राप्त कर उन्होंने परम दिव्यलोक के दर्शन की शक्ति प्राप्त की।

पाँचवी सदी में तमिल देश में प्रख्यात शैव-योगी तिरूमूलार का आविर्भाव हुआ। इस सिद्ध महापुरुष के अलौकिक योग विभूति की अनेकानेक कहानियाँ प्रचलित हैं। जनश्रुति है कि दूसरे की काया में प्रविष्ट करने की उन्हें अद्‌भुत शक्ति प्राप्त थी। एक शुद्ध, सात्विक बच्चे की मृतदेह में योग बल से प्रविष्ट कर उन्होंने सहज, सरल भाषा में प्रायः तीन हजार शिव महात्म्य के श्लोकों की रचना की। तिरूमूलार की वाणी और उनके जीवन ने शिव तत्व एवं उसके दर्शन को देश-देश एवं दूर दिशाओं में विस्तारित किया।

परवर्ती युग में दक्षिणी शैव साधना एवं धार्मिक आन्दोलन को सुसम्बद्ध रूप से नियोजित करने का श्रेय चार प्रमुख आचार्यों को है। ये चार प्रधान शैवाचार्य हैं— माणिक्यवाचक, अप्पर (तिरुणावुक्करसु), ज्ञान सम्बन्धर एवं सुन्दमूर्ति। ज्ञान, चर्चा, क्रिया एवं योग–शैव साधना के इन चार सोपानों के द्वारा इन्होंने इस शैव भक्ति का प्रचार किया। सन्मार्ग, दासमार्ग, सत्पुत्र मार्ग एवं सहमार्ग को उन्होंने इस भक्ति की साधना का मार्ग बताया।

शैवाचार्य अप्पर दास मार्ग के विशिष्ट व्याख्याता थे। उनके अनुसार देवाधिदेव महादेव इस सृष्टि के प्रलय के नियन्ता हैं। जड़-चेतन सभी के वे प्रभु हैं। जीव उनके नित्य दास हैं। आत्माभिमान का परित्याग कर, दास्य भाव से

उनकी आराधना कर तन, मन, प्राण को उनमें समाहित कर ही उस चरम सायुज्य को प्राप्त किया जा सकता है।

आचार्य अप्पर का यह दासमार्गीय शिवभक्ति, तमिलदेश में ही नहीं, दक्षिण भारत के अन्यान्य अंचलों में भी द्रुत गति से प्रसारित हो उठा। पाण्ड्यराज महेन्द्र उनके अनुगत थे। काँची, मदुराई चिदम्बरम् अदि विद्याकेन्द्रों के शास्त्रविद् एवं विज्ञ पंडित महात्मा अप्पर के शैव आन्दोलन से विशेष प्रभावित थे।

इस भक्तिसिद्ध महापुरुष की कृपा लीला की अनेकों कहानियाँ शहरों जनपदों, जहाँ-तहाँ सैकड़ों भक्त गृहस्थों एवं साधु-सन्यासियों के मुख से सुनी जाती थी। मन्दिरों में, जनपथों पर उनकी रसस्निग्ध, मधुर शिव स्तुति की अनवरत गूँज सबों को आकृष्ट करती थी।

उस सिद्ध महापुरुष की जीवन लीला का शेष अध्याय अब सामने आ गया था। महात्मा अप्पर अपने परम आराध्य शिव के चरणों में लीन होने को उत्सुक हो उठे थे। उस प्रवीण सिद्ध पुरुष की स्तवगाथा बार-बार ध्वनि हो उठती थी—'प्रभु' इस बार इस सेवक पर अपनी कृपा करो। अपने ज्योति लोक में उसे समाहित कर लो। परम मुक्ति के महासागर में उसे निमज्जित कर लो।

इष्टदेव महेश्वर अप्पर की प्रार्थना से विगलित, द्रवित होकर उनके समक्ष आविर्भूत हुए। अप्पर की आरती एवं प्रार्थना से प्रसन्न हो शिव ने कहा:—'तथास्तु'! शिव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली थी।

एकासी वर्ष की अवस्था में सर्वप्रिय, श्रद्धेय, प्रवीण, महासिद्ध अप्पर ने पार्थिव शरीर का परित्याग कर अपने अभीप्सित गन्तव्य महाशिव लोक की ओर महाप्रयाण किया।

●

श्री ज्ञानदेव

श्री ज्ञानदेव को महाराष्ट्र के अन्यतम युग प्रवर्त्तक महापुरुष के रूप में भारत का जन समाज जानता-मानता है। ज्ञान और भक्ति के आदि समन्वयकारों और महाराष्ट्र के जातीय-जीवन की सांस्कृतिक और धार्मिक चेतना के उद्भावकों में वे अग्रगण्य हैं। इस ज्योति पुरुष के महात्म्य-शिखर से आध्यात्मिक साधना की जो अनाविल मन्दाकिनी प्रवाहित हुई, उसने केवल महाराष्ट्र के ही जन-जीवन को सिंचित और पुलकित नहीं किया, अपितु दक्षिण और उत्तर भारत के बीच आध्यात्मिक सजातीयता के स्निग्ध और उज्ज्वल प्राण-सेतु का युगान्तरकारी प्रतिष्ठापन भी कर दिया !

ईस्वी सन् की तेरहवीं सदी का मध्यभाग महाराष्ट्र के जातीय इतिहास का एक अनुपम अध्याय था। नाथपन्थी शैव-साधना को महाराष्ट्र की धरती पर प्रतिष्ठित करनेवाले प्रसिद्ध योगी श्री गहिनी नाथ का अभ्युदय इसके दशकों पहले हो चुका था वैष्णव भक्तों की साधना के केंद्र के रूप में पंढ़रपुर की प्रसिद्धि, बिठ्ठलदेव के जाग्रत विग्रह के पूजन–कीर्त्तन की तीर्थ यात्रा-मंडली के कारण, और भी पहले ही हो चली थी।

शैवों के योग-मार्ग और वैष्णवों के भक्ति पंथ को इसी संधि-बेला को अपनी लोक-सहज वाणी के ऐश्वर्य और माधुर्य के सहारे अक्षय और अनुपम बनाकर भारतव्यापी महिमा प्रदान की थी, संत-चूड़ामणि श्री ज्ञानदेव ने। उनकी सजल-जीवन-कथा की कारुण्य-ज्योति ढाई दशक के अल्प वयस में, आचार्य शंकर की ही तरह दिग्व्यापिनी हो चुकी थी। अलौकिक क्षमता, अपूर्व प्रतिभा, उज्ज्वल भावुकता, गहन पाण्डित्य और अन्तर भेदिनी दृष्टि के ऐश्वर्य से सम्पन्न व्यक्तित्व का जो दिव्य आमोद श्री ज्ञानदेव के रूप में महाराष्ट्र को प्राप्त हुआ, वह सचमुच अद्भुत था। 'ज्ञानेश्वरी', 'अनुभवामृत' और 'अभंग-पद'-संग्रह जैसी तीन रचनाओं के रूप में श्री ज्ञानदेव का जो यश शरीर भारत के जन-कण्ठ और जन-हृदय में अब तक रसा-बसा है, वह महाराष्ट्र की इस दिव्य विभूति को सहस्राब्दियों तक अविस्मरणीय बनाता रहेगा।

ज्ञानदेव महाराष्ट्र की वीर-प्रसविनी धरती को आध्यात्मिक जीवन की उर्वरता प्रदान करनेवाले प्रथम पावस-मेघ प्रमाणित हुए। उनके बाद आध्यात्मिक विभूति से संपन्न आचार्यों और कवियों की एक उज्ज्वल परंपरा मराठी साहित्य को रह-रह कर समृद्ध करती रही। नामदेव, एकनाथ और तुकाराम सरीखे तीन-तीन भक्त कवि कुछ ही बाद, उस परंपरा में, एक-के बाद-एक, पैदा हुए। शिवाजी सरीखे गौरव-पुरुष का निर्माण करने वाले आध्यात्मिक महापुरुष समर्थ स्वामी रामदास कुछ शताब्दियों के बाद उत्पन्न होने पर भी, श्री ज्ञानदेव द्वारा प्रवर्तित परंपरा की ही एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थे। समर्थ स्वामी रामदास के लगभग ढाई सदी बाद महाराष्ट्र ने एक और ज्योतिर्धर पुरुष को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया। महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी—लोकगुरु ब्रह्मर्षि विनोबा भावे के रूप में उन्हें भारत का बच्चा-बच्चा जानता-मानता है। किन्तु आध्यात्मिक सजातीयता की दृष्टि से वे भी सन्त ज्ञानदेव की ही परंपरा के भीतर आ जाते हैं। इसी से स्पष्ट है कि ज्ञानदेव के द्वारा महाराष्ट्र में जिस जातीय जीवन का बीज-वपन हुआ था, उसके आध्यात्मिक अंकुरों का निकलना सहस्राब्दियों तक जारी रह सकता है।

'पैठन' के पास, गोदावरी नदी के उत्तरी तट पर, एक बस्ती है। उस पुरानी बस्ती का नाम है 'आपे-गाँव'। इसी गाँव के प्रधान या कुलकर्णी हैं—श्री बिट्ठल पन्त। पन्त जी के घर की हालत अच्छी-भली है। संपत्ति की भी कमी नहीं और सामाजिक प्रतिष्ठा का तो कहना ही क्या? वृद्ध पिता सर्वमान्य पंडित हैं तो पुत्र हैं ग्राम-प्रधान—कुलकर्णी !

फिर भी बिट्ठल पन्त को सुखी नहीं कहा जा सकता। जवानी विदा होने पर है। किन्तु सन्तान का मुख देखना उन्हें नशीब नहीं हुआ। वे उदास रहा करते हैं। संसार में रस नहीं। सब-कुछ सूना-सूना-सा लगता है, उन्हें। उनके पिता वृद्ध हैं। मृत्यु के पहले पौत्र का मुख देखने की उनकी इच्छा की विफलता बिट्ठल पन्त को रह-रह कर कचोटती रहती है।

बिट्ठल पन्त की साध्वी धर्मपत्नी श्रीमती रुक्मिणी देवी अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान हैं। ससुराल में उन्हें रखुमावाई के लाड़ले नाम से पुकारा जाता है। निःसन्तान पति की कातरता उन्हें भी व्याकुल किये देती है। पता नहीं, कितने देवी-देवताओं की मनौतियाँ मानी गईं उनके द्वारा। साधु-सन्तों की सेवा-अर्चा भी वे आरंभ से ही करती आई हैं। सन्तान-कामना की प्रार्थिनी होकर पंढरपुर के परम जाग्रत विग्रह विठोबा के चरणों में अनेक बार अपनी सजल आराधना अर्पित कर आई हैं, वे। लेकिन भगवान ने मनोरथ पूरा नहीं किया।

इधर बिट्ठल पन्त दिन-दिन क्षीण होते जा रहे हैं। उदासी, चिन्ता और निराशा ने उन्हें असमय में ही वृद्ध बना दिया है। किसी भी काम काज में उनका मन नहीं लगता। एकान्त की खोज में न जानें कहाँ–कहाँ भटकते फिरते हैं। अन्न-जल ग्रहण करने की सुध-बुध भी नहीं रहती।

कभी-कभी अपनी एकान्त मनोव्यथा यदि वे किसी से कहते भी हैं, तो एक मात्र अपनी साध्वी सुलक्षणा धर्म–पत्नी रखुमा बाई से ही। उन दिन, उन्होंने कातर स्वर में पत्नी को कहा: "बेगार का यह नीरस धन्धा अब और कितने दिनों तक चलाता रह पाऊँगा, मैं? नहीं, अब यह संभव नहीं रह गया है। मन में आता है कि सब कुछ छोड़–छोड़कर काशी चला जाऊँ। संन्यास की दीक्षा ले ही लूँ। इस दुनिया में तो अब मुझसे कुछ संभव ही नहीं रहा, अब उस दुनिया के लिए कुछ कर सकूँ, तो कर सकूँ।"

मितभाषिणी कुलवधू अपने पतिदेवता के ऐसे प्रस्तावों का उत्तर मुँह खोलकर कभी दे नहीं पातीं। उनकी बड़ी-बड़ी आँखों से आँसू के बड़े-बड़े मोती एक-के-बाद-एक टपकने लग जाते हैं। दीर्घ श्वास लेकर वह सिर झुका लेती हैं और गूँगी बनी, तब तक बैठी रहती हैं, जब तक पतिदेव स्वयं उठकर कहीं चले नहीं जाते।

इसी बीच, एक दिन, बिट्ठल पन्त के वृद्ध पिता भी, पौत्र के मुख-दर्शन की विफल कामना को हृदय में दबाये, अचानक चल बसे। पितृशोक ने भी सन्तानहीन पुत्र के वैराग्यानल के लिए घृत की आहुति का ही काम किया। पिता के श्राद्ध-समारोह में पैत्रिक संपत्ति का अधिकांश होम हो गया। किसके लिए संपति रक्खी जाय? घर और वन में अन्तर भी क्या रह गया है, अब?

दामाद के अकाल-वैराग्य की दारुण कहानी श्वसुर महाशय के कानों तक जा पहुँची। वे एक दिन हाँफते-काँपते अपनी इकलौती सन्तान की सुध लेने आपे गाँव में अकेले ही आ पहुँचे।

रखुमाबाई के पिता श्री सिधो पन्त भी अपने गाँव—'आलन्दि'—के प्रधान ही थे कुलकर्णी! उनकी संपत्ति की उत्तराधिकारिणी कोई यदि थी, तो उनकी इकलौती सन्तान रखुमाबाई ही।

एकान्त अवसर पाकर श्वसुर ने दामाद से कहा— "इस तरह घुलते रहने से क्या लाभ? असमय में गृह-त्याग का यह विचार तुम्हारे मन में क्यों आया? देखो, मेरी पकी उम्र की ओर। तुम लोगों के अतिरिक्त मेरा अपना कहा जाने-वाला कोई है? दामाद या बेटा, जो भी मानो, एक मात्र तुम्हीं तो हो। मेरे पास जो जमीन जायदाद है, वह भी तो तुम्हारी ही है। खाने-पहनने लायक

संपन्नता परमेश्वर ने दे रखी है। अब तुम दोनों आलन्दि गाँव में ही चलकर रहो। बूढ़ा हूँ। कोई पानी देनेवाला भी नहीं है। कब किस दिन, संसार से चल दूँगा, इसका ठिकाना है? दो जन ही तो ठहरे तुम। वह घर भी तो तुम्हारा ही है। वहीं चलकर रहो ना?"

बिट्ठल पंत को श्वशुर महाशय की राय जँच गई। उन्होंने मन-ही-मन सोंचा। ठीक ही तो कहते हैं कुलकर्णी महाशय। रखुमाबाई, मेरे गृहत्याग के बाद, यहां अकेली कैसे रह पायगी? आलन्दि है उसके बचपन का परिचित पितृ-गृह। वहाँ उसके स्वजन-परिजन हैं। वहाँ रहकर अपने गृह-त्यागी पति को भूलने के प्रयत्न में अन्ततः सफल हो जायगी। यहाँ वैसा संभव न होगा। कुछ दिन वहाँ साथ-साथ रह लेने के बाद गृह-त्याग के उपयुक्त और निर्विघ्न अवसर को खोज ही लिया जायगा।"

उस दिन बात यहीं आकर रह गई। श्वशुर महाशय ने बेटी-दामाद से बिदा ली और जाते-जाते वे उन्हें आलन्दि आ जाने के लिए राजी करते गये।

एक दिन शुभ मुहूर्त्त पाकर बिट्ठल पन्त ने पैतृक गाँव छोड़कर, पत्नी के साथ आलंदि की राह ली।

आलन्दि में रहते-रहते कुछ दिन बीत गये। किंतु संसार-विरागी बिट्ठल पंत के लिए ज्यादा दिनों तक घर में रहना संभव न हो सका। पत्नी को समझा बुझाकर और उनकी अनुमति लेकर, एक दिन चुप-चाप वे काशीधाम चले गये। सद्गुरु से उन्हें संन्यास की दीक्षा प्राप्त कर लेने का संयोग भी शीघ्र ही प्राप्त हो गया।

बिट्ठल पन्त के गृह त्याग के लगभग ढाई तीन वर्ष बाद की घटना है। उस दिन आलन्दि का जन-समूह सिधोपन्त के घर आँगन को भरकर उमड़ पड़ा था। बात यह थी कि आचार्य श्री रामानंद स्वामी अपने पारिव्राजक शिष्यों के साथ उस अञ्चल से होकर तीर्थ-यात्रा में जा रहे थे। उनकी अहेतुकी कृपा का परिणाम था कि उन्होंने आलंदि ग्राम के कुलकर्णी श्री सिधो पन्त को ही आतिथ्य-सेवा का अयाचित अवसर दे दिया था।

चारों ओर से आ-आकर दर्शनार्थियों की भीड़ लग गई है। एक-एक कर, वे सबके-सब, स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम निवेदित कर रहे हैं। स्त्रियों की बारी आई, तो रखुमाबाई उनमें सबसे पहले स्वामीजी के आगे उपस्थित हुईं। हाथों में फल-फूल की डाली थी। तन पर लाल किनारी की साड़ी और माँग में



श्री ज्ञानदेव

डक-डक लाल सिन्दूर की रेखा। अपूर्व कल्याणी नारी-मूर्ति। उन्होंने धरती पर लेट कर स्वामीजी के चरणों में अपनी श्रद्धा-प्रणति निवेदित की।

स्वामी जी की आँखों में प्रसन्नता की उज्ज्वल दीप्ति अचानक कौंध उठी। आशिर्वाद देते हुए उन्होंने कहा—"माँ, तुम पुत्रवती होओ। सन्त भगवद्‌भक्त पुत्रों की जननी बनो और आनन्दित रहो!"

आशिष सुनकर, रखुमा बाई के लिये स्थिर रह पाना असंभव हो गया। उसके हृदय में, असंभव आशिर्वाद के वाक्य, शल्य की तरह, चुभ गये। दोनों आँखों ने आँसू की झड़ी लगा दी। रोती-रोती ही, वह आशिर्वाद-दाता महापुरुष के चरणों में औंधी लेट गई। पास-पड़ोस के परिचित जनों की आँखें छलछला आई थीं। पर किसी को कुछ कहते नहीं बना। सब करुणा-विह्वल विमूढ़-भाव से खड़े रहे। अव्याहत नीरवता की अधीर सन्नाटापन गहराने लगा।

स्वामीजी को रखुमाबाई के व्यवहार ने चिन्ता में डाल दिया। वे सोचने लगे:

'कैसा अद्‌भुत आचरण है इस नारी का? आशिर्वाद पाकर यह पुलकित न हुई; उल्टे, रो-रोकर अधीर हो रही है! अपने भाग्य पर प्रसन्न न होकर यह रोने क्यों लग गई है?'

गाँव का एक आदमी आगे बढ़कर स्वामीजी के सामने आया। उसने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"महाराज, आप अमोघ-वाक् महापुरुष हैं। आपका कहा व्यर्थ नहीं होता। किंतु इस दुःखिनी के दुर्भाग्य की बात कहूँ तो कैसे कहूँ? हमारे गाँव के कुलकर्णी की इस इकलौती बेटी—रखुमाबाई की तकदीर ही निराली है। इसके पति जीवित तो हैं, पर उनका होना अब कोई अर्थ नहीं रखता। कोई दो-ढाई साल पहले वे गृह-त्यागी होकर कहीं चले गये। उनका कोई पता नही है। ऐसी स्थिति में रखुमाबाई इस जन्म में पुत्रवती क्योंकर हो सकती है? हाँ, जन्मान्तर में आपके दयामय आशिर्वाद का फल इसे मिल जाय, तो मिल जाय!"

स्वामीजी ठहर कर कुछ सोचने लगे। अचानक उनकी आँखों में प्रसन्नता की ज्योति जगमगा उठी। स्नेह-सिक्त स्वर में उन्होंने रखुमा बाई को ढाढस देते हुए कहा—"माँ, रोओ मत। चित्त से शंका और चिन्ता निकाल दो। जब पुत्रवती होने का आशिर्वचन भगवान् ने अपने एक भक्त के मुख से तुम्हें प्राप्त करा दिया है, तो उस आशिर्वाद को वे विफल न होने देंगे। एक ही पुत्र नहीं, तुम्हें कई पुत्रों और कन्या की माँ बनाना भी यदि उन्होंने निश्चित कर लिया हो, तो पति का गृह-त्याग उसमें बाधक नहीं हो सकता। उनकी महिमा अपार है।

श्रद्धा रखो। महाराष्ट्र की आध्यात्मिक कीर्त्ति तुम्हें ही पुत्रवती बनाकर चरितार्थता प्राप्त कर सकती है। उठो, धैर्य धारण करो और श्रद्धा रखो।"

रखुमाबाई की विकलता महापुरुष के आशिर्वचन के प्रभाव से क्षण भर में दूर हो गई। वह उठकर गाँव की स्त्रियों की मण्डली में जा मिली।

अब महात्माजी ने उक्त ग्रामीण की ओर लक्ष्य किया। पूछा—"दो ढाई-साल पहले गृह-त्याग की बात हैं ना ? अच्छा, यह तो बताओ कि वह गृह-त्याग करके कहाँ जाना चाहता था ?"

ग्रामीण ने कहा—"महाप्रभो, वह काशी जाकर सद्‌गुरु से संन्यास-दीक्षा लेने का संकल्प अपनी पत्नी को बता गये थे। और किसी को तो उन्होंने इतना भी नहीं बताया। उनका नाम बिट्ठल पन्त। निःसन्तान होने का उन्हें बहुत दुःख था। इस समय वे कहाँ हैं, इसका पता किसी को नहीं है। इतना समाचार अवश्य मिला था कि काशी के एक आध्यात्मिक महापुरुष ने उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकृत कर लिया और उन्हें संन्यास की दीक्षा दे-दी है।"

ग्रामीण का उत्तर सुनकर स्वामीजी थोड़ी देर तक चुप-चाप सोचते रहे। फिर धीर स्वर में बोले—"लगता है कि उसे मैंने ही संन्यास की दीक्षा देकर परि-व्राजन के लिए भेज दिया हैं। गुरु-पूर्णिमा तक वह लौट आयगा।"

स्वामीजी ने रखुमाबाई को संकेत से बुलाया और उनके सिर पर अभय हस्त रखकर कहा—"माँ, आनंदित रहो। कोई भय नहीं। मैं तुम्हें वचन देता हूँ। तुम्हारा पति तुम्हें वापस मिल जायगा। परमेश्वर की यही इच्छा है कि अभी कुछ और काल तक संसार में रहकर वह ऐहिक कर्त्तव्यों का अपना ऋण चुका दे। परमेश्वर के विधान में में बाधक नहीं बन सकता।"

दूसरे दिन स्वामीजी अपने परिव्राजक शिष्यों के साथ आलंदि छोड़कर चले गये।

कई मास बीत गये। एक दिन बिट्ठल पन्त भी, परिब्रजन से लौटकर, काशी आ गये। उन्होंने गुरु के चरणों की बन्दना की और उनके सामने सिर झुकाये आदेश की प्रतीक्षा में चुपचाप खड़े हो गये।

शक्तिधर आचार्य स्वामी रामानंद ने अपने संन्यासी शिष्य को आलन्दि ग्राम की उस घटना की कहानी संक्षेप में सुना दी। गुरु द्वारा रखुमाबाई को दी गई प्रतिश्रुति का समाचार भी बता दिया गया।

कठिन परीक्षा की घड़ी आ गई है, गृह-त्यागी संन्यासी शिष्य के लिए।

उसने निवेदन किया—"क्या अब घर लौटना संभव होगा ? संन्यास की दीक्षा लेने के बाद, अब पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना और पत्नी, पुत्र, कन्या के साथ घर चलाना, मुझे धर्म से पतित नहीं करेगा ?

स्वामीजी ने सजल कातर स्वर में कहा—"बेटे, तुम्हारे असमंजस की बात मैं खूब समझता हूँ। किंतु प्रभु की इच्छा और गुरु के आदेश के प्रति अपने दायित्व को तुम भी समझ लो। मेरे मुख्य से उस दिन जो वाक्य आलन्दि में अजाने निकल गये, उनके पीछे भी तो परमेश्वर की ही इच्छा प्रकट हुई थी ना ? मैं तो निमित्त मात्र था। तुम इतना सोच-विचार क्यों कर रहे हो ? प्रभु की योजना के सामने मानव-कल्पित नीति-रीति और विधि-विधान का मूल्य भी क्या है ? जानते नहीं हो कि महर्षि व्यास को भी पुत्रोत्पादन करना पड़ा था ? तुम तो व्यास नहीं हो, साधारण जीव हो। इसलिए मेरे वचन की रक्षा और प्रभु की इच्छा की पूर्ति करने के लिए तुम्हें यदि गृहस्थाश्रम में कुछ दिन और रहना पड़े, तो अचरज की बात क्या हैं ? तुम चुप-चाप घर लौट जाओ। गुरु को अपने दायित्व का स्वयं घ्यान रखना होगा।

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर, बिट्ठल पन्त आलन्दि लौट आये। पर अब ससुराल में रहना तो ठीक नहीं। पत्नी को साथ लेकर, अपने पैत्रिक ग्राम—आपेगाँव—को वे दूसरे ही दिन चल पड़े। पुराना घर देख-रेख के अभाव में टूट गया था। तत्काल के लिए पैत्रिक वास-स्थान के ही एक ऊँचे टीले पर एक छोटी-सी झोपड़ी तैयार करली गई।

नए सिरे से गढ़ी गई घर-गिरस्ती महापुरुष के आशिर्वाद के प्रभाव से फूलने फलने लगी। बिट्ठल पन्त के घर में, एक-के-बाद-एक कर, तीन पुत्रों और एक कन्या का जन्म हुआ।

धर्मप्राण बिट्ठल के ये सभी बच्चे जन्म से ही दिव्य आध्यात्मिक संस्कार से संपन्न थे। द्वितीय पुत्र ज्ञान देव तो और भी अद्‌भुत थे। उनकी जन्मजात भवगद् भक्ति सचमुच असाधारण थी।

ईस्वी सन् १२७१ की वात है। बिट्ठल पन्त के घर शुभलग्न में उनके दूसरे पुत्र श्रीज्ञान देव का जन्म हुआ। अपने ज्येष्ठ भाई निवृत्तिनाथ की अपेक्षा, उम्र में, वे तीन वर्ष छोटे थे। इसी क्रम में, वारी-वारी से, कनिष्ठ भ्राता सोपानदेव और कनिष्ठा भगिनी मुक्ताबाई का भी धरा-धाम पर आगमन हुआ।

ज्ञानदेव की मेधा और प्रतिभा का दिव्य प्रकाश बचपन में ही प्रकट हो चुका था। एक-वार देख-सुन लेने पर वे किसी बात को भूलते न थे। बिट्ठल पन्त का अपना विद्यानुराग भी असाधारण ही था। अतः ज्ञानदेव की विलक्षण

विलक्षणता को देखकर उनके उत्साह और आनंद की कोई सीमा न थी। केवल ज्ञानदेव के लिए ही नहीं, अपनी प्रत्येक सन्तान की समुचित शिक्षा-दीक्षा के लिए, उन्होंने उत्तम व्यवस्था कर दी थो।

बिट्ठल पन्त के घर में साधु—सन्तों और पंडित-पुरोहितों का आना–जाना लगा ही रहता है। निवृत्तिनाथ और ज्ञानदेव, शेष भाई-बहनों से वय में बड़े होने के कारण, उन मान्य अतिथियों के स्वागत-सत्कार में योगदान करना नहीं भूलते। उसी क्रम में उन्हें सत्संग और शास्त्र-श्रवन का सहज सुयोग अनायास ही प्राप्त हो जाया करता है। अध्यात्म-चर्चाओं, धर्म-रहस्यों और इतिहास-प्रसंगों के बहुमूल्य संलापों की छाप उनके चित पर अनवरत पड़ र[ी]है,

ज्ञानदेव जन्मजात श्रुतधर हैं। एक बार सुनकर ही वे कठिन संस्कृत श्लोकों को मुखस्थ कर लेते हैं। इस प्रकार, शास्त्र-पुराण के सहस्रों संदर्भों की ज्यों-की-त्यों आवृति कर देना उनके लिए बायें हाथ का खेल बन गया है। साधुओं और पंडितों के द्वारा कहे गये अन्वाख्यानों और विश्लेषणों को हृदयंगम कर लेने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। मेधा और प्रतिभा के असाधारण चमत्कार के साथ-साथ जन्मान्तर के पुण्य-संस्कार के सात्विक ऐश्वर्य से भी वे संपन्न हैं।

बच्चे अब बड़े हुए। उनके उपनयन संस्कार की व्यवस्था को लेकर बिट्ठल पन्त का व्यस्त हो जाना स्वाभाविक ही था। किन्तु उस शुभ-कार्य में विघ्न उपस्थित करनेवाले सजातीय ब्राह्मणों का एक गुट्ट भी रातों-रात तैयार हो गया था। गाँव के कुछ लोगों ने, उस गुट्ट के प्रचार के प्रभाव में आकर, बिट्ठल पन्त के पुत्रों के उपनयन-संस्कार में योग-दान करने से साफ इन्कार कर दिया। उनकी दृष्टि में बिट्ठल पन्त को धर्मच्युत ठहरा देना, धर्म की रक्षा की दृष्टि से आवश्यक था। संन्यास का त्याग कर, गृहस्थ बन जानेवाले ब्राह्मण के पुत्रों को ब्राह्मणोचित उपनयन संस्कार का अधिकार उन्हें मान्य न था। अपने तर्क के पक्ष में उन्होंने धर्म-शास्त्रों से प्रमाण एकत्र कर लिये थे!

स्पष्ट हो गया कि गाँव में रहकर उपनयन-संस्कार का निर्विघ्न संपादन उन धर्मध्वजियों के कारण संभव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में बिट्ठल पन्त ने गाँव को छोड़ देना ही तय कर लिया। वे पुत्र-कन्या के साथ, पत्नी को लेकर, एक-दिन नासिक चले गये। नासिक में पुत्रों का उपयनयन-संस्कार निर्विघ्न भाव से संपादित कर लिया गया।

उपनयन-मण्डप के अनतिदूर पड़ोस में ही त्र्यम्बकेश्वर-मंदिर है और ब्रह्मगिरि नामक पहाड़ भी। दोनों ही स्थान दीर्घ-काल से तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस लिए विट्ठल पन्त ने निश्चय कर लिया कि नासिक में उन्हें जब तक रहना है, तब तक प्रतिदिन एक बार ब्रह्मगिरि की प्रदक्षिणा कर लेने की चेष्टा जारी रखेंगे।

उस दिन वे अपने उपनीत पुत्रों के साथ ब्रह्मगिरि की उस दैनंदिन प्रदक्षिणा में ही व्यस्त थे। पुत्री मुक्ताबाई भी साथ चली आई थी। पर कुछ अपरिहार्य कारणों से उस दिन राह में विलम्ब हो गया।

प्रदक्षिणा के ही क्रम में शाम हो आई। आवास तक लौटना जंगल के मार्ग से ही संभव था, जो अन्धकार के कारण दुर्गम हो गया था। वृक्ष-शिखरों पर अंधियाली उतर आई थी और प्रकाश के अभाव में राह को टटोल पाना निरन्तर कठिन होता जा रहा था।

बिट्ठल पन्त को स्थानीय निवासियों ने बता दिया था कि कभी-कभी उस अरण्य अंचल में शाम होते ही, शिकार की खोज में, इक्के दुक्के बाघ आ जाया करते हैं। उनके सांघातिक उपद्रवों की अनेक अनुश्रुतियाँ उस अंचल में प्रचलित थीं।

जन शून्य प्रान्तर के कान्तार पथ में संकट की आशंका रह रहकर बिट्ठल पन्त को चिन्तित करने लगी। इष्टनाम का स्मरण करते-करते अपने पीछे चलने वाली सन्तानों की छोटी सी टोली को उन्होंने सावधान करते हुए कहा—"रास्ता ठीक नहीं है। तुमलोग, जरा तेजी से, ठीक मेरे पीछे पीछे चलो।"

सभी जल्दी जल्दी पाँव बढ़ाते, पिता के पीछे पीछे चले आ रहे हैं। आगे घुमाव का चक्कर था। ज्ञानदेव ने भय के मारे पिता का हाथ थाम लिया। पास में ही किसी वन्य जन्तु का गर्जन सुनाई पड़ा था। वे बोले—"पिताजी, "सुना आपने ? क्या यह कोई बाघ गरज रहा है ?" पिता ने आवाज सुन ली थी। गर्जन सचमुच बाघ का ही था। मगर आवाज किस ओर से आ रही थी, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता था।

पहाड़ी मोड़ को पार करते ही एक भयंकर अकाण्ड उपस्थित हो गया। तुमुल गर्जन के साथ वन्य पशु की दो आँखें अन्धकार में अंगारे की तरह चमक उठीं। सद्य; गर्जन से प्रकम्पित वन्य प्रान्तर में एक जंगली भैंस खड़ी थी। अपने यूथ से भटक कर पशु असहाय हो गया था। अचानक गर्जनकारी वन्य जन्तु के झपट्टे ने उसे औंधा गिरा दिया। क्षण भर में भयंकर घटना घटित हो गई।

बिट्ठल पन्त के पीछे पीछे परिक्रमा-यात्रियों की टोली ने बड़ी फुर्ती से बगल की राह पकड़ ली। उधर घायल महिष और भूखे व्याघ्र के बीच धर पकड़ चलती रही। सौभाग्य से दोनों जन्तुओं की आपसी व्यस्तता ने, उनमें से किसी को, इस टोली के प्रति साकांक्ष होने की मुहलत हासिल नहीं होने दी।

थोड़ी देर तक, हाथ-पाँव की परवाह किये बगैर बिट्ठल पन्त और उनके बच्चे साथ-साथ दौड़ते रहे। आगे की राह अपेक्षाकृत कम भयंकर थी। पास ही कोई बस्ती होगी। अलाव की आग दूर से ही दिखाई पड़ रही है। ठीक है अपना आवास भी अब अधिक दूर नहीं होना चाहिए। जंगल छँट जाने के कारण आकाश के तारे भी दिखाई पड़ने लगे हैं और जानी-पहचानी राह का भी अन्दाज लग गया है। बिट्ठल पन्त ने राहत की साँस ली।

अचानक ज्ञानदेव चलते-चलते रुक गये और बोले—"हाय, भैया कहाँ छूट गये? वे तो उस पहाड़ी मोड़ तक मेरे ठीक पीछे-पीछे, चले आ रहे थे?"

बिट्ठल पन्त के होश उड़ गये! हाय, निवृत्तिनाथ किधर भटक गये। संभव है कि वह पीछे छूट गये हों। रुक कर इन्तजार करने के अलावा अभी और कुछ किया भी तो नहीं जा सकता? अन्ततः निवृत्तिनाथ की प्रतीक्षा में सब-के-सब वहीं रुके खड़े रहे। किन्तु काफी देर की प्रतीक्षा के बाद भी निवृत्तिनाथ का कोई पता नहीं चला। अनुमान किया गया कि वे दौड़कर सबसे आगे हो गये होंगे। बाघ से बचाव के प्रयास में आगे-पीछे की सुध-बुध खो देना अस्वाभाविक नहीं। इसलिए संभव है कि वे सीधे दौड़कर आवास पर पहुँच चुके हों।

बिट्ठल पन्त चिन्ता-बोझिल चित्त के साथ अछता-पछताकर, आगे की राह तय करने लगे। किन्तु ज्ञानदेव रह-रह कर राह में खड़े हो जाते और भाई की खोज में पीछे मुड़कर क्षण भर के लिए देख लिया करते। किसी तरह राह कट गई और आवास आ पहुँचा। किन्तु निवृत्तिनाथ हैं कहाँ? अभी तक लौटकर तो नहीं आये हैं।

कुहराम मच गया। मगर कई दिनों तक खोजबीन करने के बाद भी, उनका पता नहीं चल सका। घर के लोग निराश हो गये। केवल ज्ञानदेव ने अपनी बड़े भैया की खोज जारी रखी।

भाई की खोज में व्यस्त रहने के कारण ज्ञानदेव को अन्न-जल ग्रहण करने की सुध-बुध जाती रही। शरीर सूखकर काँटा हो गया है। निवृत्तिनाथ के प्रति उनका असीम प्रेम उन्हें क्षण भर के लिए भी चैन लेने देता। उनके बिना एक क्षण भी रह पाना ज्ञानदेव के लिए संभव नहीं। यह केवल भ्रातृत्व के प्रेम का तकाजा नहीं, असीम श्रद्धा का भी लक्षण है। निवृत्तिनाथ के प्रति ज्ञानदेव की विनीत वंशवदता की कोई सीमा नहीं। यों बड़े भैया उनसे केवल तीन साल के ही तो बड़े हैं, किन्तु उनका सम्मान माता-पिता की अपेक्षा कम करना ज्ञानदेव के लिए कल्पनातीत है। छोटे-बड़े हर काम काज के लिए वे उनके आदेश और परामर्श की प्रतीक्षा करते आये हैं। उनके अभाव में

जीवित रहना क्या ज्ञानदेव के लिए संभव होगा ? यह प्रश्न पूरे परिवार को चिन्तित किये रहता है।

सप्ताह भर से ज्याँदा समय बीत गया। तब एक दिन, हठात्, निवृतिनाथ पिता के आवास-स्थान पर उपस्थित हो गये ! आनन्द की सीमा नहीं। घर के सभी लोग उन्हें घेर कर प्रसन्नता से कलरव करने लगे।

ज्ञानदेव की प्रसन्नता का तो कहना ही क्या ?

बड़े भाई को बाहों में घेरकर ज्ञानदेव ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी : "उस रात हमें छोड़कर आप कहाँ चले गये थे ? आखिर आप थे कहां ? किसके पास ? क्या कर रहे थे, इतने दिनों तक ? खोलकर पूरी बार बता दीजिए ना !"

एकान्त पाकर निवृतनाथ ने शान्त स्वर में उतर दिया : 'उस दिन तो मैं टोली से छूटकर भटक ही गया था। तुम लोग किधर बढ़ गये, अन्धकार में, मुझे इसका कोई पता नहीं चल सका। आँखों से उस अँधियाली में कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। हिम्मत करके एक ओर को अकेले आगे बढ़ने पर दीपक का प्रकाश दिख पड़ा। प्रकाश की तरफ चुपचाप बढ़ता रहा। पास पहुँचने पर पहाड़ की एक कन्दरा मिली। अत्यन्त दुर्गम स्थान था, वह। पर उस कन्दरा के भीतर आसन लगाये एक वृद्ध योगी बैठे थे। मुझे आगत जानकर, उन्होंने हाथ के संकेत से, विश्राम करने के लिए एक स्थान निर्दिष्ट कर दिया। थोड़ी देर के बाद वे स्वयं आकर, मेरे सामने कुछ कन्द-फल भी रख गये।

"मैं थका था। अतः उनका स्नेह-प्रसाद ग्रहण करने के बाद, तुरंत नींद आ गई। दूसरे दिन उषा काल में जगने पर, योगी महाशय की करुणाघन मूर्ति फिर दिखाई पड़ी। वे मुझे बुलाकर गुहा के एक निभृत कोने में ले गये। फिर कृपाकर मुझे योग की दीक्षा दी, महापुरुष ने।"

ज्ञानदेव ने विस्मय से आँख फाड़कर कहा: "यह तो अद्भुत बात है। कहना-सुनना कुछ नहीं, और एकवारगी दीक्षा मिल गई ? यह संभव कैसे हुआ—यह तो बता दीजिये।"

पूरी बात तो बना नहीं सकता। उन्होंने मना कर दिया है। हाँ, इतना तुम्हें जरूर बता देता हूँ कि दीक्षा लेने के साथ-साथ, मेरे भीतर, पहले के सब कुछ में, जैसे अचानक परितर्तन हो गया है। एक नये जगत् में जग जाने का भाव सतत थामे रहता है, मुझे। यह कहने में भी हर्ज नहीं कि दीक्षा के उपरान्त महात्माजी ने बहुतेरी निगूढ़ साधन त्रियाओं की भी बातें मुझे सिखला दी और नितान्त सहज स्वाभाविक रूप में वे साधन क्रियायें मुझ में स्वतः घटित होने लग गई हैं।

"किन्तु भैया, आपके गुरु-योगी का नाम क्या है ? यह तो आपने कहा नहीं।"

"गुरु का नाम लेना वर्जित है ना ? किन्तु उनका नाम तो विश्वविदित है महायोगी गहिनीनाथ जी।"

बादमें, निवृत्तिनाथ की दीक्षा का वृतान्त बिट्ठल पन्त को भी ज्ञात हुआ। उनके विस्मय और प्रसन्नता की सीमा न रही। उन्होंने धीर स्वर में कहा—"बड़े भाग्यवान् हो, बेटे ! तुमने कुल को कृतकृत्य कर दिया। तुम्हारी धन्यता का क्या कहना ! योगिराज गहिनीनाथ महान् शक्तिधर महात्मा हैं। उनकी दुर्लभ कृपा तुम्हें सहज ही प्राप्त हो गई। भगवान् करें, उनकी यह अहेतुकी कृपा फलवती हो। और तुम उनके प्रति अपनी पात्रता को प्रमाणित कर सको।"

निवृत्तिनाथ ने कहा—"गुरु महाराज की कृपा ज्ञानदेव के प्रति भी तो है। वे कह रहे थे कि ज्ञानदेव के हाथों मानवजाति का अशेष कल्याण होनेवाला है। मुझे उन्होंने कहा है कि ज्ञानदेव के प्रति निरंतर साकांक्ष रहूँ। इस सम्बन्ध में उपयुक्त समय पर कोई दैवी निर्देश मिलेगा—ऐसा भी वे बता रहे थे।"

पुत्र की बात से पिता का मुखमण्डल उल्लासदीप्त हो उठा। अपने पूर्व आध्यात्मिक जीवन की इस परम सार्थकता का उन्हें भान न था। जिस भग्न-मनोरथा ने सन्हें असमय में सन्यासी बना दिया था, और सन्यास छोड़कर पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए विवश किया था, उसकी पृष्ठभूमि में भगवान् की महती कृपा ही थी—इउ तथ्य का पता उन्हें आज आकर चला है ! उन्हें अपने परम कृपालु गुरुदेव आचार्य रामानन्द की वाणी का स्मरण हो आया। गुरुदेव ने कहा था—"तुम्हारे पुत्र-पुत्रियों के आध्यतिमक जीवन के तेज से एक दिन यह देश ज्योतिर्मय हो उठेगा।" गुरुदेव के इस वचन के प्रति बिट्ठल पन्त का मस्तक, आज श्रद्धा से वारंवार नत हो रहा है। भगवान की लीला जानी नहीं जा सकती।

किन्तु अपनी संतानो के देश-व्यापी यश का सुख भोगने के लिए बिट्ठल पन्त अधिक दिनों तक इस लोक में नहीं रह पाये। भगवान् के नाम का स्मरण करते हुए, एक दिन, उन्होंने शान्त चित्त से नश्वर शरीर का त्याग कर दिया।

पिता के परलोक-वास के कुछ ही समय बाद, शुभलग्न में ज्ञानदेव ने अपने बड़े भाई निवृतनाथ का गुरु-रूप में वरण कर लिया और उनसे दीक्षा पाई। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ की गुरु-परम्परा की निगूढ़ योग-साधना का अक्षय

वीज योगी गहिनीनाथ के आध्यात्मिक जीवन में प्रस्फुटित हुआ था। गहिनीनाथ का वही योगैश्वर्य निवृत्तिनाथ के माध्यम से ज्ञानदेव को प्राप्त हुआ। इस ऐश्वर्य को माधुर्य से सम्पन्न करनेवाली कुल-परंपरा ज्ञानदेव को मिली थी स्वामी रामानन्द के भक्तिमार्ग से। स्वामीजी की कृपा ज्ञानदेव के पिता और माता दोनों ही को प्राप्त थी। सच तो यह है कि उन्हीं के आशिर्वाद के फलस्वरूप ज्ञानदेव और उनके भाई-बहनों ने शरीर धारण किया था। योगेश्वर और भक्ति-माधुर्य की उस सम्मिलित विभूति को ज्ञानदेव के पूर्व-जन्मों के दिव्य संस्कारों ने अनुपम ज्योतिर्मयता प्रदान कर दी थी। ऐसी स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि साधना और सिद्धि के सर्वोच्च सोपान पर आरूढ होने में उन्हें अधिक समय की अपेक्षा नहीं हो। ज्ञानदेव के इस अद्‌भुत महात्म्य का सर्वाधिक प्रभाव उनकी बन्धुमण्डली के सदस्यों पर पड़ा। सोपानदेव और मुक्ता-बाई महाराष्ट्र के सन्तों के रूप में विख्यात होकर, इस तथ्य को बाद में भी प्रमाणित करते रहे। मगर प्रसिद्धि के आसन पर प्रतिष्ठित हो जाने के बावजूद उक्त चारों भाई-बहनों में से किसी ने भी, उस समय तक, किशोरावस्था की सीमा नहीं लाँघी थी।

पड़ोसी ब्राह्मण-समाज के कलह-परायण। ठेकेदारों को यह कतई पसन्द न था कि जिस विट्ठल पन्त को उन्होंने समाजच्युत घोषित कर रखा था, उनकी संतान महाराष्ट्र के जन-समाज को आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करने की योग्यता प्रमाणित करने लग जायँ। बिट्ठल पन्त की सन्तान की कीर्त्ति को उन्होंने अपनी शान के खिलाफ मानकर दुष्प्रचार और बहिष्कार के नये-नये तरीक आविष्कृत कर लिए और उन्हे लाञ्छित और अपमानित कराने के प्रपञ्च में संघटित रूप से व्यस्त हो गये।

ज्ञानदेव और उनके भाई-बहन परिस्थिति की इस कठोर परीक्षा की दाँव-पेंचों से अवगत न थे। किन्तु उन्हें इस बात का भान था कि पड़ोसी ब्राह्मण-समाज का उनके परिवार से वंशानुगत बैर है और वे उन्हें अपने समाज से बहिष्कृत रखने को कसमें खा चुके हैं। बिट्ठल के बाल-बच्चों को चैन से रहने देने पर उनकी नाक कट जायगी—ऐसा वे मान बैठे हैं।

विधवा माता—रखुमाबाई अपनी निरपराध सन्तानों पर किये जानेवाले दैनंदित अत्याचारों से व्यथित थीं। यही स्थिति रही, तो मुक्ताबाई का विवाह-संबंध भी असंभव हो जायगा। बेटों के विवाह की चिन्ता नहीं; किन्तु कन्या तो पराई धरोहर है। कन्या के विवाह की चिन्ता तो करनी ही होगी। ब्राह्मण

वर चाहिए। पर जो इस परिवार को ब्राह्मणों की पंक्ति से काट चुके हैं, वे ब्राह्मण-वर का वरण कभी संभव होने देगें ?

माँ की यह चिन्ता ज्ञानदेव से चुपचाप सही नहीं गई। उन्होंने पास जाकर कहा : "माँ, तुम मुक्ता बाई के विवाह की समस्या को लेकर इस तरह दीर्घ वि:श्वास क्यों लेती रहती हो। गाँव के दुष्टों के इस प्रपंच का अन्त करने के लिए मैं ज्ञातृ-वर्ग के विधि-निर्णायकों के पास स्वयं जाऊँगा। तुम विषाद मत करो।"

"अरे, नहीं, नहीं ! ऐसा मत करना बेटे ! इन दुष्टों का क्या ठिकाना ? उन्हें पता चलेगा तो तेरी जान के गाँहक हो जायगे।"—ऐसा कहते-कहते माँ की आँखों ने आँसुओं की झड़ी लगा दी।

"तुम भय मत करो, माँ ! मैं भैया को साथ लेकर पैठन जा रहा हूँ। वहाँ हेमोर पन्त और बोपदेव सरीखे दिक्पात पण्डित रहते हैं। हम उनसे धर्म की व्यवस्था माँगेगे। हम उन्हें बतायँगे कि हमारे पिता ने सन्यास लेने के बाद गृहस्था-श्रम में प्रवेश करके कोई स्वेच्छाचार-जन्य प्रमाद नहीं किया था; उन्होंने तो अपने गुरु की आज्ञा का पालन किया था। जिन्होंने उन्हें सन्यास की दीक्षा दी थी, उन्हीं ने, दैवी प्रेरणा पाकर, हमारे पिताजी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अयाचित आदेश भी दिया था। गुरु का आदेश-पालन धर्म है। उसे अन्यथा मान-कर, जो उनकी संतानों को जाति-वहिष्कृत करना चाहते हैं, वे धर्म के रहस्यों के ज्ञाता नहीं, इर्ष्यालु, कुटिल और दुष्ट है। यह पूरी बात हमें पैठन के पंडितों को बतायँगे और उनकी स्वस्ति हासिल करेंगे।"

माँ को उपर्युक्त आश्वासन देकर ज्ञानदेव अपने बड़े भैया के साथ पैठन पहुँचे। प्रधान पण्डित के दरवाजे पर वे पहुँचे, तो उनका ब्राह्मणोचित सत्कार हुआ। उनकी विद्वत्ता, प्रतिभा और व्यक्तित्व से पैठन की पंडित-मंडली सचमुच अभिभूत हो गई। जैसा रूप, वैसी ही निर्मल बुद्धि ! यह स्पष्ट हो गया कि ये दोनों ब्राह्मण-किशोर केवल आध्यात्मिक साधना और सिद्धि की दृष्टि से ही अप्रतिम नहीं हैं, इन्होंने धर्मशास्त्र के तथ्यों का भी गहन ज्ञान अर्जित कर लिया है। पंडित-मंडली ने सर्व-सम्मति से उनके ब्राह्मणोचित अभिजात्य को स्वस्ति देकर व्यवस्था-पत्र लिख दिया।

दूसरे दिन प्रतिपक्षी समाज के नेता भी पैठन पहुँचे और उन्होंने उक्त व्यवस्था-पत्र पर पुनर्विचार करने के लिए एक विशेष गुट्ट के पण्डितों को प्रोत्साहित किया। उस गुट का निर्णय अद्भुत था !

बिट्ठल पन्त की सन्तानों का ब्राह्मण-समाज का अंग मानने में तो उन्हें आपत्ति नहीं हुई। किन्तु चूँकि संन्यास से लौटकर पिता ने उन्हें जन्म दिया था,

अतः उन्हें कठोर व्रत-निष्ठ जीवन अपना कर अविवाहित रहने का सुझाव साथ-साथ दिया गया, ताकि समाज के शेष लोग आश्रम-धर्म के पालन के प्रति स्वेच्छाचार की वृत्ति अपनाने के लिए प्रोत्साहित न हों। सुझाव को मानना या न मानना ज्ञानदेव और निवृत्तिनाथ के स्व-विवेक पर छोड़ दिया गया था। पर बिट्ठल पन्त की स्वाभिमानी सन्तानों ने एक-मत होकर उस सुझाव को शिरोधार्य कर लिया। मुक्ताबाई ने भी बाद में विवाह न करने की प्रतिज्ञा, अपने भाइयों की ही भाँति, की।

इस घटना के कुछ ही दिन बाद, रखुमाबाई का देहावसान हो गया। माता की मृत्यु के बाद पितृ-कुल और मातृ-कुल की जमीन-जायदाद का, बिट्ठल पन्त की सन्तानों ने स्वेच्छा से त्याग कर दिया और वे तीर्थ-यात्रा के लिए विदा हुए। पास-पड़ोस के ज्ञातृ-वर्ग की इच्छा भी यही थी। दो-दो कुल-कर्णियों की जमीन-जायदाद हड़पने की नीयत से ही तो उनके द्वारा धर्म के नाम पर, अब तक सारे प्रपंच रचे गये थे!

पन्त-परिवार के नव-किशोर साधक-चतुष्टय की तीर्थयात्रा का पहला पड़ाव जिस स्थान पर पड़ा, उस स्थान का नाम है 'नेभासे'। वहाँ पहुँचते सूर्यास्त-काल उपस्थित हो गया था। रात भर विश्राम करने के लिए नेभासे में कोई आश्रय-स्थान ढूँढ़ लेना, रात ढलने के पहले ही निरापद होगा—ऐसा सोचकर यात्री-दल एक पुराने मठ के सामने उपस्थित हुआ। मठ छोटा-सा था। मगर वहाँ ठहरने की जगह मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

इस मठ के महन्त सर्वमान्य और विलक्षण पुरुष हैं। आस-पास के लोगों में वे बाबा सच्चिदानन्द के नाम से प्रसिद्ध है। बाबा स्वभाव से ही साधु हैं। विद्या-प्रेमी होने के साथ-साथ, वे स्वयं भी प्रकाण्ड पंडित हैं। पता नहीं, किस दुर्योग के कारण उन्हें किसी सांघातिक रोग ने दीर्घ-काल से ग्रस्त कर रखा है। चल-फिर नहीं पाते। चिकित्सकों का कोई वश नहीं चला। शय्या पर पड़े-पड़े, अन्तकाल की प्रतीक्षा में, शान्त चित्त से नाम-स्मरण करते रहना उनका स्वभाव बन गया है। जीवन की आशा तो निःशेष-प्राय है। आज प्रातःकाल से ही अन्तिम अवस्था के लक्षण प्रकट हो रहे हैं।

कमरे के एक स्थान पर उनकी शय्या लगी है। आँखों की पुतलियाँ निस्तेज हैं और कण्ठ-स्वर रूद्ध! सेवकगण निरुपाय होकर अन्तिम श्वास की घड़ियाँ गिन रहे हैं।

ज्ञानदेव ने बाबा के मुमूर्षु शरीर की कारुणिक निरुपायता पर दृष्टि डाली, तो उनका हृदय उमड़ आया; आँखें भर आईं। अचानक वे अपने स्थान से उठे और किसी दैवी प्रेरणा से आविष्ट की भाँति, रोगी के सिरहाने में जाकर खड़े हो गये। उन्होंने रुग्न महन्त के सिर और ललाट का स्नेह पूर्वक स्पर्श किया और उनके मुख से कुछ देर तक, अजाने ही किसी मन्त्रका अस्फुट पाठ होने लग गया।

थोड़ी ही देर बाद मुमूर्षु रोगी का निश्चेष्ट शरीर सचेष्टता के लक्षण से चौंका उठा। ठहरी हुई पलकों में उन्मेष-निमेष की गति आ गई तो क्या मृत्यु बाबा को कुछ और समय की मोहलत देने की खातिर राजी हो गई? लगता तो ऐसा ही है। सेवकी की आँखें आशा से चमकने लगी। बाबा, कितने दिनों के बाद, पहले पहल, बिना किसी का सहारा लिए अब करवट जो बदल रहे हैं।

प्रातःकाल लोगों ने आश्चर्य से देखा कि बाबा शय्या पर बैठे, मृदु मन्द स्वर में, स्तोत्र का पाठ कर रहे हैं। बाबा के स्वस्थ हो जाने में, अब किसी को कोई सन्देह नहीं रह गया है। अप्रत्याशित आह्लाद ने चमत्कार का यह समाचार, बिजली की तरह पास-पड़ोस के इलाकों में फैला दिया। लोगों की भीड़ ज्ञानदेव के दर्शनार्थ इकट्ठी होने लगी।

निवृत्तिनाथ का माथा ठनका। उन्हें लगा कि इस स्थान को शीघ्र छोड़ देना पड़ेगा। उन्हें पता चल गया था कि योग-साधना के परिणाम-स्वरूप ज्ञानदेव में धीरे-धीरे विभूतियों का आविर्भाव होता जा रहा है। किन्तु दैवी शक्ति का इस प्रकार अपचय तो नहीं होना चाहिए।

वे ज्ञानदेव को उठाकर अपने साथ निर्जन स्थान में ले गये और कहा। तुम्हारे भीतर से शक्ति का प्रकाश आना शुरू हो गया है। किन्तु महायोगी गहिनीनाथ की इस दिव्य धरोहर को—योगैश्वर्य की अमोघ विभूति को—इस प्रकार लुटाया तो नहीं जा सकता। क्या तुम यही करते रहोगे?"

ज्ञानदेव ने उत्तर दिया: "आर्त्त की रक्षा के लिए, मानव-कल्याण के लिए, उस ऐश्वर्य ने आप-ही-आप जो कुछ किया, उसका मुझे पता तक नहीं चल पाया!" यह कहकर उन्होंने विनय-पूर्वक सिर झुका लिया।

"दो-चार रोगियों को चंगा कर देना, किसी मुमूर्षु को प्राण-भिक्षा दे-देना, मानव-कल्याग का आध्यात्मिक प्रकाश नहीं हो सकता। इस भ्रान्त बुद्धि का परित्याग करो। लोक-मंगलम ईश्वर के आदेश पर होता है, आदिष्ट पद्धति के द्वारा। शक्ति या विभूति के अमर्यादित प्लावन के स्वच्छन्द बहाव के द्वारा, लोक-मंगल संभव नहीं है। तुम्हें आरम्भ से ही इस संबंध में सावधान रहना उचित था। शक्ति का जो अमित आवेग, तुम्हें माध्यम

बनाकर, आज इस तरह उत्ताल हुआ, उसे तुम्हें ईश्वर-निर्दिष्ट कर्म के हित में व्यापक आधार देकर, संयत, संगत और मर्यादित करना पड़ेगा। तुम्हारे ऐश्वर्य का स्पर्श गिने-चुने रुग्न व्यक्तियों को राहत की मोहलत देने में चुक जाय, तो उसे आध्यात्मिक गरिमा प्राप्त नहीं होगी; आध्यात्मिक चरितार्थता तो उसे तब प्राप्त होगी, जब तुम्हारा स्पर्श, तुम्हारी वाणी के ऐश्वर्य में रूप में युग-युग तक सहस्र-सहस्र मुमुक्षुओं, श्रद्धालुओं और उपासकों को परम अमृत के आश्वासन से जगाने का काम कर सकेगा। मेरी इच्छा यह है कि श्रीमद्भगवद्गीता के लोक-सुलभ उज्ज्वल भाष्य की रचना का दायित्व तुम अपने हाथों में ले लो। महाराष्ट्र की जनवाणी की अपनी उस आध्यात्मिक साधना का माध्यम बनाकर लोक जीवन के व्यापक धरा-तल को तुम रसाप्लुत कर दो। ज्ञानदेव, परमेश्वर ने तुम्हें तदनुरूप प्रतिभा दी है। तुमने समृद्ध गुरु-परम्परा का सदैश्सर्य भी साथ-साथ पाया है। तुम्हें इस कार्य में सफलता मिले और तुम अगणित मानव के उद्धार में सहायक हो सको—ऐसा आशिर्वाद मैं तुम्हें दे रहा हूँ।"

गुरु का आदेश शिरोधार्य करते हुए ज्ञानदेव उसी दिन से गीता के ज्ञानेश्वरी भाष्य के लेखन से निरत हो गये।

निवृत्तिनाथ ने उस स्थान को तत्काल छोड़ देने का निश्चय कर लिया था। किन्तु नेभाने के निवासियों की श्रद्धालुता और बाबा सच्चिदानन्द के अनुनय का तिरस्कार करना उनके लिए उस दिन संभव नहीं हुआ। किशोर साधुओं की वह तीर्थयात्रा-मंडली, लोगों के असीम आग्रह के परिणाम-स्वरूप कुछ दिनों के लिए वहीं ठहर गई। ज्ञानदेव का आध्यात्मिक ऐश्वर्य, काव्यवाणी के परिपूर्ण वैभव से ओतप्रोत तत्त्व-ज्ञान के रूप में, पहले-पहल 'नेभासे' में ही प्रकट हुआ। कहते हैं कि मराठी के कतिपय अभंग भी उन्होंने वहीं रचे और श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्यात्मक रूपान्तर 'ज्ञानेश्वरी' का आरम्भ भी वहीं हुआ। सरस्वती की ऐश्वर्यमयी तत्त्व-माधुरी, ब्रह्मज्ञान को काव्य बनाकर जब महाराष्ट्र की धरती पर उतरी, तो उसके अजस्र प्लावन के वेग में देश-काल की व्यक्तिगत सीमा को, सन्त-ज्ञानदेव ने, जैसे सदा के लिए, बह जाने दिया। वे अपने उस वाङ्मय तप में दिन-रात निमग्न रहने लगे। यह है 'ज्ञानेश्वरी' के वाङ्मय आविर्भाव का अमुश्रुति-रक्षित वृत्तान्त।

बाबा सच्चिदानन्द को 'ज्ञानेश्वरी' के आरम्भ का समाचार मिला, तो वे हर्ष-विभोर हो गये। वे ज्ञानदेव के पास आकर बोले : "आपने ही मुझे अयाचित जीवन-दान दिया है। इस कृपा का कोई प्रतिदान तो संभव नहीं है, किन्तु आपके द्वारा दिया गया जीवन आपके ही उपयोग की वस्तु न बने, तो उसकी

कोई सार्थकता नहीं। आपकी वाङ्मयी गंगा का वेग अपूर्व है। यदि आप अनुमति दें और कृपाकरें तो मैं इतना तो कर ही सकता हूँ कि आपके द्वारा बोली जानेवाली वाक्यावली को मैं लिखता जाऊँ, ताकि आपको लिखने के काम में स्वयं परिश्रम न करना पड़े।"

सन्त ज्ञानदेव ने बाबा सच्चिदानन्द के उस प्रस्ताव को अपनी स्वीकृति दे-दी।

ख्रिस्ताब्द १२९० में 'ज्ञानेश्वरी' नामक उस महान् ग्रन्थ की रचना 'नेभासे' में ही रहकर सन्त ज्ञानदेव ने पूरी की। उस समय उनकी उम्र १९ वर्ष से भी कुछ कम ही थी। उस ग्रंथ को लेकर वे महाराष्ट्र के जन-जन के लिए प्रातः स्मरणीय बन गये।

'ज्ञानेश्वरी' के बाद, निवृत्तिनाथ का आदेश पाकर उन्होंने दूसरा महान् ग्रंथ —'अनुभवामृत'—लिखा। बीच-बीच में अभंगों की भी रचना होती रही। किन्तु कहते हैं कि प्राप्त अभंगों में से अधिकांश की रचना, 'ज्ञानेश्वरी' और 'अनुभवामृत' के बाद की गई थी।

'ज्ञानेश्वरी' एक ऐसी अद्भुत रचना है, जो केवल भारत में नहीं, पूरी दुनिया में, अपने आध्यात्मिक मूल्य की दृष्टि से अमर रहेगी। श्रीमद्भगवद्गीता की तत्त्व-विद्या को आधार बनाकर इस भाष्यकाव्य की रचना की गई है। इसका उपजीव्य ही है, ज्ञानाश्रयी भक्ति। असाधारण दार्शनिकता, निपुण व्याख्या-विश्लेषण, मनोरम उपमावली, तथा भाव और भाषा के अनुपम ऐश्वर्य से ओतप्रोत है, ज्ञानेश्वरी! अद्वैत-ज्ञान के साथ परमप्रीति रूपा भगवद्भक्ति का आश्चर्यकर समन्वय इसकी सर्वोपरि विशिष्टता हैं।

'अनुभवामृत' सन्त ज्ञानदेव का मौलिक सिद्धान्त-ग्रंथ है। इस दार्शनिक ग्रंथ की मूलभित्ति 'शिवसूत्र' पर आधारित जान पड़ती है। सन्त ज्ञानदेव पर नाथ-योगियों की साधना का कैसा गंभीर प्रभाव पड़ा था, इसका अनुमान भी इस ग्रंथ के आधार पर सहज ही संभव है।

अभंगों में ज्ञानदेव का हृदय-पक्ष अपेक्षाकृत अधिक सरसता से प्रकट हुआ है। भक्ति-रस के पदावली-साहित्य में इन अभंगों की अनुपमता की व्यापक प्रसिद्धि है। ज्ञानदेव की व्यक्ति-सत्ता, आध्यात्मिक दृष्टि और उपासना-पद्धति की हार्दिकता के अवगाहन और अन्वाख्यान की दृष्टि से, गवेषकों की राय में, ये अभंग ही अपेक्षाकृत अधिक उपादेय हैं। महान् सन्त के अन्तर्जीवन और संवेदन-तरल सहृदयता के साक्षात्कार के लिए इन अभंगों को अपरिहार्य मानना उचित ही है।

आर० डी० भण्डारकर लिखते हैं—"इन अभंगों में ज्ञानदेव की हृदय-

वाणी प्रकट हुई हैं । यदि उनकी भक्तिरसाश्रित आवेगशीलता को इन अभंगों में अभिव्यक्ति मिली है, तो उनकी मननशीलता को 'ज्ञानेश्वरी' में अवसर प्राप्त हुआ है । यही कारण है कि अभंग-पदों में, ज्ञानेश्वरी की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में, ज्ञानदेव की हृदय-सत्ता उद्घाटित हुई हैं । मगर उनके अन्तर की अभिज्ञता और अनुभूति तथा बहिर्जगत् के सम्पर्क की प्रतिक्रिया को उनके साहित्य में प्रतिफलित कर देने का काम, मुख्यतः अभंगों के द्वारा ही हुआ है ।"

प्रशान्त और अन्तर्मुख निवृत्तिनाथ धीरे-धीरे योग-साधना की लोकोत्तर गम्भीरता में निमज्जित होते चले गये । जन-सामान्य के साथ उनका संपर्क, इसके बाद, शनैः शनैः विच्छन्न हो गया । ऐसी स्थिति में जीवहित के कर्त्तव्यों का दायित्व स्वभावतः उनके शिष्य ज्ञानदेव को ही सँभालना पड़ता था । वे जन-जीवन के पुरो भाग में अवस्थित होकर भगवत्परायण व्यक्तियों को पथ-निर्देश देते रहे । उनकी अभंग-पदावली और भजन-कीर्त्तनों ने जनगण के हृदय में भक्तिरेस का संचार करना जारी रखा ।

ज्ञानदेव की साधना और उनके द्वारा प्रस्तुत आध्यात्मिक साहित्य के स्वरूप को ठीक-ठीक जानने-पहचानने के लिए महाराष्ट्र के ऐतिहासिक परिवेश औंर तत्कालीन समाज एवं धर्म-आन्दोलनों की गति-विधियों का किंचित् ज्ञान आवश्यक है ।

प्राचीन-काल से ही दक्षिण-भारत के विजेता शासकों और सन्त-साधुओं के प्रभाव से महाराष्ट्र की जनता का निकट सम्पर्क रहा । उसी क्रम में तमिल क्षेत्र के आलवार वैष्णवों की वाणी वहाँ पहुँचती रही और भक्ति-रस के प्लावन से जनगन का सिंचन होता रहा । तमिल क्षेत्र में 'नयनमार' के नाम से प्रसिद्ध शैव-साधकों की पुरानी परंपरा का बोलबाला भी कम न था । इसलिए यह भी माना ही जा सकता है कि महाराष्ट्र के लोकमानस पर उस शैवोपासन की भी गहरी छाप पड़ी होगी । ज्ञानदेव के आविर्भाव-काल तक महाराष्ट्र की यही स्थिति थी । उस समय तक महाराष्ट्र में वाकाटक-शासन के अवशेष विद्यमान थे जो दक्षिण-भारतीय नरेशों की याद को कायम रखे हुए थे । फिर भी, यह तो स्पष्ट ही है कि ज्ञानदेव के समय में नयनमारों के क्षेत्र में भी उत्तर भारत के नाथ पंथी शैव-साधकों का प्रभाव पहुँच चुका था और महाराष्ट्र को, और अधिक सरलता-पूर्वक उसने अभिभूत कर रखा था । शैव साधुओं और साधकों की इस परम्परा का भाव-माधुर्य से उतना गंभीर संबंध नहीं था, जितना कि योग-साधना और

ज्ञान-मार्ग से। यह तथ्य गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येंद्रनाथ के नाम पर प्रचलित साहित्य के अवगाहन से स्पष्ट हो ज-ता है। कहना न होगा कि ज्ञानदेव के गुरु श्री निवृत्तिनाथ को दीक्षा देनेवाले महापुरुष श्री गहिनीनाथ जी, स्वयं भी, उसी परंपरा के एक प्रसिद्ध योगी थे।

खि्स्ताब्द की ग्यारहवीं सदी के मध्य भाग में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध साधक और निपुण भाष्यकार श्री मुकुन्द का आविर्भाव हो चुका था। उनके द्वारा रचित दो ग्रंथ—'परमामृत' और 'विवेक सिन्धु'—की, उन दिनों बड़ी महिमा थी। मराठा जातीय जीवन को आध्यात्मिक दिशा देने का कार्य उन दीनों ग्रन्थों के द्वारा पर्य्याप्त मात्रा में सम्पन्न हो चुका था। महाराष्ट्र के महानुभाव-पंथ को उनसे निश्चय ही प्रेरणा प्राप्त हुई थी। तेरहवीं सदी में आविर्भूत महापुरुष श्री ज्ञानदेव को उक्त पूर्ववर्ती परंपराओं ने भी स्वभावतः प्रभावित किया होगा।

जिस समय ज्ञानदेव का जन्म हुआ था, उस समय तक महाराष्ट्र मुसलमानी हुकूमत के मातहत नहीं हुआ था। राजा रामदेव राव उस समय देवगिरि को अपनी राजधानी बनाकर उस बडे भू-भाग पर शासन कर रहे थे, जिसके अन्तर्गत आधुनिक महाराष्ट्र भी सम्मिलित था। वे प्रबल प्रतापी राजा थे। मगर अलाउद्दीन खिलजी द्वारा देवगिरि पर किये गये आक्रकण के बाद, उस भू-भाग पर भी मुसलमानी हुकूमत का आधिपत्य कायम हो गया।

राजा राम देव की प्रसिद्धि धर्म-प्राण हिन्दू शासक के रूप में थी। पंढरपुर के विख्यात मन्दिर को उन्होंने स्थायी वृत्ति दे रखी थी और वहाँ आने-जानेवाले तीर्थ-यात्रियों एवं वैष्णव उपासकों की सुख-सुविधा की व्यवस्था भी उनके द्वारा कर दी गई थी। उनके आधिपत्य क्षेत्र में सुख-समृद्धि की प्रचुरता थी और सभी धर्म-संप्रदायों के प्रति वे उदारता और आदर का भाव रखते थे। ऐसे समय में जन्म लेने के कारण ज्ञनदेव को अपने आध्यात्मिक प्रकाश के प्रसार के लिए अनुकूल वातावरण स्वभावतः प्राप्त हुआ। हाँ, अपने ज्ञातृ-वर्ग के ईर्ष्यालु ओर दुष्ट-व्यक्तियों ने उनके विरुद्ध दुष्प्रचार करने का काम भी लगातार जारी रखा था। जिसकी अन्तगूढ व्यथा उनके कतिपय अभंगों में भी समय-समय पर प्रकट होती रही।

ज्ञानदेव के जीवन में शक्ति, भक्ति और ज्ञान की त्रिवेणीं का संगम था। उनके इस वैशिष्ट्य का उल्लेख करते हुए आर० डी० राणाडे ने अपने ग्रंथ 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र' में लिखा है।

"महाराष्ट्र में भक्ति अन्दोलन के प्रकृत प्रवर्तक के रूप में ज्ञानदेव का आविर्भाव हुआ था। अनुमान है कि उनके पिता के गुरु थे, वाराणसी को केन्द्र बनाकर भारत-भ्रमण करनेवाले, आचार्य श्री रामानन्द। संभवतः ये वही व्यक्ति

थे, जो वैष्णव धर्म के अप्रतिम आचार्य के रूप में भारत-विख्यात हैं। यदि ऐसा ही हो, तो मानना पड़ेगा कि रामानन्द की प्रेरणा में, केवल कबीरदास और तुलसीदास की आध्यात्मिक धाराओं को ही उद्भवभूमि नहीं प्राप्त हुई, अपितु महाराष्ट्र को भी अपनी भक्तिधारा की उत्स-भूमि वहीं प्राप्त हुई ज्ञानदेव की अपनी रचनाएँ ही इस तथ्य को भी प्रमाणित कर देती हैं।

"फिर से कहे बिना भी, यह तो स्पष्ट ही है कि निवृत्तिनाथ ने गहिनीनाथ से दीक्षा ली थी, गहिनीनाथ को वह परंपरा गोरखनाथ से प्राप्त हुई थी और गोरखनाथ के गुरु थे श्री मत्स्येन्द्रनाथ। ये सब-के-सब नाथ-संप्रदाय के शैव-योगी थे। किन्तु ये मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ कब हुए, और उनके ऐहिक जीवन का रूप कैसा था, इसका ठीक-ठीक निर्णय करना किसी भी उपाय से संभव नहीं लगता। फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि वे निरे अनैतिहासिक नाम नहीं हैं। हां, इतना अवश्य है कि मत्स्येन्द्रनाथ के पूर्व-जीवन-वृत्त की हमें जो जानकारी है, उसके प्रसंग में इतिहास मौन है और लोक-प्रचलित अनुश्रुतियों ने भी उस प्रसंग में पुराण का ही रूप धारण कर लिया है। किन्तु उस पुराण का सहारा न लेने के लिए, हमारे पास कोई उपाय भी तो नहीं है। हाँ, मत्स्येन्द्रनाथ के परवर्ती युग का इतिहास पुराण में मिलकर, पूरे तौर पर, एकाकार नहीं हुआ। उसका थोड़ा-बहुत पता हमें अवश्य चल जाता है। इसके साथ-साथ हमें यह भी ज्ञात है कि ज्ञानदेव नाथ-संप्रदाय की जिस धारा के अन्तर्गत परिगणित किये जा सकते हैं, उस धारा में तमिल क्षेत्र के आलवारों और लिंगायतों के साथ-साथ महाराष्ट्र के भक्ति-आन्दोलन को भी एक नूतनतर सामंजस्य प्राप्त हो चुका था। इस सामंजस्य को घटित करने का प्रथम श्रेय संत ज्ञानदेव को निर्विवाद रूप से दिया जा सकता है। इसीलिए परवर्त्ती काल के विचारकों में अधिसंख्य की राय है कि नामदेव प्रभृति भक्तों ने भक्ति-धर्म का जो साहित्य-मन्दिर निर्मित किया, उसकी नींव और भित्ति ज्ञानदेव के भक्ति साहित्य में पहले से विद्यमान थी। उत्तर काल में उसी मन्दिर के शिखर के रूप में महाराष्ट्र ने तुकाराम को पैदा किया।

ज्ञानदेव ने अपनी साधना और सिद्धि का समस्त गौरव अपने गुरु श्री निवृत्तिनाथ के चरणों में अर्पित कर दिया है। अपने ज्येष्ठ भाई का ही उन्होंने गुरु के रूप में वरण किया था, और यही गुरु थे उनके निर्माता। साधना-सिन्धु

के तरंग-क्षुब्ध विस्तार के पार, ज्ञानदेव को, उन्होंने ही पहुँचा दिया था। कम-से-कम ज्ञानदेव ऐसा ही कहते हैं। उनकी रचनाएँ गुरु-सामर्थ्य और गुरु कृपा के उज्ज्वल कीर्त्तन से स्थान-स्थान पर भास्वर हो उठी।

ज्ञानदेव कहते हैं—"मेरे प्रभु निवृत्तिनाथ स्वभाव से ही कृपालु हैं। अपने अध्यात्मजीवन के आलोक-मंडल में रहते हुए, उन्होंने ज्ञानालोक को वितीर्ण करने का दायित्व ले रखा है। तभी तो वे बरसात के जलपूर्ण मेघ की तरह आप-ही-आप उमड़ कर हर ओर छा गये हैं और त्रि-ताप-तापित मानवों के ज्वालाकुल चित्त को ठंढक पहुँचाने के लिए शीतल जल का अविरल वर्षण किये जा रहे हैं। ज्ञानेश्वर ने प्यासे पपीहरे की तरह, इस कृपा-घन के रस-वर्षण की कुछ बूँदों का पान कर लिया है। इस भाष्य ग्रंथ में उनकी कृपा-वृष्टि के उसी अंश का निदर्शन है।"

ज्ञानेश्वरी, १८ (१७५१)

ज्ञानदेव की साधना का इतिहास तथा उनकी आध्यात्मिक अभिज्ञता के विविध तथ्य, उनके अभंगों में और अन्य दो ग्रंथों में बिखरे पड़े हैं।

ज्ञानदेव अपने प्राणप्रिय ईश्वर के विरह में किस तरह कातर हैं, उस का वर्णन एक अभंग में इस प्रकार मिलता है—"दल के दल मेघ उमड़-घुमड़कर आकाश को ढँक चुके हैं। लगातार उनका गर्जन-तर्जन सुनाई पड़ता है और पवन के झकोरों की सनसनाहट भी, साथ-साथ। इस आटोप में चाँद भी खो गया और चम्पक के फूल भी दिखाई नहीं देते। हाय, अपने प्रभु को अब खोज पाना संभव नहीं लगता। चंदन का लेप मेरी देह में आग लगा देता है। लोग कहते है कि फूल की शय्या बड़ी कोमल और स्निग्ध होती है; मगर मेरे लिए तो वह दहकते अंगारों जैसी हो गई है। कोयल की प्रसिद्धि भुवन-मोहन गान के कारण थी; किन्तु ज्ञानदेव का कहना है कि वियोग की बेला में तो वही मधुर गान, विरह-वेगना को दारुणतर बना देती है। आइने में चेहरा देखने की इच्छा तो होती है, किन्तु इस चेहरे की तरफ देखना भी तो अब मुझे रास नहीं आता। ऐसी दुरवस्था में डालकर, मेरे प्रभु मुझे छोड़ गये हैं।"

—अभंग—३४०

अन्ततः प्रिय-विरह की यह ज्वालावधि भी बीत जाती है। ज्ञानदेव की एकनिष्ठ साधना को योगी गुरु निवृत्तिनाथ की शक्तिधर कृपा जो प्राप्त थी! अपनी यह अभिज्ञता भी ज्ञानदेव स्वयं निवेदित करते हैं।

"मैं तो अन्धा था और लँगड़ा भी। विभ्रान्ति ने मुझे चारों तरफ से घेर लिया था। मेरे हाथ-पाँव कुछ करने से साफ-साफ इनकार कर देते थे। भाग्य-बल से, ऐसी ही दशा में, प्रभु निवृत्तिनाथ मुझे मिल गये। अपने कृपा-तरु की

छाया में बिठाकर, मुझे उन्होंने अध्यात्म-ज्ञान के प्रकाश से नहला दिया और मेरा पुँजीभूत अज्ञानांधकार हठात् दूर हो गया। महायोगी निवृत्तिनाथ के अध्यात्म-ज्ञान की जय ! भगवान् के नाम की जय ! मेरे कर्मों का आज क्षय हो गया ! मेरे तमाम संशयों का निरसन हो गया ! मेरा अभीष्ट पूर्ण हो गया !

"अब मुझे पंचेन्द्रियों की लीक में कैद रहकर चलना नहीं पड़ेगा। मैं तो अब अपने जीवन प्रभु का जय-गान ही गाता रहूँगा। मेरी समस्त अभिलाषाओं का अवसान हो गया, क्यों कि में तो अत्र कल्पवृक्ष की जड़ में बैठ गया हूँ। मैंने अमृत की धारा पी ली है, इसलिए मेरी सारी चिन्ताओं का अन्त हो गया। प्रभु के ऐश्वर्य के आनन्द में मेरा मन मग्न हो गया है। सभी दुःख, सभी पाप-ताप निश्चिन्ह हो गये हैं !

"आत्मज्ञान का उद्भास फैलता जा रहा है। मेरे प्राणों में वेदों के निगूढ़ तत्त्व स्वतः कौंध-कौंध उठते हैं। घट का वहिरावरण फूट गया है; सारे बंधन एक-बारगी टूट गये हैं। गुरु की कृपा से मेरे अहं भाव की समाप्ति हो गई। आँखों के भीतर आँखे उग आई हैं: जीवदेह विश्वदेह मिलकर स्वर्गीय बन गई। अब जिस ओर देखता हूँ, उसी ओर अध्यात्म-जीवन की परम प्रशान्ति दिखाई पड़ती है। मेरी दृष्टि में सब कुछ ब्रह्ममय होकर ही दिखाई पड़ता है। इसे अपने गुरु महायोगी निवृत्तिनाथ की असीम कृपा ही मानता हू कि मेरा अन्धत्व नष्ट हो गया। उन्हीं का दृष्टिदान है, यह। मेरी आँखों में उन्होंने भगवत-प्रेम का अंजन आँज दिया है और ज्ञान-गंगा में मुझे मग्न कर दिया है।"
—अभंग ४३

आध्यात्मिक उपलब्धि के चरम स्तर पर पहुँच जाने की घोषणा करते हुए ज्ञानदेव कहते हैं: "प्रभु के दर्शन के निमित्त चल निकलने पर एक अपूर्व अभिज्ञता स्वतः उफन आई है। मेरी समस्तबुद्धि, समग्र धी-शक्ति, अचानक, निष्क्रिय हो गई हैं। उनका दर्शन किया, तो मैं भी वही हो गया। जिस तरह अमृत के आस्वाद का वर्णन करना गूँगे के वश की बात नहीं है, उसी तरह अपने आनन्द और अनुभव की वात कह पाना मेरे मुख की सामर्थ्य से बाहर की बात है।"

अभंग ७९

यों दर्शन के क्षेत्र में भी ज्ञानदेव ने कुछ नई मौलिक स्थापनायें दी हैं। इस तथ्य का परिचय उनके ग्रंथ 'अनुभवामृत' में मिलता है। ईश्वर और सृष्टि-तत्त्व के प्रसंग में 'स्फूर्तिदाद' के नाम से प्रसिद्ध उनकी स्थापना को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वे दृश्मान जगत् का प्रभु की अद्वितीय सत्ता से पृथक् सत्ता नहीं मानते। उनके अनुसार यह सृष्टि उस एक मात्र परम सत्ता की ही अवान्तर अभिव्यक्ति है। ज्ञानमय परमात्मा की ही एक विशिष्ट लीला का प्रकाश सृष्टि

रूप में भासित होता है। एक और अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। वही एक मात्र ब्रह्म जगत् के रूप में भी उद्भासित होते हैं। इसे ज्ञानदेव ने 'अनुभवामृत' (१२९, १३१, १५६) में इस प्रकार कहा है: "अपने आप को देखने की इच्छा जब परमात्मा में जगती है, तब वे आप ही रूप-परिग्रह करते हैं। इस जगत् के रूप में अपने को दृश्य बना लेती हैं।"

पुनः इस प्रसंग में एक स्थान पर वे बताते हैं—"जब जगत् के रूप में दृश्यमान होकर परब्रह्म रूपान्तर ग्रहण करते हैं ओर अपने को आप देखते तथा चखते हैं, तब भी, उनके एकत्व या अद्वितीयत्व पर कोई आँच नहीं आती। यह अपने को दर्पण में देखने-जैसा ही होता है। आइने में दिखने के बावजूद, मुख मंडल अपनी जगह पर यथावत् विद्यमान रहता है। वह आइने में दिखते समय भी, आइने में नहीं जाता, अपनी ही जगह पर कायम रहता है। या ऐसा कहें कि जैसे सोने पर या जगने पर उस व्यक्ति विशेष की एकता में अन्तर नहीं आता और चलते हुए घोड़े को, उसके न चलते हुए रूप से, भिन्न अस्तित्व का नहीं माना जाता, वैसा ही यह भी है। जैसे पानी, तरंग होकर, अपने से आप खेलता है, उसी तरह, अद्वितीय सत्ता भी जगत् होकर, अपने में, आप से, आप खेलती है। आग जब लपटों की माला धारण करती है, तब भी वह आग ही रहती, कोई दूसरी चीज—अनग्नि—नहीं हो जाती। सूर्य और सूर्य-किरणावली में सत्ता का द्वैत नहीं होता। चाँद में तब क्या अन्तर आ जाता है, जब चाँदनी छिटक जाती है? सहस्त्रदल हो या शतदल रहें, पर कमल की एकता का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। कमल का कमलत्व तो अव्याहत ही रहता है।"

अनुभवामृत, ७ (१३२–१४)

लोक मंगल और जीव-हितैषणा के कारण, महाराष्ट्र में सन्त ज्ञानदेव का आविर्भाव, जगन्नियन्ता की कृपा का प्रसाद माना जाता है। वे ईश्वर–चिन्हित नायक हैं, उस के जातीय जागरण के। उन्हें अहसास था कि भक्ति आन्दोलन के प्रथम और प्रधान उन्स के रूप में उन्हें जन–जीवन के प्रत्येक स्तर को सिंचित करना है और उज्जीवन-कारी प्राण-रस को प्रवाहित करना है। बाल्यकाल के आरंभ में वैष्णव पिता के पवित्र जीवन ने उन्हें प्रभावित किया था। इसके बाद ज्येष्ठ भाई के निर्देश में उन्होंने निगूढ़ योग-साधना की थी। परमज्ञान की उपलब्धि के रूप में उस साधना की सार्थकता प्राप्त हुई। अन्ततः एक ऐसे शक्तिमान् पुरुष के रूप में वे प्रकट हुए, जिनके आश्रय में लाखों नर-नारियों ने तृप्ति पाई।

उनकी ज्ञानाश्रयी भक्ति, उनके जीवन के उत्तरकाल में शुद्धा भक्ति बनकर

उल्लसित होती रही। शनैः शनैः लीलावाद, शरणागति और अनन्य निष्ठा के स्वर को उनके अभंगों में प्राधान्य मिलने लग गया। एक अभंग में वे कहते है : "परम प्रभु को भला कौन पा सकता है ? एक वस्त्रखण्ड को हिलाकर हवा की जाय, तो दक्षिण-समीर का चंदन-रस-चर्चित स्निग्ध शीतल स्पर्श प्राप्त हो जायगा ? फूल की सुगंधि को कोई रस्सी से बाँध सकता है ? सर्वेश्वर महान् हैं। उनके प्रकृत स्वरूप को कोई कैसे जान सकता है ? मोती की तरल ज्योति पानी के घड़े में कैसे समायगी ? निःसीम आकाश को हथेली से ढँक पाना किसी के लिए संभव नहीं है। आंखकी पुतली से उसकी बिम्बग्राही ज्योति को अलग करके कहाँ रखोगे ? प्रभु और प्रभु की दयिता के प्रेम-कलह की लीला का कभी अन्त नहीं। तभीं तो हार मानकर ज्ञानदेव ने अपना प्रयत्न छोड़ दिया है और अपने को अर्पित कर दिया है, अपने प्रभु की इच्छा के पूर्णतः अधीन।"

(अभंग, ९३)

अनन्य-निष्ठा से ओत प्रोत आत्म-निवेदन का यही स्वर ज्ञानदेव के जीवन में निरंतर परिणति लाभ करता रहा।

ज्ञानदेव की भक्ति और साधना की प्रसिद्धि, उनके ग्रंथों की ही तरह पूरे महाराष्ट्र में फैलती रही। इसी बीच एक दिन वे पंढरपुर पहुँच कर बिठोबा के चरणों में उपस्थित हुए। तरुण महापुरुष को अपने बीच पाकर बिठोबा के भक्तों का समाज फूला नहीं समाया। चारों ओर धूम मच गई।

पंढरपुर के जिन वैष्णव भक्तों ने बिठोबा को अपने परमाराध्य के रूप में पीढी-दर-पीढ़ी से सेवित कर रखा था, उन्होंने ज्ञानदेव के पदार्पण को, उत्सव के रूप में आयोजित किया और उन्हें अपने प्रधान के रूप में समादृत किया। नाम-गान, कीर्तन-भजन और पूजन-अर्चन का समारोह मंदिर के पास-पड़ोस को लम्बे अर्से तक उद्वेलित करता रहा।*

---

* पंढ़रपुर का बिट्ठल-संप्रदाय ज्ञानदेब और नामदेव के बहुत पहले से ही चला आ रहा था। इस संप्रदाय के नेता थे आचार्य पुण्डलिक। बाद में इस संप्रदाय का नेतृत्व किया ज्ञानदेव और नामदेव ने। उन दिनों दल-के-दल तीर्थयात्री गण गुजरात, कर्नाटक, तैलंग और तामिक अंचल से सिमटकर पंढ़रपुर में लगातार एकत्र होते रहते थे। अलग-अलग क्षेत्रों की अलग-अलग भाषा बोलनेवाले इन वैष्णव भक्तों के हृदय-संवाद का मुख्स माध्यम था भजन-कीर्त्तन का समवेत गान ही। आर० डी० रानाडे ने बताया है कि कीर्तन की परिपाटी के विकास में पंढ़रपुर की इन तीर्थयात्रा—मंडलियों का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

भक्तवीर गोरा, जाति के कुम्हार थे; कृष्ण भक्ति के रसायन से ओतप्रोत था उनका संपूर्ण जीवन। बिठोबा के मन्दिर में जब वे भाव-मग्न होकर नृत्य करने लगते, तो श्रद्धालु दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ती। प्रभु का नाम-गान शुरू होता, तो वे वाह्य-ज्ञान-शून्य होकर, मयूर बन जाते। प्रहर पर प्रहर बीत जाते, पर उनका नृत्य थमता न था। समवेत जन मंडली भक्ति-रस के दिव्य आनन्द में ऊभ-चूभ होती रहती। बिठोबा के भक्तों में, उस समय, उनका नाम सर्वोपरि था।

अपने गाँव 'तेराधोकि' से पैदल चलकर, उस दिन, बिठोबा के दर्शनार्थ, गोरा भी आ पहुँचे थे। भक्त-चूड़ामणि ज्ञानदेव का नाम उन्होंने पहले से ही सुन रखा है। इसलिए भगवान् के जाग्रत विग्रह को दण्ड-प्रणाम निवेदित करने के बाद, वे ज्ञानदेव को देखने चले आये। ज्ञानदेव में गोरा कुम्हार ने क्या देखा यह तो वही जानें। पर उसी दिन से वे उनके प्रेम-पाश में सदा के लिए बँध गये। उम्र के लिहाज से गोरा ज्ञानदेव की अपेक्षा ज्येष्ठ थे। इसलिए उस मंडली में उन्हें 'गोरा चाचा' कहकर पुकारा जाता।

एक दूसरे साधक थे 'चांगदेव'। हठयोग साधने में वे दीर्घ काल तक एकाग्र भाव से तपस्या कर चुके हैं। योग-विभूतियों का यत्किंचित् प्रकाश भी उनमें समय-समय पर प्रकट हुआ है। पर अब तक अध्यात्म की जीवन-स्थिति और शान्ति वे पा नहीं सके हैं। अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भी एक दिन उसी बीच, पंढरपुर आ पहुँचे।

बिठोबाजी के मन्दिर के भीतरी आँगन में लोगों की भीड़ लगी है। भक्तों और शिष्यों के साथ ज्ञानदेव कीर्त्तन में तल्लीन हैं। मृदंग और करताल की ध्वनि, सुमधुर संगीत के समवेत कण्ठ-स्वर, नृत्य की अविचारित पदगति, सबने मिलकर ताल-ताल पर, विभोरता के दिव्य भाव-तरंग में भक्तों को ऊभचूभ कर रखा है। कोई रो रहे हैं, तो किसी की हँसी का अन्त नहीं। अद्‌भुत वातावरण उपस्थित हो गया है।

चांगदेव भी, अजाने ही, उस कीत्तन के तुमुल-समारोह में, योग दे बैठे। थोड़ी देर बाद, कीर्त्तन की समाप्ति के पश्चात्, हठयोगी चांगदेव को अपनी सुध आई और वे ज्ञानदेव की ओर बढ़ आये। वे एक टक देखते रहे बीस वर्ष की उम्रवाले उस तरुण महापुरुष की अनिंद्य कान्ति को, जिसके नेत्रों से और मुखमण्डल में दिव्य आभा की अजस्र वृष्टि हो रही थी। प्रभु के कीर्त्तन से विश्रान्ति पाकर, उस समय, तरुण भक्त ज्ञानदेव महाशान्ति के अपरंपार निस्तल समुद्र में, निमग्न हो चुके थे।

चांगदेव यह दृश्य देखकर आपा खो बैठे। उन्हें लगा कि सारे जीवन की

कठिन तपस्या के परिणाम-स्वरूप उन्हें जो योग-विभूतियाँ प्राप्त हो सकीं, भक्त के आनंद और शान्ति की तुलना में, उनकी तो कोई विसात ही नहीं।

उसी मुहूर्त्त से वे ज्ञानदेव के शरणागत हो गये। हठयोगी को नये सिरे से भक्ति की साधना सीखने के लिए, उस घटना ने प्रस्तुत कर दिया। फिर ज्ञानदेव के तिरोधान के बाद, उनकी कनिष्ठा बहन मुक्ताबाई ने चांगदेव को शिष्य के रूप में स्वीकृत कर उनकी साधना पूरी कराई।

ज्ञान-मार्ग के साधक 'विशोया' की ख्याति भी पंढरपुर के जनांचल में, उन्हीं दिनों, फैल चुकी थी। पास ही था उनका निवास-स्थान, 'बार्सी' नामक एक छोटे-से गाँव में। उन्होंने दीर्घकाल तक भगवान् शिव की आराधना की थी। ऋद्धि-सिद्धि की कुछ चामत्कारिक घटनाओं का उनसे सम्बन्ध जोड़कर अंचल की श्रद्धालु जनता ने अनेक दन्तकथाओं का प्रचार कर दिया था। देव-विग्रह में उनकी आस्था न थी। हाँ, अद्वैत-ज्ञान के प्रति उनकी स्वाभाविक रुचि थी। मूर्त्तिपूजा का विरोधी होने के कारण, उनकी दृष्टि में, पूजा, अर्चना, सेवा—आदि का कोई मूल्य न था। वैष्णवों के भावावेश, कीर्त्तन, नृत्य आदि की हँसी उड़ाने का कोई मौका वे चूकते न थे।

स्वभावतः पंढरपुर के बिठोबा-मंदिर में ज्ञानदेव के आगमन के बाद से पूजा, कीर्त्तन और सत्संग के समारोहों का ताँता बंध जाना, उन्हें खल रहा होगा। इसलिए प्रसंग चलने पर, वे संत ज्ञानदेव को लक्ष्य बनाकर, कभी-कभी, श्लेष-व्यंग्य के सहारे, कटूक्तियों का उपयोग भी कर लेते थे। कहते, "देखिये ना, योग मार्ग की दीक्षा लेकर, ज्ञानदेव प्रेम की गली में किस तरह बिलला रहे हैं? ज्ञान का राजमार्ग छोड़कर नाच-गान, झाड़-फानूश के पीछे भटकना कोई अच्छी बात है? इसी को कहते हैं, समझ का फेर।"

महाराष्ट्र के वैष्णव-भक्तों में ज्ञानदेव की कनिष्ठा बहन मुक्ताबाई की सुख्याति भी फैल रही थी। उनके अभंगों और पदों का गान, केवल मठों, मंदिरों में ही नहीं, गृहस्थ-घरों में भी, भाव पूर्वक किया जाता। किंतु ज्ञान-पंथी विशोया को मुक्ताबाई से भी चिढ़ थी। उनकी निंदा में भी वे रस लेते रहते।

विशोया की इन हरकतों के कारण वैष्णव-समाज में क्षोभ की लहर उठे, यह भी स्वाभाविक ही था। कहते हैं कि विशोया एक बार कभी आकाश-मार्ग से यात्रा करने की अपनी सिद्धि का प्रदर्शन कर चुके थे और तब से वे 'विशोया खेचर' के नाम से पुकारे जाने लगे थे। इधर, जब उनकी ओछी फब्तियों की भनक वैष्णवों तक पहुँची, तो समाज का रोषानल भड़क उठा और 'खेचर' के बजाय उन्हें 'विशोया खचरा' कहकर पुकारा जाने लगा।

किन्तु परम भागवत ज्ञानदेव पर इस त्वंचाहंच के वातावरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था । वे विशोया खेचर के पास अपने भक्तों को भेजकर उनका कुशल-समाचार पूछते रहते और उन्हें पंढरपुर आकर ठहरने का निमंत्रण देना भी न भूलते थे। विशोया से निकट संपर्क स्थापित करने के लिए ज्ञानदेव की चेष्टा लगातार जारी थी।

एक दिन ज्ञानदेव को किसी जानकार भक्त ने बताया कि विशोया केवल वैष्णव-समाज की ही निंदा नहीं करते, उनका कोप बिठोबा पर भी है। प्रभु के विग्रह को लक्ष्य करके भी वे अनाप-सनाप बकते रहते हैं !

इस बात ने ज्ञानदेव को विस्मित और विमूढ़ कर दिया। उन्होंने उस भक्त से पूछा—'यह कैसे हो सकता है ? ज्ञानी साधक होकर भी विशोया क्या सचमुच ऐसा कर सकते हैं ? यह तो मति-भ्रम का ही परिणाम हो सकता है ! क्या वे प्रभु के विग्रह को निरी मूर्ति मानते हैं ? उनके चैतन्यमय प्रकाश का आभास उनकी निगाह में अब तक कभी नहीं आया ? तब तो कोई-न-कोई व्यवस्था करनी ही होगी। आज ही तुम में से कोई 'बासी' चले जाओ और विशोया के हाथ में मेरा यह पत्र दे आओ।"

उस पत्र में ज्ञानदेव-रचित अभंग की कुछ पंक्तियाँ अंकित थीं। वह अभंग उन्होंने उसी समय रचा था। उसका भाव निम्नलिखित था—"मैं उस महालिंग को भी देख रहा हूँ, जिसका आधार है अनन्त आकाश और जलढरी हैं निस्तल महासागर। शेषनाग की तरह सारी पृथ्वी का भार उठानेवाले महालिंग पर मेघलोक से अनवरत जल बरस रहा है; नक्षत्र-राशि पुष्प-दल की भाँति समर्पित हो रही है; चन्द्रमा फल की तरह निवेदित है और सूर्य आरती की तरह। अपनी व्यक्ति-सत्ता को परम दीन-भाव से अर्घ्य के रूप में विसर्जित किये बिना कोई इस महालिंग को कैसे देख सकता है ? तभी तो मैं अपने आनन्द के महाभाव के सहारे उनकी आराधना करता हूँ और अपने हृदय के आसन पर ध्येय रूप में उस परम सत्ता को स्थापित करता रहता हूँ।"

(अभंग ९९)

ज्ञानदेव का वह पत्र लेकर उसी समय कोई भक्त बासी गाँव को रवाना हो गया।

उसी रात विशोया ने भी एक विचित्र स्वप्न देखा। उनके आराध्य महेश्वर उन्हें रुष्ट स्वर में डाँटकर कह रहे थे—"अरे, साधन करते-करते तुम बूढ़े हो गये, मगर तुम्हारा अभिमान अब तक नहीं गया ? घट को फोड़े बिना, आकाश के साथ मिलकर एक होना क्या संभव है ? अपने को अपने ही द्वारा,

चारों ओर से घेरकर, तुमने अलगाव का घेरा रच लिया है ? मिट्टी के तुच्छ घड़े की गिनती ही क्या ? उसके फूटने से क्या बिगड़ जायगा तुम्हारा ? देखो ज्ञानदेव को ! उसे तो अपना स्वर्ण-घट फोड़ने में भी कोई हिचक नहीं हुई। उसने अपने को मिटाकर अपना परम प्राप्य, मुहूर्त्त भर में, पा लिया। जा, जा, उसी की शरण ले-ले। उसी से अपना अभीष्ट प्राप्त करले। विलम्ब मत कर। ज्ञानदेव के पास अभी जा।"

स्वप्न में सुने गये अन्तिम वाक्य के साथ विशोया की नींद खुल गई। वे तत्काल, रातों रात, पंढरपुर की ओर दौड़ पड़े। भोर होते-होते वे ज्ञानदेव के समक्ष उपस्थित हुए और उनके चरणों में लोटने लगे। उनके दोनों नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा वहती जा रही थी।

'सुबह-सुबह ये वृद्ध महाशय कौन आगये ?' ज्ञानदेव भौंचक हुए। 'धरती पर इस तरह ये लोट-पोट क्यों हो रहे हैं ?' उनके मन में ऐसा प्रश्न स्वभावतः उठा। उन्होंने स्निग्ध, कोमल स्वर में पूछा—"महाशय, आप कौन हैं और कहाँ से आ रहे हैं ? इस प्रत्यूष-बेला में, इस तरह आर्त्त होकर, आप यह अद्‌भुत आचरण किस अभिप्राय से कर रहे हैं ?'

'प्रभो, मैं हूँ विशोया खेचर।'

'आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? आप तो इस अंचल में सर्वमान्य महापुरुष के रूप में पूजित और विश्रुत हैं। मुझसे वय में भी बहुत बड़े हैं। तब ऐसा क्यों !'

'प्रभो, आज मैं दो प्रार्थनाओं के साथ उपस्थित हुआ हूं। आप कृपया इस शरणागत को अपने चरणों में आश्रय दें और आज से मुझे 'विशोया खचरा' कहकर ही कृपया पुकारें। मैंने सचमुच उसी नाम को सार्थक करनेवाले काम अब तक किये। मैंने भक्त और भगवान् दोनों की निंदा की। इस दुष्कर्म का प्रायश्चित तभी होगा, जब सबलोग मुझे अपशब्द के साथ ही पुकारें !"

'विशोया खेचर' के इस दैन्य और ग्लानि ने ज्ञानदेव को विगलित कर दिया। उन्होंने उन्हें उठाकर छाती से लगा लिया। वह दिन विशोया के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण दिन था। ज्ञानदेव की कृपा से उन्हें परम प्राप्य प्राप्त हो गया। बाद में उन्हीं विशोया के शिष्य के रूप में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संन्त कवि नामदेव ने भक्ति-आन्दोलन के नये रूप को प्रकाशित किया।

ज्ञानदेव के अनुयायियों ने बिठोबा के जाग्रत विग्रह को महाराष्ट्र में वैष्णव-धर्म का केन्द्रिक तीर्थ बनाने में अपरिमेय उत्साह का परिचय दिया। इन

वैष्णव भक्तों में सभी वर्ग और सभी वर्ण के लोग थे। इनमें नामदेव अन्यतम थे। परवर्ती काल में वे महाराष्ट्र के लोक गुरु के रूप में सर्वमान्य हुए। समवत् माली, नरहरि स्वर्णकार, चोखा चाण्डाल जैसे अनेक वैष्णव साधक, उस समय, ज्ञानदेव की कृपा से कृतकृत्यता प्राप्तकर लोक-सम्मान के भागी हुए। समाज के निम्न-स्तर से उठकर, वैष्णव भक्तों के बीच भेदभाव समाप्त करने में इन महापुरुषों ने जो स्मरणीय योगदान किया, महाराष्ट्र की जनता उसे अब तक भूल नहीं पाई है।

नामदेव के संबंध में ऐसी लोक-प्रसिद्धि है कि अपने पूर्ववर्ती जीवनकाल में वे दस्यु-वृत्ति के जरिये अपने आश्रितों का भरण-पोषण करते थे। लूट-मार के धंधे की ही एक घटना के परिणाम-स्वरूप इनमें तीव्र वैराग्य का उदय परवर्तीकाल में हुआ था। इसके बाद वे अचानक एक दिन बिठोबाजी के मंदिर में आकर रोते-रोते निराहार बैठे रहे। दिन-रात रोते रहने के कारण उनकी आँखें अन्धत्व की दशा के आस-पास पहुँच गईं। मगर भगवान् की कृपा, इसके बावजूद, उन्हें प्राप्त नहीं हो सकी। अन्तर का अन्धकार अब भी जैसा-का-तैसा था।

इसी बीच पंढरपुर में ज्ञानदेव की ज्ञानोज्ज्वल मूर्त्ति का अचानक आविर्भाव हुआ। नामदेव उनके सम्मुख हाथ जोड़कर एक दिन खड़े हो गये। उन्होंने विनती की: "प्रभो मेरे उद्धार का पथ आपकी ही कृपा से निर्दिष्ट हो सकता है। मुझपर कृपा की जाय। जीवन अपने पिछले पापों के बोझ को अब अधिक दिनों तक ढो नहीं सकता। आपकी शरण न मिलने पर इसका अन्त हो जाना ही एक मात्र उपाय जान पड़ता है।"

ज्ञानदेव ने आर्त्त शरणागत को ढाढस देकर आश्वास्त किया और स्वभाव-कोमल स्वर में कहा: "अरे, इस तरह रो-रोकर अन्धा हो जाने से तो काम नहीं चलेगा। आँखों में श्रीकृष्ण-कृपा का अंजन तो आँजते रहो। चक्षुष्मान् बनो, वत्स! बिठोबा के चिन्मय रूप का दर्शन, तुम्हें, तभी तो प्राप्त होगा। प्रभु बड़े कृपालु हैं। गुरु के मन्त्र को अपनी अविरत साधनासे जब चैतन्यमय करलोगे, तो उनकी कृपा तुम्हें अवश्य प्राप्त होगी। क्या, तुमने गुरु का वरण कर लिया है?"

"मैं, तो आपके अतिरिक्त किसी और को नहीं जानता हूँ, प्रभो!"

"लेकिन मैं तो तुम्हारा गुरु नहीं हो सकता। तुम्हारे निर्दिष्ट गुरु तो यहाँ से थोड़ी ही दूर पर रहते हैं।"

"प्रभो, वे कौन हैं? उनके दर्शन मुझे कहां होंगे? कैसे खोज पाऊँगा उन्हें मैं?"

"तुम आज ही बार्सी नामक पड़ोस के गाँव में चले जाओ। परम भागवत

विशोया खेचर वहीं रहते हैं। ज्ञानी साधक इस समय भगवत् प्रेम के महासागर में डूबे रहते हैं। वे ही तुम्हें दीक्षा देंगे। तुम जल्द जाकर उनके शरणागत होओ। मैं तो अब जानेवाला हूँ। पर तुम्हें वचन देता हूँ कि बिठोबा की कृपा तुम्हें उपयुक्त समय पर अवश्य प्राप्त होगी।"

सो, नामदेव को अपना परम प्राप्य प्राप्त हुआ, विशोया खेचर की ही कृपा से। विशोया ने उन्हें दीक्षा दी और उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन-पथ पर चलकर नामदेव के जीवन में विस्मयकर रूपान्तर घटित हुआ।

आधी सदी बाद इसी नामदेव के नेतृत्व में महाराष्ट्र के वैष्णव-भक्तों ने भारत-व्यापी भक्तिधारा को प्रवाहित करने में सफलता पाई।

पंढ़रपुर में रहकर वैष्णव भक्तों को कुछ समय तक आह्लादित करने के बाद, ज्ञानदेव की इच्छा हुई कि भारत के कुछ प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा भी कर ली जाय। उस समय तक उनकी कीर्त्ति दूर-दूर तक फैल चुकी थी और उनसे पहले, उनका यश उन तीर्थों में पहुँच चुका था। उन्हें बुलाने के लिए स्थान-स्थान से निमंत्रण आ रहे थे। बहुत-सारे निमंत्रण तीर्थ-नगरों के साधुओं,श्रद्धालु भक्तों और सामन्तों ने भेजे थे। तीर्थ-यात्रा के ही क्रम में उन अनुरोधों की पूर्त्ति भी होनी थी। अन्ततः ज्ञानदेव एक दिन तीर्थ-यात्रा के लिए चल पड़े। उनके साथ नामदेव, गोरा, विशोया और कई अन्य भक्त भी विदा हुए। इस परिव्राजन के क्रम में अनेक समकालीन भक्तों पर ज्ञानदेव ने अपनी कृपा की वृष्टि की।

परिव्राजन की समाप्ति के बाद तीर्थ-यात्रियों का वह दल पुनः पंढ़रपुर लौट आया। ज्ञानदेव की रचनाएँ उस समय महाराष्ट्र के घर-घर में पहुँच चुकी थीं। उनका नित्य-पाठ और नित्य-गान महाराष्ट्र के जनसाधारण दिनचर्य्या का अंग बन चुका था। मगर ज्ञानदेव उस समय तक भी ऐहिक जीवन का बीसवाँ वर्ष ही पार कर सके थे।

ज्ञानदेव का अन्तर ज्ञानोज्ज्वल भगवद्-भक्ति के प्रेम-रस से ओत प्रोत हो चुका था। प्रभु को उनके माध्यम से जो कुछ करना था, वह संभवतः पूरा हो चुका है। ज्ञानदेव को इसका भान हो गया था कि उनका कर्म निः शेष हो चुका है।

ईस्वी सन् १२९६ की एक पवित्र मधुर उषा बेला। ज्ञानदेव आलन्दि ग्राम के अपने आत्मीय भक्तों को अपने चारों ओर एकत्र देखकर संतुष्ट और प्रसन्न हैं। अपने बचपन की लीला-भूमि आलन्दि के प्रेम ने उन्हें पंढ़रपुर से वापस खींच लिया है। यह शरीर जहाँ पल-बढ कर प्रभु की इच्छा की पूर्त्ति का साधन बना, उसी स्थान को इस शरीर पर अधिकार होना चाहिए। अपना शरीर वे उसे ही सौंपकर ऐहिक लीला का संवरण करेंगे। उनके मुख-मण्डल पर कृत-

कृत्यता का जो आनंदालोक व्याप्त है, उसके पीछे महापुरुष की संभवतः यही भावना काम कर रही होगी। गुरु निवृत्तिनाथ की चरणधूलि उन्होंने मस्तक पर धारण की और अपनी प्रसन्नोज्ज्वल आँखों से एकत्र भक्त-समूह को देखा। इसके बाद वे आंखें सदा के लिए मुँद गईं।

भारत की महिमा का एक उज्ज्वल आकाशदीप, महाराष्ट्र की वीर-प्रसविनी पूण्यभूमि को अपने आशिर्वादमय आलोक से प्रक्षालित कर सहसा ऊपर की ओर उठा, और देखते-देखते, अनन्त नीलिमा की अकाल-ज्योति में मिलकर एक हो गया।

मातृ-साधक राम प्रसाद

शक्ति-साधना की विश्रुत भूमि बंगाल के जन-मानस में राम प्रसाद के पदों की अमिट छाप ने, कुछ ही सदियों के अल्प समय में उद्‌भिन्न जातीय संस्कार का रूप धारण कर लिया है। अशेष जगत् की शक्ति-स्वरूपा अधिष्ठात्री की मातृ-मूर्ति के आराधक, गायक, याज्ञिक और कवि के रूप में उनकी लोक-प्रियता और प्रतिष्ठा, बंगला-भाषी लोक-समाज में निश्चय ही अन्यतम है। कहते हैं कि तन्त्र के गूढ़, गहन साधन-लोक में उनका प्रवेश अनायास ही हुआ था। दिव्य अनु-भूतियों की जो अमृत-राशि उन्हें उस लोक के विचरण से प्राप्त हुई, उसे प्राणों के गीत बनाकर, वे दिग्-विदिग् में आजीवन वितीर्ण करते रहे। यही कारण है कि उनके मधुस्रावी 'प्रसादी गान' सभी वर्गों के कण्ठहार बन गये हैं। पण्डित-मूर्ख, अमीर-गरीब, नर-नारी, ग्राम-नगर के अन्तर को, उनके गीतों के स्वच्छ, स्वच्छन्द प्रवाह ने धो-पोंछ कर, जैसे, बहा दिया है। मातृ-नाम के मधुर सार-स्वत प्रसाद से तृप्त होने की इच्छा रखनेवाले हर बंगलाभाषी को आप्यायित करने की शक्ति राम प्रसाद के गीतों में है—यह तो मानना ही होगा।

शक्तिवाद और भावुकता का समन्वित उल्लास बंगाल की समाज चेतना को ही नहीं, उसकी उपासना-पद्धति को भी आरंभ से ही प्लावित किये रहा है। राम प्रसाद के गीतों में भी उसी उल्लास-प्लावन के हिल्लोल हैं। तभी रुक्ष, कठोर कौल साधना को भक्ति और प्रेम के उज्ज्वल रस से स्निग्ध और मधुर बना देने में उन्हें, ऐसी आशातीत सफलता मिल सकी।

राम प्रसाद अपनी इष्ट देवी को 'माँ-श्यामा' कहकर पुकारते हैं। तत्त्व-दर्शी साधक की नजर में, वही हैं ब्रह्मरूपिणी महाशक्ति भी। इस महाशक्ति का आवाहन रामप्रसाद बारंबार करते हैं और चिन्मय रूप में उनके आविर्भाव का अनुभव भी, लगता है कि उन्हें अपने प्रत्येक गीत में प्राप्त हुआ है। तभी ऐसा प्रतीत होता है उनके गीतों में किसी ऐसे दुधमुंहे बेटे के हठ का जोर है, जिसे अपने लाड़लेपन के भरोसे ने मुँह लगा, जिद्दी और ढीठ बना दिया है। देवी भले ही असुर विनाशिनी, भयंकरी और प्रलय-कोपणा भी हुआ करें, पर अन्ततः वह रामप्रसाद की माँ ही तो हैं? यही विश्वास रामप्रसाद के गीतों में सर्वत्र

ओतप्रोत है। माँ की गोद में बैठा हुआ विश्रब्ध बालक, जब तक अपनी माँग माँ से पूरी नहीं करा लेता, तब तक माँ के आंचल का पल्ला पकड़े मचलता रहता है। माँ की डाँट, मार, उपेक्षा, भर्त्सना, अनुनय की भी बिसात नहीं कि वह उस हठी से अपना पिण्ड छुड़ा ले। रामप्रसाद के गीतों की एक-एक लड़ी, माँ की गोद में बैठकर इसी तरह गूँथी गई-सी लगती है और वह लड़ी, अब प्रत्येक बंगला-भाषी कण्ठ को अपने आलिंगन में बरबस आबद्ध कर चुकी है।

'प्रसादी गान' बंगला-साहित्य का अक्षय और अपूर्व अवदान है। बंगाल के भक्तों साधकों ओर श्रद्धालुओं की आध्यात्मिक दृष्टि को उसने बड़ी मात्रा में प्रभावित और निर्धारित किया है। एक ओर यदि उसने कमलाकान्त, वामा क्षेपा और श्री रामकृष्ण सरीखे आध्यात्मिक महापुरुषों को उद्दीपित और विभोर किया है, तो दूसरी ओर जन-सामान्य नर-नारी की आध्यात्मिक रसिकता को भी उद्‌बुद्ध किया है। बंगाल के जिस किसी अंचल में हम चले जायँ, प्रसादी गान की सांगीतिक मूर्च्छना, हमारी आगवानी में, वहाँ पहले से ही विद्यमान मिलेगी। घाट-बाट, ग्राम-नगर, पर्वत-अरण्य, हाट-बाजार—सर्वत्र—उसकी छटा छाई हुई है। किसान, मजदूर, माझी, राही, तीर्थ-यात्री और पंसारी का भेद नहीं करता 'प्रसादी गान'। उसका सम्मोहन सब को एकत्र कर अपने में समेट लेता है।

भागीरथी नदी के पूरबी कछार पर, अवस्थित हाली शहर में, बंगाब्द ११२७ के आश्विन मास में, रामप्रसाद धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। चैतन्य महाप्रभु के दीक्षा-गुरु वैष्णवाचार्य ईश्वरपुरी की जन्मभूमि भी उसी अंचल में थी। श्याम और श्यामा के नामामृत से सिंचित उसी शस्य-श्यामल भूभाग में रामप्रसाद के पिता श्री रामराम सेन का छोटा-सा वैद्य-परिवार था।

सेन महाशय धर्म-प्राण पुरुष थे। साधन-भजन के प्रति उनके उत्साह की पास-पड़ोस में चर्चा थी। प्रसिद्ध वैद्य तो वे थे ही, साथ-साथ उनके पूर्वपुरुषों की प्रसिद्धि, तान्त्रिक क्रिया-कलाप को लेकर भी, कम न थी। श्री रामराम सेन की प्रतिष्ठा में उस चामत्कारिक प्रसिद्धि का हाथ अवश्य था।

पिता—रामराम सेन—की इच्छा थी कि राम प्रसाद पढ़–लिखकर अपने पुश्तैनी पेशे में लग जाय। वैद्य का व्यवसाय लोक-सेवा की दृष्टि से भी उत्तम माना जाता है और द्रव्योपार्जन की दृष्टि से भी। राम प्रसाद को वैद्य-कुल का सहज संस्कार विरासत में स्वतः प्राप्त था, फिर उनकी सूझ-समझ और बुद्धि भी असाधारण थी। अतः वैद्य के पेशे में प्रवीणता और प्रसिद्धि अर्जित करते उन्हें देर नहीं लगती। इतना तो स्पष्ट ही था। किन्तु पिता की उस इच्छा का कोई परिणामकारी प्रभाव बालक रामप्रसाद ने जाहिर नहीं होने दिया।

श्री रामराम सेन के मेधावी पुत्र का मन घर-संसार के प्रति आरंभ से ही उचटा-उचटा रहता है। जागतिक योग-क्षेम का आकर्षण उसे किसी भी दिन उत्साहित नहीं कर सका। इसी जन्मजात वैराग्य के अकेलेपन में वह धीरे-धीरे सयाना होता रहा।

बाईसवें वर्ष में उसने प्रवेश किया ही था कि पिता ने चटपट उसका विवाह करा दिया। कौन जाने शादी कर देने के बाद, उसका मन घर-आँगन में लग जाय। कम-से-कम माता-पिता को ऐसी आशा अवश्य थी। इसी आशा से सुलक्षणा नव वधू 'सर्वाणी' को वे विवाह के तुरत बाद अपने घर ले आये थे। आरंभ में उनका वह भ्रम सच होता दीख पड़ा हो, यह भी संभव है। कुछ समय के बाद, कुल-परंपरा के अनुसार, वर और वधू को, कुल-गुरु से, शक्ति मंत्र की दीक्षा भी दिला दी गई।

इस कर्त्तव्य-पूर्त्ति के कुछ ही महीने बाद, एक दिन, अकस्मात्, श्रीरामराम सेन परलोकवासी हुए और उनके आकस्मिक निधन ने रामप्रसाद के संसार में जैसे एकाबारगी, उलट-पुलट कर दिया।

पिता जब तक जीवित थे, उनके सहारे, सब कुछ यथावत् चलता रहा। कम-से-कम अन्न-वस्त्र की चिन्ता से रामप्रसाद को कभी चिन्तित नहीं होना पड़ता था। किन्तु अब घर-गिरस्ती की नैया कैसे चलेगी? रामप्रसाद सहसा चिन्तित हो उठे। कोई-न-कोई धन्धा ढूँढना ही पड़ेगा, अब! दूसरा उपाय है भी तो नहीं। अन्ततः जीविका की खोज में एक दिन वे कलकत्ता विदा हुए।

काव्य और दर्शन में रामप्रसाद की सहज पैठ थी। गान और कविता लिखते रहने का व्यसन उसी सिलसिले में उनपर हावी हो चुका था। फिर उर्दू-फारसी के बिना तो उन दिनों किसी को शिक्षित मानना संभव ही नहीं था। सो, रामप्रसाद ने भी उर्दू-फारसी सीख रखी थी। किन्तु इन सारे गुणों के बावजूद कोई अच्छी चाकरी तभी मिल सकती थी, यदि कोई प्रभावशाली स्थानीय व्यक्ति सहायता कर दे। रामप्रसाद का किसी ऐसे व्यक्ति से परिचय न था, जिसे वह उस बड़े नगर में ढूँढकर आश्वस्त और कृतकार्य होते। इस अपरिचित नगर में उन्हें किसी से जान-पहचान तो है नहीं। मगर किसी प्रभावशाली परिचित व्यक्ति की सहायता न मिलने के बावजूद, उन्हें तीस रुपये मासिक वेतन की एक नौकरी गराणहाटा के जमींदार के दफ्तर में मिल गई। मुहर्रिर का कामकाज सँभालना था और उस समय तीस रुपयों की रकम की भी अपनी बिसात थी। कम-से-कम एक मध्यवर्गीय परिवार की साधारण आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए वह रकम उन दिनों, यथेष्ट मानी जा सकती थी।

श्यामा माँ की कृपा से वैद्य-परिवार के भरण-पोषण की युक्ति निकल आई। रामप्रसाद अन्न-वस्त्र की चिन्ता से मुक्त हो गये। दफ्तर में बैठकर वे बही-खाते लिखा करते हैं। किन्तु हिसाब के अंक लिखने में कविचित को जब असह्य कष्ट का अनुभव होने लगता, तो उसे सान्त्वना देने के लिए, गीत भजन और काव्य की अजस्र धारा आप ही उमड़ने लग जाती। हिसाब की मरुभूमि संगीत की सरस्वती का मार्ग रोकने में अन्ततः कामयाब नहीं हो पाती थी। रामप्रसाद के द्वारा लिखे जानेवाले बही-खातों के अधिकांश पृष्ठ, अनजाने ही, गीतों और कविताओं से भरते चले गये थे!

माँ की भक्ति, रामप्रसाद के स्वभाव की सहज प्रवृत्ति थी। श्यामा के चरणों का श्रद्धालु उपासक, माँ से बिछड़े शिशु की तरह, उदास, उन्मन और आकुल होकर, दफ्तर के कागजी अंबार में दिन भर, खोया रहता है। मुहर्रिर के काम में उसका मन लगे, तो कैसे? और श्यामा माँ भी अपने ऐसे बेटे को किसी पर छोड़कर निश्चिन्त हों? गान, भजन और काव्य की संगीत-मन्दाकिनी के रूप में, उनका पुत्र-प्रेम, रामप्रसाद की लेखनी के सहारे, रह-रह कर, बरस जाती है।

जमींदार के दफ्तर की रामप्रसादी हिसाब-बहियों में हिसाब की रकम की भले ही कमी हो, मगर माँ के वात्सल्य-सागर में काव्य-रस और संगीत कल्लोल की कभी कोई कमी न होने पाती। मगर हिसाबी दुनिया के लोग हिसाब के घाटे को, काव्य-रस के मुनाफे से पूरा करने की सहृदयता दिखा नहीं पाते। दफ्तर के कर्मँ-चारीगण आपस में दिन भर काना-फुसी करते रहते। बही-खातों को गीत-कवित्त लिख-लिखकर बर्बाद करना, उनकी दृष्टि में, अक्षम्य अपराध था। यह कोरा पागलपन ही नहीं, परले सिरे की हरामखोरी भी तो है। अन्ततः मुनीम के कानों तक किसी स्वामी भक्त ने रामप्रसाद की करतूतों की कहानी, सुयोग पाकर, एक दिन, पहुँचा ही दी।

फिर तो इस नये मुहर्रिर के खिलाफ एक-न-एक शिकायत प्रतिदिन पहुँच जाती। मुनीम सुन-सुनकर अर्से से जला-भुना बैठा था। अब उसके धैर्य ने एक बारगी जवाब दे-दिया। अपने खास कमरे में उस दिन मुनीम ने रामप्रसाद को बुलवा मँगाया।

इधर बही-खातों के भारी भरकम बस्तों के साथ रामप्रसाद, काँपते-पाँवों, मुनीम के कमरे में दाखिल हुए और उधर उनके कार्यालयी सहयोगियों में गहमा-गहमी मच गई। सर्वसम्मति से अन्ततः निष्कर्ष निकला कि आज रामप्रसाद की नौकरी सदा के लिए समाप्त हो जायगी। बेचारे के पास जीविका का कोई दूसरा साधन नहीं है। उतने बड़े परिवार का भरण-पोषण कैसे कर सकेगा?

मगर एक-न-एक दिन तो यह होना ही था जिस काम के लिए आप मासिक वेतन पाते हैं, उस काम के साथ खिलवाड़ करना, कायदे की बात नहीं। मुनीम महाशय ने सुधरने का अवसर तो दिया, था, पर रामप्रसाद ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। अब जब बुलावा आ गया है, तो खैर नहीं।

मुनीम महाशय ने लाल-लाल आँखों से रामप्रसाद की ओर देखा और एक शब्द कहे बगैर बही-खातों का तख्मीना करने लगे। हिसाब की बहियों में कविता की पंक्तियों को ढूढने के लिए बहुत अधिक परिश्रम की आवश्यकता उन्हें नहीं हुई। मगर उन पंक्तियों को सरसरी निगाह से देख जाना ही पर्य्याप्त न था—ऐसा उनकी भावभंगी से जाहिर होता जा रहा है। फिरतो अंगारे जैसी लाल आँखों को आर्द्र करनेवाले अश्रु-विन्दु भी दिखाई देने लगे। मुनीम महाशय के क्रोधानल को कृतज्ञ सहृदयता के अश्रुजल के रूप में परिवर्तित कर देनेवाले उस गान का आरंभ सचमुच अनूठा था।

'आमाय दाओ माँ तबिलदारी।..................." "माँ शंकरी, मैं नमकहराम नहीं हूँ। मुझे अपना तहबीलदार बनाकर, इस तथ्य का तख्मीना करलो, माँ! मेरे लिए यह असह्य हो रहा है कि मेरी आँखों के सामने तुम्हारी कृपा के खुले भण्डार को लोग मनमाने ढंग से लूटते रहें। इस लूट को रोकने की जिम्मेदारी तुमने अपने जिस तहबीलदार को सौंप रखी है, वे त्रिपुरारि तो खुद ही भोले हैं। तुरत प्रसन्न हो जानेवाले आशुतोष तो खुद ही दोनों हाथों अपना सबकुछ लुटानेवाले उदार, अवढर हैं। फिर भी तुमने उन्हीं पर जमा-पूँजी की जिम्मेदारी रख छोड़ी हैं। उन्हें, उस जिम्मेदारी को निभाने के बदले, अपना आधा शरीर भी, जागीर के तौर पर, तुमने दे दिया। मगर उनका माहवार खर्च पूरा करना तो आसान नहीं। उनकी माँग बहुत भारी है। उस भारी भार को उठा लेना पहाड़ की बेटी के ही बूते की बात हो सकती थी। पर मेरी माँग तो छोटी-सी है। तुम्हारे पाँवों की धूल के अतिरिक्त और तो कुछ मैं लूँगा ही नहीं। यों तुम्हारे पिता धराधर (हिमालय पहाड़—धरती को धारण करने वाले) हैं। यह जानकर भी मैं मात रहूँगा ही। अपने बूते पर, तुम्हारी चरण धलि भी, मैं तभी पाता, यदि मेरे पिता भी धराधर होते। इसलिए बात मेरे बूते की नहीं, तुम्हारी कृपा की है।"

कविता के उपर्युक्त भाव को हृदयंगम कर लेने के बाद मुनीम महाशय बही हाथ में लिए, रामप्रसाद के साथ, सीधे जमींदार के कक्ष में जा पहुँचे। जमींदार मित्र-महाशय श्रद्धालु और उदार पुरुष थे। उन्होंने देर तक उन्हीं पंक्तियों पर निगाह टिकाये रखी। फिर रामप्रसाद को अपनी स्निग्ध दृष्टि से आश्वस्त करते हुए

उन्होंने कहा—

"माँ का भक्त सचमुच नमक हराम नहीं हो सकता। मगर मुहर्रिर के काम की तरह, तहशीलदार का काम भी उसके बूते की बात नहीं। रामप्रसाद, तुम्हें जो तीस रुपये माहवार मिल रहे है, वे इसी तरह जीवन पर्य्यंत मिलते रहेंगे। महीनों के अन्त में अपना वेतन कार्यालय से प्राप्त कर लिया करना। मगर अब तुम्हें हिसाब-बही लिखने की साँसत से छुट्टी मिल गई। घर पर परिवार के साथ जाकर रहो और श्यामा माँ के गीत यों ही रचा करो। आशुतोष की स्वामिनी अपने बच्चों का ख्याल जरूर रखती हैं।"

दूसरे दिन रामप्रसाद कलकत्ता छोड़कर, अपने जन्म-स्थान हालिशहर की ओर रवाना हुए। मित्र महाशय की कृपा से भोजन वस्त्र की चिन्ता से वे मुक्त हो गये हैं। माँ श्यामा का नाम-गान जप और ध्यान निर्बाध गति से चल रहा है। भक्ति के समुद्र में जब कभी भावों के कल्लोल उठते हैं, तब भजन और गान की पंक्तियाँ, अनायास ही प्रकट हो जाती हैं। इसमें समय-असमय के कारण कोई फर्क नहीं पड़ता। कभी गंगा में पैठकर स्नान करते समय, कभी घर के कोने में बैठकर ध्यान-पूजा करते समय और एकान्त में पर्यटन करते समय, भाव-तन्मयता की विभोर-दशा में, अजाते ही, अलक्ष्य से उतरनेवाली गुनगुनाहट की लय, किस अविचारित प्रक्रिया के सहारे सार्थक शब्दों की सांगीतिक पंक्तियाँ बन जाती है, इसका पता स्वयं रामप्रसाद को भी तो नहीं है।

किन्तु इस तथ्य का पता उन्हें अवश्य हैं कि माँ श्यामा ने उनके कण्ठ–स्वर में कोई मोहिनी मिठास भर दी है। माँ की कृपा का अमृत, उनके हृदय में, चन्द्रोदय-उल्लसित ज्वार की तरह रह-रह कर उफनता रहता है। वैसी घड़ी में उनके गीतों को, उनके मुख से सुन लेनेवाला कोई भी मानव-प्राणी अनभिभूत नहीं रह पाता। यह बात केवल शिक्षित मध्यवर्गीय परिवार के भावुक सदस्यों तक सीमित नहीं, नाव खेनेवाले अपढ धीवर, खेतों में मिहनत-मजदूरी करके दिन बितानेवाले खेतिहर और चौपायो के साथ घास के मैदानों में विचरण करनेवाले चरवाहे भी रामप्रसाद के गीनों के ताल पर झूम उठते हैं। छाती भर जल में खड़े होकर, प्रातः काल की स्वर्णमयी गंगा में स्नान करते समय, रामप्रसाद ने अपने गीतों की पंक्तियों को, भावमग्न होकर दुहरानेवाले धीवरों की नौका-पंक्ति को अनेक बार विस्मय-विमूढ़ होकर देखा है। ऐसे ही नवेरों के मुख से रामप्रसाद के गीत नदियों के देश—बंगाल—के घर-घर में यदि पहुँच गये, तो

यह स्वाभाविक ही था ।

नवद्वीप के सम सामयिक इतिहास-पुरुष महाराजा कृष्णचंद्र ने रामप्रसाद के गान की कुछ अनमोल पंक्तियों को किसी नौकाचारी धीवर के मुख से ही पहले-पहल, सुना था । महाराजा कृष्णचंद्र माँ श्यामा के भक्त थे । उदार आश्रय-दाता और कला-मर्मज्ञ राज-पुरुष के रूप में उनकी ख्याति लोक प्रियता और शील के प्रति आकृष्ट था । बंगाल के ही नहीं, पास–पड़ोस के दूसरे प्रान्तों के भी कला सेवियों, विद्वानों और रसज्ञों को उन्होंने आश्रय दे रखा था ।

इसलिए जिस धीवर से उन्होंने रामप्रसाद का गान पहले-पहल सुना था, उसी से पूछकर रामप्रसाद को खोज निकालने में वे अन्ततः सफल हो गये । संवाद पाकर रामप्रसाद को भी महाराजा कृष्णचंद्र से मिलने में प्रसन्नता ही हुई । थी, यद्यपि श्यामा माँ के इस भक्त को उनका राज-सभासद बनकर नवद्वीप में रहना पसन्द नहीं हुआ ।

रामप्रसाद की रचना के रूप में 'विद्यासुंदर' नामक एक नाटक की प्रसिद्धि है । यह नाटक रचयिता के द्वारा महाराज कृष्णचंद्र को समर्पित किया गया था—ऐसा उल्लेख मिलता है । नवद्वीप के कुछ प्राचीन अवशेषों को स्थानीय अनुश्रुतियाँ रामप्रसाद के नाम से जोड़ती हैं । इससे ऐसा अनुमान स्वाभाविक है कि महाराजा कृष्णचंद्र और नवद्वीप से रामप्रसाद का संबंध अवश्य था । उसी क्रम में महाराजा ने उस मातृ-साधक महाकवि को सौ बीघे जमीन का एक टुकड़ा, सम्मानित के तौर पर प्रदान कर रखा था ।

उन्हीं दिनों की बात है कि नवाब शिराजुद्दौला नवद्वीप अँचल की नौका-यात्रा के क्रम में हालिशहर के पास बहनेवाली गगा की धारा से होकर गुजर रहे थे । शाम का समय था । उनकी नजर रामप्रसाद पर पड़ी। वे गंगा-तट पर एकाकी बैठे, मां श्यामा की स्तुति में स्वरचित भजन का गान करने में तन्मय थे। नवाब गीत सुनकर मुग्ध हो गये। उन्होंने रामप्रसाद से निकट परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से नाव को घाट पर लगा देने का आदेश दिया। नवाब शिरोज-द्दौला को पहचानने में रामप्रसाद को भी कठिनाई न हुई। नवाब के अनुरोध पर वे उनकी नौका में आ बैठे ।

मुसलमान नवाब की जातीय रुचि का उन्हें अहसास था। अतः आरंभ में वे उर्दू–फारसी के गीत गाकर उन्हें सुनाते रहे । पर नवाब साहब की ललक तो रामप्रसाद के स्वरचित बंगलाभाषा-मय गीतों के ही प्रति थी। उन्होंने अनुरोध-पूर्वक कहा :—"रामप्रसाद, उर्दू-फारसी के ये गाने तो मैं दूसरों के मुख

से भी सुन लूँगा। तुम्हारे मुख से तो मैं तुम्हारे ही गीत सुनूँगा। तुम्हारी भाषा और तुम्हारे धर्म के लिए मैं गैर भले ही होऊँ, पर तुम्हारे लिये मैं अजनबी नहीं हूँ। अपनी श्यामा माँ के लिए तुमने अपनी मादरी जुबान में जो गीत रचे हैं, वे मुझे बहुत अच्छे लगे। बंगला भाषा की ठीक-ठीक जानकारी न होने के बावजूद, उसकी मिठास का मैं कायल हूँ। जुबान की दूरी के बावजूद, हमारे दिल, आपस में—एक-दूसरे के काफी करीब हो गये हैं। वे ही गीत सुनाओं, भाई !" नवाब की इस सहृदयता से रामप्रसाद सचमुच अभिभूत हो गये। उन्होंने नवाब को एक-एक कर अपने अनेक पद सुनाये।

इस घटना के कुछ ही वर्ष बाद पलानी का प्रसिद्ध युद्ध हुआ, जिसमें नवाब की सेना अंग्रेजी फौज के हाथों पराजित हुई और भीतरी भेदियों के विश्वासघात के कारण, युवक नवाब शिराजुद्दौला को, पूरे परिवार के साथ, क्रूरतापूर्वक मार डाला गया। इस घटना से रामप्रसाद का मर्माहत होना स्वाभाविक ही था।

नवाब-शिराजुद्दौला और मातृ-साधक रामप्रसाद के आत्मीय संबंध के बारे में पूर्व-बंग की लोक-प्रचलित अनुश्रुतियाँ केवल लोककथा के रूप में ही नहीं, लोकगीतों के रूप में भी, अर्से से संरक्षणीय बन चुकी हैं।

हालिशहर के जिस अंचल में श्यामा माँ के जन्मजात भक्त रामप्रसाद का घर था, गंगा की निर्मल गंभीर धारा उसे सदियों से धोती—सींचती आई हैं। उस समय अगणित परिचित-अपरिचित वृक्षों के कुंज वहाँ आप ही उगते-बढ़ते रहते थे। रामप्रसाद के घर के अहाते में भी, वैसे ही कुंजों में से एक कुंज, रख-रखाव के अभाव में, निरा जंगल बन गया था। फिर तो रामप्रसाद का पंचवटी-वृक्ष भी उस अरण्य-खण्ड के ही बीच आप ही खड़ा हो गया। उसी के नीचे था उनका पंचमुंडी आसन, जिस पर बैठकर, मध्यरात्रि के निविड़ एकान्त में, वे नित्य प्रति तान्त्रिक साधनाओं और यौगिक क्रियाओं में घंटों निमग्न रहा करते। उनकी कौल साधना और तन्त्रोक्त वीराचार की अनगिनत कथाएँ, उस अंचल के जन-साधारण में अद्यपर्य्यन्त प्रचलित हैं। जन्मजात भक्त रामप्रसाद, भावुक गीतकार और भुवन मोहन गायक के रूप में विश्रुत हो चुकने के बाद, अपने कुल की तान्त्रिक परंपरा की ओर किस तरह आकृष्ट हुए, इसकी अपनी अलग कहानी है।

कहते हैं कि रामप्रसाद दिन भर जिस जगन्माता के लीला-रस में विभोर रहकर अपने भुवन-मोहन गान गाते-गुनगुनाते रहते, उसी पुत्र-वत्सला श्यामा ने, उन्हें, मध्य-रात्रि के समय, उसी पंचवटी कुंज में, साक्षात् दर्शन दिया था। माँ

की उस अहैतुकी कृपा के समुद्र में, फिर तो वे इस तरह ऊभ-चूभ होते रहे कि दिन-रात और जागृति-सुषुप्ति में कोई भेद ही नहीं रहा। निर्विकल्प ध्यान की उस प्रगाढ़ रस-दशा ने उन्हें उस झंझा-वृष्टि का भी भान तक नहीं होने दिया, जो हालिशहर के पूरे अंचल को जल में डुबा कर चली गई थी। उस झंझा में स्वयं रामप्रसाद के घर का छप्पर उड़ गया और पास-पड़ोस के बड़े पुराने वृक्ष उखड़ कर गिर पड़े!

गंभीर ध्यान के व्यतीत हो जाने पर रामप्रसाद को आँधी-पानी के उस उत्पात का पता जब चला तब, वे छप्पर बाँधने के काम में स्वयं पिल पड़े। धारासार वृष्टिपात के परिणाम-स्वरूप बाढ़ की विभीषिका ने पूरे इलाके को डुबो दिया था। ऐसी परिस्थिति में छप्पर बाँधनेवाले मजदूर को ढूँढ़ पाना असंभव हो गया था। मगर छप्पर के बिना, घर में रहना भी तो संभव नहीं था। सो, वे स्वयं टूटे छप्पर पर टूट पड़े।

रामप्रसाद की कनिष्ठा कन्या जगदीश्वरी छप्पर बाँधने के काम में पिता की सहायता कर रही थी। छप्पर के नीचे से वह बत्ती को रस्सी में फँसा दिया करती और छप्पर के ऊपर से रामप्रसाद बन्धन कसते जाते। छप्पर बाँधते-बाँधते रामप्रसाद श्यामा माँ के भजन भी गाते-गुनगुनाते रहे—

"मायेर उदर ब्रह्माण्ड-भाण्ड
प्रकाण्ड ता जानो केमन!.... ...."

"यह ब्रह्माण्ड-भाण्ड भी माँ की ही कोख की सन्तान है ना? इस प्रकाण्ड रहस्य को कोई कैसे जान सकता है? काली के मर्म को जिस तरह महाकाल जानते हैं, उस तरह, दूसरा कोई नहीं जान सकता। रामप्रसाद की चेष्टा पर लोगों को हँसी आये, यह भी उचित ही है। भला, समुद्र को कोई तैरकर पार कर सकता है? मगर मेरे प्राणों को उस रहस्य का पता अवश्य है। भले ही मन के वश की बात नहीं है, माँ को समझना-समझाना। भले ही ऐसा कहना भी हास्यास्पद ही मान लिया जाय। बौना फाँद-फाँद कर मर जाय, तब भी, चाँद को वह छूलेगा, ऐसा विश्वास कौन करेगा?"

मगर पुत्र को माता ने इस तरह हास्यास्पद और निरुपाय बनाकर क्यों रख छोड़ा है? इस प्रश्न के उपस्थित होते ही, रामप्रसाद कोई दूसरा भजन गुनगुनाने लग जाते—

"अभय चरण सब लुटाले
किछु राखलेना मा तनय बले।................"

"माँ ने अपने चरणों में जिसे भी जगह दी, वही अभय हो गया। सब कुछ

लुठा चुकी हैं माँ। अब इस बेटे के नाम पर, उनके पास, कुछ भी नहीं बचा है। माँ के भंडार की चाभी जिनके पास है, वे शिव स्वयं भी तो माँ के चरणों के ही शरणागत होकर अभय हुए! बेचारे भांग खाते हैं और निश्चिन्त होकर श्यामा माँ के चरणों के तले सोये रहते हैं। एक बेल-पत्र मिल जाय, तो वही पर्य्याप्त हो जाता है, उनके लिए। किन्तु वही श्यामा, मेरी माँ होकर भी, मुझे यह क्या दे रही हैं? जन्म-जन्म का दुःख ही तो। रामप्रसाद अपनी ऐसी माँ को क्या कह कर पुकारे?—'डाकबो सर्वनाशी बले?'

अपनी माँ की कृपा पर भरोसा करनेवाले रामप्रसाद बाबा भूतनाथ महेश्वर तक की परवाह नहीं करते। वे उन्हें भी अपने गीतों से डराते-धमकाते कह बैठते हैं—

"इस बार मैं तुमसे भी निपट लूँगा हे शिव! आखिर, तुम दिन-रात मेरी श्यामा माँ के दोनों चरण थामे रहकर ही तो बड़प्पन का दिखावा करते हो? मगर तुम्हारी भूल की यह पोल मैं खोल कर रहूँगा और मेरे प्रति तुमने जो बेरुखी दिखाई है, उसकी कहानी सब को बता दूंगा। हे भोलेनाथ, यदि भला चाहते हो, तो राम प्रसाद की श्यामा माँ के दोनों चरण, चूँ-चपड़ किये बिना, रामप्रसाद को सौंप दो। जहाँ कायदे की बात हों, वहाँ जोर-जबर्दश्ती की दखलदिहानी नहीं चल सकती, इसीलिए—

"भोला आपन भाल् चाय यदि से,
चरण छेड़े दिक आमारे।"

टूटे घर का छप्पर बाँधते-बाँधते रामप्रसाद जगन्माता श्यामा के साथ-साथ जगत्पिता महेश्वर को भी यदि अपनी निमग्नता के भावगीतों में कोस रहे हैं, तो उस का कारण क्या है? यही ना, कि माँ ने उन्हें प्रगाढ़ ध्यान के किसी सौभाग्य पूर्ण क्षण में, कृपापूर्वक दर्शन दे दिया था? पर, क्या माँ का वह दर्शन सचमुच उनके वश की बात है?

"के जाने रे काली केमन?
षड्दर्शन ना पाय दरशन!"

देखते-देखते पूरा छप्पर बँध भी गया और घर पर चढ़ भी गया। यह सब-कुछ रामप्रसाद के अकेले वश की बात नहीं। जगदीश्वरी ने मदद न की होती, तो इतनी आसानी से वह काम पूरा न होता। मगर काम पूरा हो चुकने के बाद, जब रामप्रसाद को दम मारने की फुर्सत मिली, तो पता चला कि जगदीश्वरी तो पड़ोस की सहेलियों के साथ खेलने में निमग्न है! कितनी फुर्तीली है रामप्रसाद की यह छोटी-सी बिटिया? मौका पाते ही छू-मन्तर हो जाती

है ! अभी–अभी तो छप्पर बाँधने में बाप का हाथ बँटा रही थीं, और अब खेल खेलने में सहेलियों का साथ देने जा पहुँची ! यह सब इतनी फुर्ती से हुआ कि खुद रामप्रसाद को भी पता नहीं !

मगर दो ही घड़ी बाद जगदीश्वरी घर वापस लौटी, तो सहेलियों की एक छोटी-सी टोली साथ लेकर। आते ही भौंचक होकर पूछ बैठी—

"बाबा, तुमने यह छप्पर अकेले ही बाँधकर घर पर चढ़ा दिया ? यह तो भीमसेन और धरम ठाकुर मिलकर भी नहीं कर पाते।"

रामप्रसाद अपनी बेटी की अनखाई चतुराई को काटते हुए बोले—"तुमने मदद न की होती तो छप्पर चढ़ना तो दूर रहे, उसका बँधना भी आज पूरा नहीं हो पाता।'

जगदीश्वरी आश्चर्य से हाँफती हुई बोली—"यह क्या कह रहे हो बाबा, मैं तो पहले सुबह हरसिंगार चुनने गई थी, सो अभी आ रही हूं। छप्पर बाँधने में तुम्हारी मदद मैं करती भी, तो भला कैसे ?"

पुत्री के कथन पर अविश्वास करने में रामप्रसाद को सचमुच कठिनाई होने लगी। मगर अपनी आँखों पर वह कैसे अविश्वास करें ? क्या जगदीश्वरी का रूप धारण करके स्वयं जगन्माता श्यामा ही अपने बेटे के घर पर छप्पर चढ़ाने चली आई थीं ?

इस प्रश्न का कोई उत्तर रामप्रसाद के लिए कभी संभव नहीं हुआ। किंतु अंचल के श्रद्धालु जन-समाज को जगन्माता के कृपामय वात्सल्य का एक जीवित प्रमाण मिल गया। उसे यह मानने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि रामप्रसाद के घर पर छप्पर चढ़ाने के लिए काली ही. उनकी पुत्री जगदीश्वरी बनकर आ गई थीं !

रामप्रसाद के एक लोक-प्रचलित गान की कुछ पंक्तियाँ उसी घटना की सजल कृतज्ञता से गीली हों, तो आश्चर्य नहीं। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"मन केन मायेर चरण छाड़ा ?
ओ मन भावे शक्ति, पावे महामुक्ति,
बाँध दिये भक्ति-दड़ा।
नयन थाकते देखले ना मन
केमन तोमार कपाल पोड़ा ?
माँ भक्ते छलिते, तनया-रूपेते
बेंधे गेलेन घरेर बेड़ा !"

पता नहीं दिमाग में क्या भर गया था कि आँख रहते, माँ को पहचान नहीं पाये रामप्रसाद ! अन्यथा वे माँ के पाँव छोड़ देते ? भक्त के साथ छल

किया माँ ने। वह बेटी बनकर बेटे के घर का छप्पर बाँध गई।

पर उस दिन तो रामप्रसाद गंगा में स्नान करने जा रहे थे, जिस दिन उनके आंगन में एक अपरिचिता नारी सुपरिचित की तरह अचानक आविर्भूत हुई थीं। नारी का श्याम वर्ण उसके अनुत्तर अंग-सौष्ठव और रूप-श्री को किसी तरह छिपा नहीं पा रहा था। उसकी आत्मीयता ने रामप्रसाद को क्षण मात्र में अभिभूत कर लिया। बड़े विश्रब्ध अधिकार के साथ, उसके वीण-विनिन्दक स्वर ने अनुरोध किया—

"महाशय, आपके श्यामा—संगीत की बड़ी प्रशंसा सुनी है मैंने। सब कहते हैं कि आपके कण्ठ के स्वर में अमृत का माधुर्य है। वही चखने, मैं बिनबुलाये ही नैहर चली आई। आज ही लौट जाना है। मगर आपके स्वर में आपके गीत सुने बिना, अभी मैं उठूँगी नहीं। सो, सुना ही दीजिए, ना !"

रामप्रसाद को यह समझते देर नहीं लगी कि टोल-पड़ोस की यह भद्र महिला अपरिचिता या अजनबी नहीं हो सकतीं। बहुत दिनों बाद नैहर आई हैं, सो जाने-पहचाने परिजनों की खोज में यहाँ भी चली आई हैं। संभवतः पीसी-माँ की सहेली रही होंगी।

मगर रामप्रसाद के गंगा-स्नान की बेला जो टली जा रही है। गीत सुनाने बैठ जायँगे, तो पता नहीं घंटों बीत जायँ। ऐसे में बहुत देर हो जायगी और श्यामा माँ के विग्रह को समय पर नैवेद्य अर्पित करना असंभव हो जायगा। ऐसा ही सोच-समझकर वे बोले—

"पीसी माँ, आप घड़ी भर के लिए फुर्सत दें। गंगा में एक डूब लगाकर मैं तुरत लौट आऊँगा। माँ को नैवेद्य चढा-देने के बाद, कोई काम नहीं रह जाता मुझे। फिर, आप जब तक चाहें, मैं गाता-गुनगुनाता रहूँगा।"

आगन्तुका असमंजस में पड़ गई। पर उन्होंने रामप्रसाद के निवेदन को मानो मौन सहमति दे-दी थी।

मगर रामप्रसाद गंगा-स्नान से लौटकर आये, तो वे जा चुकी थीं !

रामप्रसाद उनकी तलाश, में कई दिनों तक पूरे अंचल की खाक छानते रहे। पर कोई संधान नहीं मिला। पास-पड़ोस के किसी दूसरे व्यक्ति ने उन्हें न तो आते देखा था, न जाते ही देखा था। क्या वह केवल रामप्रसाद का गीत सुनने के लिए, केवल रामप्रसाद के ही समक्ष, प्रकट हुई थीं? उन्हें देख पाना और किसी के सौभाग्य में नहीं था !

लोगों की धारणा है कि वह पीसी-माँ कोई और नहीं, शायद स्वयं श्यामा माँ ही थीं, जिनके लिए रामप्रसाद आजीवन गीत लिखते रहे। पर जिन्हें वे अपने मुख से आप गाकर, उस दिन, अपने गीत सुना नहीं सके।

गंगा-स्नान के पश्चात् राम प्रसाद ने श्यामा माँ के विग्रह की पूजा की, नैवेद्य अर्पित किया और ध्यान-मग्न होकर बैठ गये। उनके मनश्चक्षु के समक्ष सहसा वही पूर्व-दृश्ट नारी-मूर्त्ति उपस्थित हुई। चारों ओर अद्‌भुत अमृत-ज्योति उद्‌भासित हो उठी, उस नारी-मूर्त्ति से प्रस्फुटित होकर, जिस तरह पूर्णिमा के चन्द विम्ब से चन्द्रिका प्रस्फुटित होती है। इसबार राम प्रसाद को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई। हृदय में बैठे हुए आप्स पुरुष ने कहा— "यही माँ की अन्नपूर्णा छवि है।"

माँ ने अनुयोग के स्वर में कहा—"बेटे राम प्रसाद, तुम्हारे गीत के लोभ से ही मैं काशी छोड़कर बंगाल के इस सुदूर अंचल में आई थी। इच्छा थी कि तुम्हारे गीत तुम्हारे मुख से जरा मैं भी कान खोलकर एकबार सुन लूँ। मगर तुमने सुनने नहीं दिया। गंगा-स्नान की जल्दी थी तुम्हें। बड़े कृपण हो बेटे, तुम। अपनी माँ को जानने-पहचानने की भी छुट्‌ठी नहीं रहती?"

यह कैसी लीला की छलनामयी जगद्‌धात्री ने? रामप्रसाद की दोनों आँखों से आँसू की धारा अविरल बही जा रही है। उठे, तो पाँव पैदल ही काशी की ओर दौड़ पड़े। माता अन्नपूर्णा को अपने गीत सुनाये विना, अब उन्हें चैन मिले, तो कैसे?

त्रिवेणी घाट पर पहुँचने के बाद थके बटोही को विश्राम की आवश्यकता ने अवश कर दिया। स्वप्न में माँ की वही अनुयोग पूर्ण अमृतमय वाणी सुनाई पड़ी—

"बेटे, दूर काशी की यात्रा ठान कर अपने को श्रान्त-क्लान्त क्यों कर रहे हो? तुम्हारा यह भूखा-सूखा मुख देखकर मुझ पर क्या गुजर रहा होगा, जरा इसपर भी तो विचार कर लेते। मेरा हृदय तो माता का हृदय है ना? बेटे, जरा इसका भी ख्याल रखा करो। क्या मैं केवल काशी में ही बैठी रहती हूँ? सारी सृष्टि में मेरी विद्यमानता का पता क्या तुम्हें भी नहीं मिलता? काशी जाने की जरूरत नहीं। इस त्रिवेणी घाट पर बैठकर ही मुझे अपने गीत सुना दो और वापस घर लौट चलो।"

पता नहीं, पूर्व-बंग की उस संगम-भूमि को, जहाँ गंगा में दो छोटी-छोटी नदियाँ मिलती हैं, त्रिवेणी घाट के नाम से, बंगाल के निवासी क्यों पुकारते हैं, जब कि प्रयाग की त्रिवेणी वहाँ से सैकड़ो योजन दूर है। सो, पूर्व-बंग के उसी त्रिवेणी-घाट पर साधक रामप्रसाद धुनी रमाकर बैठ गये और जगन्माता अन्नपूर्णा को अपना एक-एक गीत गा-गा-कर सुनाते रहे। फिर एक दिन उसी जगन्माता का आदेश पाकर, वे चुपचाप घर वापस चले आये। काशी की उनकी

वह यात्रा स्वयं जगन्माता ने, बीच में सड़कर, खारिज कर दी थी—यह बात वे स्वयं अपने एक गीत के माध्यम से बता गये हैं—

'आर काज कि आमार काशी ?
मायेर पदतले पड़े आछे
गया, गंगा वाराणसी।
हृत्कमले ध्यान-काले
आनन्द-सागर भासि,
ओरे कालीपद—कोकनद
तीर्थ राशि-राशि।"

राम प्रसाद कहते है—"मेरा अब काशी से क्या वास्ता ? माँ के चरणों के नीचे है, गया, गंगा और वाराणसी। ध्यान के काल में आनन्द-सागर जब उफन उठता है, तो हृदय-कमल के रूप में किसकी छवि का संकेत मिलता है, तुम्हें ? माँ काली के चरण-कमल का ही तो ? माँ के उन्हीं कोकंनद-चरणों में राशि-राशि तीर्थों की भीड़ लगी रहती हैं। ऐसी स्थिति में काशी क्यों जाऊँ मैं ?"

कहते हैं कि रामप्रसाद की जन्मदात्री जननी सर्वेश्वरी देवी का निधन उपयुक्त धटना के कुछ ही मास बाद घटित हुआ था। उनकी मृत्यु के बाद राम प्रसाद ने परिवार और संसार के सारे संबंधी और त्रंधनों को, एक-एक कर तोड़ना आरंभ कर दिया।। उनके पुत्र राम दुलाल को जब इस तथ्य का पता चल गया कि पिता जी अब इस जगत् से कोई नाता–रिश्ता नहीं रखनेवाले हैं, तो उन्होंने घर की जिम्मेदारी अपने सिर पर उठाली और राम प्रसाद को सांसारिक चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त कर दिया।

वैराग्य की तीव्रता राम प्रसाद को वीराचारी तान्त्रिक साधना के शिखर पर प्रतिष्ठित कर चुकी है। वे उग्र तपस्या में दिन-रात लीन रहकर, सीमाहीन मुक्ति-लोक के विहंग की दशा में आ गये हैं। मन-प्राण की एक ही अधीर आकांक्षा रह गई है, चिन्मयी जगदम्वा में मिलकर एक हो जाने की। आ रही है वार-वार तामसी अमावास्या, जिसकी गंभीर निःस्तब्धता में वे पंचमुण्डी पर सिद्धासन लगाकर, जप-ध्यान में निरत रहकर, देश-काल के अस्तित्व को भूल जाया करते हैं। उनकी एकान्त साधना के एकान्त साक्षी हैं, केवल गंगा-तट के कुंज-वृक्ष और अरण्य-चारी जीव जन्तु। मानव-प्राणी की तो वहाँ दिन में भी झाँकने का साहस नहीं होता। हाँ, एक दिन उस अरण्य-खण्ड में जब रामप्रसाद का निश्चेष्ट शरीर दन्डवत् की मुद्रा में पाया गया, तो सहस्र-सहस्र नर-नारियों

की भीड़ उमड़ आई थी। कहते हैं कि जगन्माता का आलोकमय दर्शन पाकर ही राम प्रसाद उस दिन शववत् निश्चेष्ट हो गये थे। जब बोधातीत समाधि की उस अवस्था को पार कर वे होश में लौटे, तो पूर्व–जीवन से उनका रहा-सहा संबंध भी एकबारगी विच्छिन्न हो गया। पर मातृ-कृपा के उस शक्तिपात के बावजूद गान-भजन की रचना और गायन को, उन्होंने जारी रखा।

लेकिन नवद्वीप के विद्वद्वल्लभ कला-रसिक और उदार आश्रयदाता महाराज कृष्णचंद्र पंच–मुण्डी अरण्याश्रम में जब अपने प्रियजन रामप्रसाद से मिलने आ जाते, तों राम प्रसाद उन्हें अपने गीत गा-गाकर अब भी घंटों सुनाते रहते। वैसे अवसर पर श्रद्धालुओं की भीड़ को रोकना संभव नहीं हो पाता और राम प्रसाद की एकान्त साधना का स्थल उत्सव से घिर जाया करता था।

महाप्रभु चैतन्य की लीलाभूमि होने के कारण केवल नवद्वीप अंचल में ही नहीं भारत के संपूर्ण पूर्वोत्तर भूभाग में वैष्णव-धर्भ को नई प्रतिष्ठा और दीप्ति प्राप्त हो गई थी और मिथिला, बंगाल और आसाम की शक्ति-शैव-साधना के तन्त्रवाद की महिमा पर आँच आई थी। हालिशकर के पास-पड़ोस में भी, उसी क्रम में, वैष्णवों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। राल प्रसाद की प्रसिद्धि से उस स्थिति का परिवर्त्तित होना अवश्यंभावी हो गया था। यही कारण है कि उस अंचल के वैष्णव-समाज को राम प्रसाद के प्रति ईर्ष्या, संदेह और अवज्ञा का भाव अपना लेना पढ़ा हो।

महाराज कृष्ण चंद्र जब कभी राम प्रसाद से लिलने आते, तो उनकी अभ्यर्थना में वैष्णव-समाज के प्रतिनिधिगण भी अवश्य उपस्थित होते। आज गोसाईं' के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव कवि भी उन्हीं में से एक थे। उनकी परिहास रसिकता प्रसिद्ध थी। पैरोडी या विद्रूप-काव्य लिखने की दक्षता के कारण भी वे उस अंचल में विश्रुत थे। किन्तु शाक्त राम प्रसाद और वैष्णव आजू गोसाई में गाढ़ी मैत्र थी, द्वैष-भाव नहीं। फिर भी अवसर मिलने पर आजू गोसाई अपने मित्र की पंक्तियों को भी अपनी पैरोडी कला का लक्ष्य बना कर ही छोड़ते। पैरोडी की वे पंक्तियाँ भी, बंगाल में उस समय उतनीं ही प्रसिद्ध हो गई थीं, जितनी कि राम प्रसाद की मूल कविता की पंक्तियाँ

राम प्रसाद के एक गीत में निम्नलिखित पंक्तियाँ थीं—

"डूब दे रे मन काली बले
हृदिरत्नाकरेर अगाध जले।
रत्नाकार शून्थ नय कखन
दू'चार जूबे धन ना पेले।
तुमि दम सामर्थ्ये ए डूबे जाओ

कुल कुण्डलिनीर कूले ।"

आजू गोसाईं ने इन पंक्तियों के विडम्बन में एक पैरोडी तुरत रच डाली-

"डूबिस् ने मन घड़ि-घड़ि
दम आटके जाबे ताड़ातड़ि ।
एके तोमार कफेर नाड़ी
डूब दियो ना बाड़ा-बाड़ी
हले परे ज्वरा-ज्वारि मन,
येते हवे यमेर बाड़ि ।"

जिस वीराचार की तान्त्रिक साधना के सहारे, बारह वर्षों की कठोर तपश्चर्या के पश्चात् राम प्रसाद सिद्धाचार की दिव्य भूमि पर प्रतिष्ठित हुए थे, उसकी दीक्षा उन्होंने एक शक्तिमान् महापुरुष से प्राप्त की थी। 'आगमवागीश' के नाम से अभिज्ञात, उस महापुरुष का ठीक-ठीक पता अब तक किसी को नहीं मिल सका है। कुछ जानकारों का कहना है कि वे कोई अन्य व्यक्ति नहीं, १६ वीं सदी खिस्ताब्द के प्रसिद्ध तान्त्रिक सिद्ध कृष्णानंद आगमवागीश' स्वयम् ही रहे होंगे और राम प्रसाद को दीक्षा देने के हेतु, उन्हें जगन्माता के आदेश से दिव्य देह धारण कर, धरती पर फिर से उतरना पड़ा होगा। किंतु अधिसंख्यक मर्मज्ञों की धारणा इससे किंचित् भिन्न है। उनका मानना है कि वे उक्त महापुरुष की शिष्य-परंपरा में परिगणित किये जानेवाले कोई अन्य शक्तिधर पुरुष थे और उनके डेढ-दो सौ वर्ष बाद पैदा हुए थे। ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि उनपर कुलगुरु श्री कृष्णानंद आगमवागीश की विशेष कृपा थी और उनको माध्यम बनाकर उन्होंने जगन्माता का विशेष आदेश पाकर राम प्रसाद पर भी कृपापूर्वक शक्तिपात किया-कराया हो।

कौला-साधना के क्रम में राम प्रसाद को एक अन्य महापुरुष से गुरु कृपा की अपेक्षा हुई थी। उन्होंने ही राम प्रसाद को 'इच्छापुर' और 'श्यामनगर' के बीच वाले विशाल श्मशान में ले जाकर शव-साधना की निगूढ क्रियायों का रहस्य बताया था। किन्तु उक्त महापुरुष का ठीक-ठीक परिचय अब तक अज्ञान ही है। इतना ही पता है कि वे श्यामनगर के गंगा-पथ पर राम प्रसाद के समक्ष हठात् प्रकट हुए थे और उन्हें, वहीं से, अपने साथ साधना-भूमि के निमित्त उठा ले गये थे।

इस साधना के पश्चात् रामप्रसाद की और कुछ करना शेष नहीं रहा। अब माँ का दर्शन तो क्या, उनका नित्य सान्निध्य भी उन्हें सहज ही प्राप्त था। गायक रामप्रसाद को इसके बाद मुँह खोलते किसी ने नहीं देखा। वे एकवारगी मौन हो गये। जगन्माता के हठी, वाचाल पुत्र को संभवतः जीते-जी ही वह

रसमय शान्ति प्राप्त हो गई, जिसे पा लेने पर कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। उसे प्राप्त कर लेने पर भाषा चुक जाती है। इसीलिए अन्तत: गायक रामप्रसाद को भी मौन हो जाना ही रुचिकर लगा।

किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, कि रामप्रसाद ने गा कर जगन्माता से जो कुछ पाया, उसे मौन रहकर: भी वे जगत् आर्त्तों, जिज्ञासुओं के बीच अकृपण भाव से निरन्तर वितीर्ण करते रहे। ऐसे दान का लेखा-जोखा कभी संभव नहीं होता। मगर यह सच है कि जीवन के जिन अन्तिम वर्षों को उन्होंने मौन भाव से व्यतीत किया, वे अनुपम थे। दृष्टिपात मात्र से उन्होंने, उस अवधि में असंख्य मानव-प्राणियों को कल्याण के पथ पर अग्रसर किया। सांसारिक शोक-मोह और आधि-व्याधि से तृप्त नर-नारियों के साथ-साथ उच्च कोटि के आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को भी, उनके विभूतिमय ऐश्वर्य ने कृतार्थ किया था, मुख्यत: उसी अवधि में।

रामप्रसाद की योग-विभूतियों के संबंध में एक-से-एक अद्‌भुत अनुश्रुतियाँ बंगाल के जन-समाज में अद्यपर्य्यन्त प्रचलित हैं। कहा जाता है कि एकबार महाष्टमी के निशा-पूजा के लिए रखे गये ओड़हुल के फूल, भूल से, दिन में ही निवेदित कर दिये गये। पूजा के आशन पर बैठने से पहले रामप्रसाद को इस बात की याद हो आई। नवरात्रा की उस अवधि में दिन में ही सारे फूल चुन लिए जाते थे। इसलिए, रात में ओड़हुल का फूल पाना असंभव था। निरुपायता की इस स्थिति में रामप्रसाद ने हाथ में दीप लेकर एक-एक वृक्ष को खोजने-टटोलने की कोशिश की। उन्हें आश्चर्य तब हुआ, जब उन्होंने देखा कि पंचमुण्डा-आसन से थोड़ी ही दूर आगे हट कर गाब वृक्ष की जो डालियाँ फैली थीं, उनमें ओड़हुल के सद्य: प्रस्फुटित पुष्पों के अनेक गुच्छे लग आये हैं। रात में ओड़हुल के ताजे खिले फूल यों भी दुर्लभ थे, सो भी उस वृक्ष की डालियों में, जिसका ओड़हुल के ताजे लाल फूलों से ओई दूर का भी नाता संभव नहीं!

एक ऐसी ही दूसरी जन कथा और भी अद्‌भुत है। आकाश में छाये काले बादलों पर निगाह न पड़ने के कारण, उस दिन रामप्रसाद खुले आसमान के नीचे बैठे-बैठे ही गंभीर ध्यान में निमग्न हो गये। उन्हें वैसी स्थिति में रात-दिन का भी भान नहीं रह जाता था। इसका पता परिवार के जिन सदस्यों को था, वे स्वभावत: चिन्तित हो उठे। इसके बाद पूरे अंचल में भयंकर आँधी घंटों बहती रही और बड़े-बड़े छाया तरु जड़ से उखड़ कर धड़ाधड़ गिरते रहे। साथ-ही-साथ मुशलासार वृष्टि ने बाढ़ का-सा भयंकर दृश्य उपस्थापित कर दिया। किन्तु इस प्राकृतिक प्रकोप का कोई प्रभाव रामप्रसाद पर नहीं पड़ा। दूसरे दिन लोगों को पता चला कि झंझा-वृष्टि की जिस विभीषिका ने इलाके

भर में त्राहि-त्राहि मचा दी थी, उसका कोई चिन्ह रामप्रसाद के निवास के पूरे अहाते में कभी दृष्टिगोचर ही नहीं हुआ। वहाँ न तो वर्षा की एक भी बूँद गिरी थी, न ही आँधी के झकोरे में एक भी पत्ता हिला था।

शक्ति-साधना की सिद्धि के एक-एक कर अनेक स्तरों को भेदते हुए अन्ततः रामप्रसाद लोक गुरु की उस भूमिका पर कब पहुँचे, जहाँ भेद बुद्धि स्वतः क्षरित हो जाती है, इसका पता उनके उत्तरकालीन गीतों की पक्तियों में अब भी ढूँढा जा सकता है। ऐसे गीत भी अनेक हैं। पर उनमें एक का अवलोकन भी जिज्ञासुओं के लिए यथेष्ट हो सकता है—

वैसे ही एक गीत की कुछ पंक्तियों में उन्होंने उस 'सर्वधर्म-सम-भाव' का भी आभास दे दिया था, जो बाद में, परमहंस श्री रामकृष्ण देव की आध्यात्मिक साधना में उदाहृत होकर स्वामी विवेकानंद, महात्मा गाँधी और ब्रह्मर्षि विनोबा भावे के द्वारा व्याख्यायित होता रहा। रामप्रसाद कहते हैं—

"मन क' रो ना द्वेंषाद्वँगि, यदि ह'बिरे वैकुंठवासी
आमि वेदागम पुराण करिलाम कत खोंज तालाशी
एइ जे काली, कृष्ण, शिव, रूपे बाजाओ बाँसी
ओं मा, राम रूपे धरो धनु, काली रूते करे असि।"

रामप्रसाद कहते हैं कि परस्पर द्वेष करते हुए साँप्रदायिक मताप्तरों के जरिये पंथ चलाते रहना, मुक्ति का प्रकृत मार्ग नहीं हो सकता। वेदों, आगभों, पुराणों के अध्ययन-अनुसंधान के पश्चात् यह तथ्य स्पष्ट हो जाता हैं कि राम प्रसाद की मुक्त केशिनी जगन्माता ही अनेक रूपों में प्रकट हो रही हैं। काली, कृष्ण, शिव, राम सरीखे सारे नाम उसी के हैं। वही शिव बनकर शृंगीनाद करती हैं और कृष्ण होकर बाँसुरी बजाती हैं। राम के रूप में धनुष उठाना और काली के रूप में हाथ में तलवार धारण किये रखना भी उन्हीं का काम है। ऐसी स्थिति में धर्म का नाम लेकर ईर्ष्या-द्वेष करना क्या निरर्थक नहीं है ?

सर्व-धर्म-सम-भाव का यही आभास उनके अन्य गीतों में मिलता है। यथा—

'जानो ना रे मन परम कारण, काली केवल मेये नय।'

अथवा

'काली ह'लि मा रासबिहारी, नटबर वेषे, वृन्दावने।'

सर्व-धर्म-सम-भाव की इस दृष्टि के साथ भक्तिमार्ग का प्राचीन संबंध सदा अव्याहत रहा है। अतः तत्त्व बोध के परम लोक में अधिष्ठित होकर भी रामप्रसाद भक्ति की ही महिमा का बखान करते रहे—

"ओ रे, सकलेर मूल भक्ति,

मुक्ति हय मन तार दासी।
निर्वाणे कि आछे फल,
जले ते मिशाय जल।
ओ रे, चिनि ह'वा भालो नय,
मन चिनि खेते भालो बासी।

अर्थात् मूल बात तो 'भक्ति' ही है, 'मुक्ति' उस भक्ति की ही दासी है। निर्वाण में क्या रखा है ? जल में जल मिल गयी, तो 'और' क्या हो गया ? खुद चीनी हो जाने से चीनी का स्वाद नही मिलता। रामप्रसाद चीनी होना नहीं चाहते, चीनी खाना चाहते हैं। चीनी से उन्हें प्रेम जो है।

परमहंस रामकृष्ण देव चीनी के इस रूपक को रामप्रसाद की ही तरह, भक्ति के प्रसंग में, वारंवार दुहराते रहे। 'रामकृष्ण बचनामृत के पाठकों को इस तथ्य का पता है।

रामप्रसाद भक्ति का पक्ष लेकर निर्वाण-वादियों से पूछते हैं—

"प्रसाद बले, भक्ते आशा पुराइते अधिक वासना
साकारे सायुज्य ह'बे, निर्वाणे कि गुण, बलोना।"

भक्ति की यही ललकार उन्होंने संकीर्ण तत्त्ववादियों के प्रति भी निवेदित की है :

"मन कि करो तत्त्व तारे, ओ रे उन्मत आँधार घरे
से ये भावेर विषय, भाव व्यतोंत,
अभावे की धरते पारे ?"

किन्तु इसके बावजूद यह तो स्पष्ट ही है कि राम प्रसाद की आराधना एकनिष्ठ थी। उनकी आराध्या थीं, एक मात्र जगज्जननी श्यामा माँ, जिनके चरणो के तले शिव को भी शवासन में रहना पड़ा था। महिष मर्द्दिदी महेश्वरी को ही वे सभी तत्त्वों के ऊपर अधिष्ठापित कर स्पष्ट घोषणा करते हैं—

"ओ रे तत्त्वमसि'र उपरे सेइ महेश-महिषी।' और इस महेश-महिषी का सतत सान्निध्य उन्हें उतर जीवन में सहज-सुलभ हो चुका था, यह भी वे स्वयं बता गये हैं—

"आमार अन्तरे आन्तरे आनंदमयी सदा करिते छेन केलि,
आमि ये भावे से भाव थाकि नाम टि कभु नाहि भूलि।"

हाँ, रामप्रसाद श्यामा माँ के नाम का निरंतर जप करते रहते हैं। यह काम वे नहीं भूलते। शेष सारे काम माँ स्वयं कर देती है, उनकी ओर से। वे चाहे जब जिस भाव में रहे, किन्तु उनके हृदय में आनंदमयी जननी की नित्य-लीला के नये-नये खेल निरन्तर चलते हैं।

रामप्रसाद की आध्यात्मिक साधना का आरंभ जिस समय हुआ था, उस

समय वे निराश्रित नव गृहस्थ के रूप में नौकरी की तलाश कर रहे थे और उनकी आध्यात्मिक भावना कविता और गान के माध्यम से, समय-असमय की चिन्ता किये विना, प्रकट हो जाया करती थी। किन्तु उसी समय उन्होंने माँ से एक माँग की थी—"आभाय दाओ माँ तबिलदारी।"

उत्तर जीवन में माँ ने उन्हें सच-मुच अपनी तहबीलदारी दे दी और यह भी सच है कि उस तहबिल को, वे भी, अवढर शंकर की ही तरह, दोनों हाथों लुटाते रहे। इस तरह महापुरुष के जीवन के पूरे अस्सी वर्ष व्यतीत हो गये।

लीला-संवरण की बेला अन्ततः आ चुकी है। हालिशहर का पंचमुण्डी–आसन जिस महापुरुष को पाकर बंगाल के प्रत्येक नर-नारी की आशा, आकांक्षा और श्रद्धा का केंद्र बन गया था, वह महापुरुष कई दिनों से सिद्धासन लगाकर, निर्जल-निराहार बैठे हैं। माँ अपने पुत्र को धरती से उठाकर अपने कंठ में आलिंगित करने के लिए धरती पर उतर आई हैं। उनके आगमन का पता वह अलौकिक ज्योति दे रही है, जो मौनी बाबा रामप्रसाद सेन—के शरीर को चारों ओर से घेर कर साधना के उस पूरे अरण्य-खण्ड को उद्‌भासित कर रही है।

तो क्या रामप्रसाद की वह आकांक्षा भी पूरी होकर रहेगी, जिसका निवेदन उन्होंने एक आरंभिक गीत में ही जाने-अजाने पर दिया था?

"प्राण यावार बेला एइ कोरो मा,
ब्रह्मरन्ध्र जाब येन फेटे!

हाँ वैसा भी होकर रहा। रामप्रसाद के देहावसान के पहले ब्रह्म रन्ध्र के फटने की आवाज ने उपस्थित नर-नारियों को एकबारगी कंपित कर दिया। माँ का वह कृपापात, वज्रपात की ही तरह, दिशाओं को कंपाकर अन्तर्धान हो गया। धरती का नक्षत्र आकाश की ओर विद्यु्तगति से उठा और उसकी नीलिमा को बेधता हुआ, ऊर्ध्वलोक में अदृश्य हो गया। किन्तु सिद्धानन में बैठे रामप्रसाद के मृत शरीर के चारों ओर ज्योतिर्वलय अब तक भी विद्यमान ही था। वार्धक्य-कृश स्वस्थ शरीर की उज्ज्वलता मृत्यु की तुच्छता पर हँस रही थी।

कुछ ही क्षणों में सहस्र-सहस्र नर-नारियों के समवेय कण्ट ने जयकार के साथ रामप्रसाद के देहावसान की सूचना गंगा-तट तक पहुँचा दी, जो हालिशहर के पास, निरंतर आजतक भी अविरल अश्रु-धारा की तरह निरंतर बहती जा रही है। महापुरुष के पार्थिव अवशेष को गंगासागर तक पहुँचाने का दायित्व जब उसे दिया गया होगा, तो क्या वह भी उसी तरह काँप उठा होगा, जिस तरह भारत के वे असंख्य श्रद्धालु नर-नारीगण, जो रामप्रसाद को परम-आश्रय मानकर सुखी और निश्चिन्त रहा करते थे?

नवभारत प्रकाशन

लहेरियासराय, दरभंगा

आवरण मुद्रण—सत्या प्रिंटर्स, नयाटोला पटना-४